समर्पण

मेरे स्वर्गीय पितृदेव

की

पुण्य स्मृति में
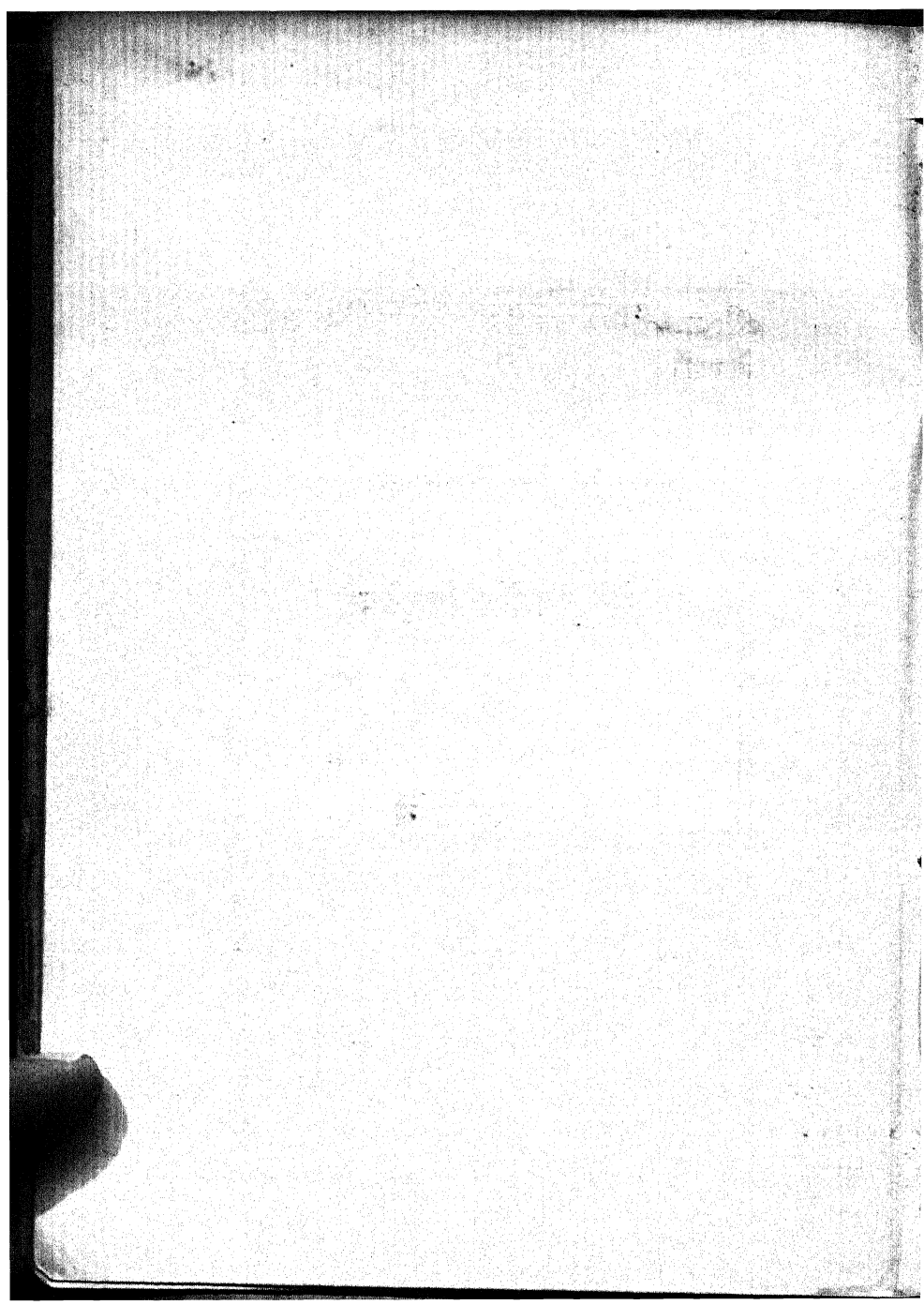
प्राक्कथन

प्रस्तुत पुस्तक का नाम 'आत्म-तंत्र दर्शन' है। इसका उद्देश्य यह बतलाना है कि वर्तमान दार्शनिक अराजकता दो मुख्य कारणों से उद्भूत है : (१) तत्त्वज्ञान का ज्ञानमीमांसा से तादात्म्य; और (२) तत्त्वज्ञान का कर्ममीमांसा से तादात्म्य। इस अराजकता को आधुनिक समय के प्राय: प्रत्येक अच्छे लेखक ने स्वीकार किया है। उदाहरणार्थ, स्व० प्रो० लुडविग स्टाईन ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक *Philosophical Currents of the Present-day* में तत्त्व-चिंता की वर्तमान अव्यवस्था के विषय में बहुत कुछ शिकायत की है। किन्तु अद्यावधि इस अराजकता का किसी ने योग्य निदान नहीं किया है। तत्त्वचिंता के इतिहास के मननपूर्वक अध्ययन द्वारा प्रस्तुत ग्रन्थ के लेखक को दृढ़ विश्वास हो गया है कि तत्त्वचिंता की वर्तमान अराजकता के उपर्युक्त दो कारण हैं।

मेरी पुस्तक के स्थूलरूप से दो खंड किये जा सकते हैं : (क) आलोचनात्मक, (ख) रचनात्मक। आलोचनात्मक खंड में, मैंने यह बतलाने की कोशिश की है कि उपर्युक्त दो कारणों से

आधुनिक तत्त्वचिंता में किस प्रकार अराजकता फैल गई है। रचनात्मक खंड में मैंने इस अव्यवस्था को दूर करने के लिये कोई उपाय ढूँढ़ निकालने का प्रयत्न किया है और मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि सत्ता की रूप-प्रणयन क्रिया द्वारा तत्त्वज्ञान को ज्ञानमीमांसा और कर्ममीमांसा इन दोनों तंत्रों से पृथक् कर देने से ही इस अव्यवस्था का अंत हो सकता है।

प्रस्तुत पुस्तक की दो मौलिक विशेषताएँ हैं। प्रथमतः, जहाँ तक मुझे ज्ञात है, अभी तक किसी भी दार्शनिक लेखक ने तत्त्व-चिंता की वर्तमान अराजकता का निदान मेरे द्वारा निदर्शित पद्धति से नहीं किया है। अधिकांश दार्शनिक लेखकों की प्रवृत्ति यही रही है कि वे उन तीन—तत्त्वज्ञान-विषयक, ज्ञानमीमांसा-विषयक और कर्ममीमांसा-विषयक दृष्टिकोणों को मानकर चलते थे जिनके द्वारा दार्शनिक समस्याओं का अध्ययन किया जा सकता है और इस बात की ज़रा भी चिंता नहीं करते थे कि इन तीनों दृष्टिकोणों के सन्निपात (overlapping) से कौन सी त्रुटियाँ उत्पन्न हो सकती हैं। पुनः कुछ दार्शनिक इन तीनों दृष्टिकोणों के भेद की ओर दुर्लक्ष्य करके उन्हें एक ही हर के अंश बना देना चाहते हैं। इससे सर्वथा एकांगी दार्शनिक प्रणालियों की सृष्टि हुई है जो कि या तो सत्ता-विषयक अथवा ज्ञानतंत्रात्मक अथवा कर्मतंत्रात्मक हैं।

दूसरे, मैंने तत्त्वचिंता की वर्तमान अव्यवस्था को दूर करने के लिये जिस उपाय की योजना की है उसे, मैं सोचता हूँ, अभी तक किसी भी चिंतक ने कहीं भी उपस्थित नहीं किया है। यह

उपाय है तत्त्वज्ञान को ज्ञान-मीमांसा और कर्ममीमांसा से पृथक् करके, ज्ञान और कर्म-विषयक रूपों को सत्ता की रूप-प्रणयन क्रिया से उद्भूत मानना। हेगेल ने परमतत्त्व को जो एक साथ ही आत्म-संतुष्ट और आत्म-संतुष्यमाण माना है उसके कारण हेगेलीय दर्शन में जो कठिनाइयाँ उत्पन्न हुई हैं वे तो सर्वविश्रुत हैं ही। वस्तुतः जोआचिम तो इन कठिनाइयों को दर्शन में आत्यंतिक बाधा-स्वरूप मानता है। तथापि यह आत्यंतिक बाधा उसी क्षण नष्ट हो जाती है जब कि हम यह समझ लेते हैं कि अपने आत्म-संतुष्ट रूप में परमतत्त्व स्वयं सत्ता है और अपने आत्म-संतुष्यमाण स्वरूप में वही तत्त्व ज्ञान और मूल्यों में अपने रूप का विन्यास करता है। वस्तुतः हेगेलीय दर्शन में इसी रूप-प्रणयन के तत्त्व का अभाव है। मैंने इसी तत्त्व को अपने दर्शन का मूलाधार बनाया है। इस तत्त्व के द्वारा ही मैं अपने दर्शन को ज्ञानतंत्र अथवा कमतंत्र होने से बचा सका हूँ और इन दोनों—अर्थात् ज्ञानतंत्रात्मक एवं कर्मतंत्रात्मक-दर्शनों से अपने दार्शनिक दृष्टिकोण को अलग रखने के हेतु उसका नाम मैंने आत्मतंत्र दर्शन रखा है।

मैंने अन्य लेखकों की कृतियों से निस्संकोच लाभ उठाया है, किन्तु जिन लेखकों की कृतियों से मैंने उद्धरण लिये हैं तथा जिन लेखकों के विचारों का मैंने उपयोग किया है उनका फुटनोट्स में निर्देश करने की मैंने यथासाध्य खबरदारी ली है। मुझे श्री० डाक्टर शिशिरकुमार मैत्र, एम० ए०, पी० एच-डी०, दर्शन विभाग के

अध्यापक तथा प्रधान, सेंट्रल हिन्दू कॉलेज, काशी हिन्दू-विश्व-विद्यालय से अत्यधिक सहायता मिली है। वस्तुतः, डाक्टर मैत्र ने ही मेरे अन्वेषणों में मेरा मार्गदर्शन किया है। उनकी उदार सहानुभूति एवं मौलिक सूचनाओं के बिना इस पुस्तक का लिखा जाना असंभव था। मेरे अनुज जयराम विष्णु जोशी, बी० ए० तथा मेरे विद्यार्थी रामकृष्ण देशपांडे ने इस पुस्तक को प्रेस के लिये तैयार करने में मुझे बड़ी सहायता पहुँचाई है।

श्रीशारदा-शिक्षा-सदन
शुजालपुर मंडी (G. I. P.)
१०–७–१९४१

ना० वि० जोशी

विषयानुक्रमणिका

आलोचनात्मक खण्ड

रचनात्मक खण्ड

आलोचनात्मक खंड

आत्म-तंत्र दर्शन

आलोचनात्मक खंड

प्रस्तावना

शुक्ल चतुर्थी के दिन जब अर्द्ध चंद्र अपनी सौम्य और ईष-दुज्ज्वल ज्योत्स्ना से कुछ काल तक जग को आप्लावित करके अस्तंगत हो जाता है, तब चारों ओर घना अंधकार छा जाता है। अमा की रात्रि का अंधकार भयावना अवश्य मालूम होता है, किंतु वह सम्मोहक होता है। एक दीर्घ तंद्रा में आविष्ट होकर हम अमा की रात्रि अविज्ञात रूप से निकाल देते हैं। किंतु शुक्ल चतुर्थी की रात की प्रारम्भिक ज्योत्स्ना के सुखानुभव के पश्चात्, अंधकार का परिवेष्टन हमें बंदीगृह के सीखचों की तरह आकुल एवं उन्मुक्त पर्यवेक्षण के लिये पर्युत्सुक बना देता है। तब रात्रि के पर्यवसान में पूर्व क्षितिज पर घनांधकार को विदीर्ण करती हुई अरुणाभा का प्रथम अस्फुट दर्शन हमें कितना उल्लसित करता है।

हमारे हृदय में कितनी आशाएँ प्रस्फुरित होती हैं। हम एक नव-चैतन्य का अनुभव करने लगते हैं।

थेल्स से लेकर रिनेसाँ-काल तक के यूरोपीय तत्त्व-चिंता के इतिहास का परिशीलन करने पर हमें शुक्ल चतुर्थी की रात का-सा अनुभव होता है। जब हम ग्रीस देश में थेल्स से लेकर अरिस्टॉटल तक की तत्त्व-चिंता के इतिहास को पढ़ते हैं तब हमें वहाँ के दार्शनिकों के विचार चंद्र-ज्योत्स्ना के समान अस्पष्ट, काव्यमय और रहस्यमय प्रतीत होते हैं।

अरिस्टॉटल के बाद अंधकार के एक दीर्घयुग का प्रारम्भ होता है। इस युग में धर्म का प्राबल्य था। इसके कई कारण थे। अरिस्टॉटल के पश्चात् दर्शन की प्रवृत्ति धीरे-धीरे कर्म-मीमांसा की ओर झुकी। दार्शनिक शुद्ध तात्त्विक चर्चा को छोड़कर यह प्रश्न पूछने लगे कि जीवन का अन्यतम ध्येय क्या होना चाहिये? मनुष्य को ऐकान्तिक सुख की प्राप्ति किस प्रकार हो सकती है? इस प्रश्न ने दो भिन्न संप्रदायों की निर्मिति की। इनका नाम है इपिक्यूरियानिज्म और स्टॉइसिज्म। हमें इन संप्रदायों के मतों की विस्तारपूर्वक चर्चा में घुसने की यहाँ आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। हमें केवल एक ही बात जान लेना पर्याप्त होगा। वह यह कि इन सम्प्रदायों के अनुसार सद्‌गुण और आनन्द की स्थिति को, अथवा मोक्ष को, प्राप्त करने के लिये मनुष्य को एक निश्चितार्थावबोधिका सूक्ष्म दृष्टि का आश्रय लेने की आवश्यकता है। बुद्धि के द्वारा हम जीवन के आदर्श को नहीं प्राप्त कर सकते।

नास्तिक पिरो ने तो बुद्धि-सामर्थ्य में गहरा अविश्वास व्यक्त किया। उसने कहा कि हम जग की वस्तुओं की रचना को यथार्थ रूप से जानने में सर्वथा असमर्थ हैं। हम अधिक से अधिक बाह्य जगत् की वस्तुओं द्वारा हमारी भावनाओं में होनेवाले परिवर्तन जान सकते हैं। अतः पिरो के अनुसार समझदार मनुष्य को किसी बात के विषय में अपना कोई मत ही प्रकट नहीं करना चाहिये।[1] इस मत का ज्यों-ज्यों अधिक प्रचार होने लगा त्यों-त्यों यह माना जाने लगा कि जीवन का अन्यतम आदर्श किसी मनुष्य द्वारा प्राप्य नहीं है। अतः मनुष्य अपने बल पर ज्ञानवान्, गुणवान् और सुखी नहीं बन सकता। यहाँ से उस प्रवृत्ति का प्रारम्भ होता है जिसके कारण मनुष्य अपने मोक्ष के लिये परमात्मा की सहायता माँगता है। जिस समय ग्रीको-रोमन जगत् में लोगों के विचार इस प्रकार ढलने लगे थे उसी समय पौर्वात्य और पाश्चात्य धर्मों में निकटतम संपर्क बढ़ रहा था। विदेशी पूजा-विधि यत्र-तत्र कुछ विरोध के साथ अपनाई जाने लगी। धर्म का प्रचार बढ़ने लगा। इसके फल-स्वरूप कई शताब्दियों तक मनुष्य का मूल उद्देश्य पार्थिव जगत् के परे किसी स्वर्गीय जगत् को लक्ष्य करके अपनी मोक्ष-प्राप्ति करना-मात्र रहा।

अब, चूँकि मनुष्य अपने बल से मोक्ष-प्राप्ति के सम्बन्ध में विश्वास खो चुका था, अतः वह इस बात के लिये अंशतः ईश्वरीय *इलहाम* में सहायता ढूँढ़ने लगा। अतः, ग्रंथ-प्रामाण्य

---

१ Windeband *History of Philosophy*, पृ० १६७ देखिये।

का महत्त्व बढ़ने लगा। वस्तुतः समस्त अलेक्ज़ॉन्ड्रियन दर्शन का विशेष लक्षण ही यह है कि वह *ईश्वरीय इलहाम को ज्ञान का सर्वोत्तम साधन मानता है*। सत्य उस अनुभव के द्वारा मिल सकता है जिसमें मनुष्य और परमात्मा का आंतरिक तादात्म्य हो सके।

जब धार्मिक विचारों के प्राबल्य के कारण अंध-श्रद्धा बढ़ गई, तब बुद्धि के लिये कोई विशेष कार्य नहीं रह गया था। वह तो अब Old और New Testaments जैसे धर्म-ग्रंथों में उल्लिखित विसंगत दिखनेवाले विचारों और पूर्वग्रहों में संगति बतलाने का एक साधन-मात्र थी। उसे स्वतंत्र रूप से प्रकृति के अवलोकन, निरीक्षण आदि द्वारा किसी सिद्धान्त का प्रतिपादन करने की इजाजत न थी।

मध्ययुगीन अंध-श्रद्धा का साम्राज्य पहिली ईसवी शताब्दी से लेकर लगभग पंद्रहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक अप्रतिहत रूप से रहा। अंध-श्रद्धा के कारण मध्ययुगीन दर्शन की असंगतियों की ओर जनता का ध्यान तीव्रता से आकर्षित न हो सका। किंतु ज्यों-ज्यों मध्य युग के अंत में वे धीरे-धीरे ऊपरी सतह पर दिखलाई देने लगीं, त्यों-त्यों धार्मिक अंध-श्रद्धा पर आघात होने लगे। समय के अनुसार लोगों का अनुभव भी बढ़ने लगा। बाह्य जगत् के ताजे अनुभव से धार्मिक ग्रंथों की प्रमाणभूत मानी जानेवाली बातों का मेल नहीं मिलता था। लिओनार्डो डा विंची ने पर्वत की स्तरों में दबे हुए प्राणियों के प्रस्तरीभूत कंकालों को देखकर यह बतलाया कि वे प्राणी जिनकी जाति उस समय नष्ट हो गई थी

पृथ्वी की अवस्था के एक विशिष्ट काल में ही निर्मित हुए होंगे। यह कल्पना इंजील की उस मान्यता से मेल नहीं खाती थी जिसके द्वारा यह माना जाता था कि ईश्वर ने समस्त जग को विशिष्ट काल में कुछ दिन में ही निर्मित कर दिया था। उसी प्रकार इंजील यह भी मानता था कि पृथ्वी समस्त विश्व का केंद्र है। किंतु कोपर-निकस ने यह सिद्ध किया कि सौर मंडल का केंद्र सूर्य है न कि पृथ्वी।

इस प्रकार धार्मिक अंधश्रद्धा पर एक के पश्चात् दूसरे आघात होने लगे। इसके फलस्वरूप उसके पैर उखड़ने लगे। लोग दिन-ब-दिन अनुभव करने लगे कि धर्म-ग्रंथों को समस्त प्रमाण-भूत ज्ञान का साधन मानना ग़लत है। जब प्रकृति का प्रत्यक्ष अनु-भव हमें धर्म-ग्रंथों में उल्लिखित मान्यताओं के विरुद्ध प्रमाण बतलाता है, तब हमें धर्म-ग्रंथों का सहारा छोड़कर प्रकृति के प्रत्यक्ष अवलोकन द्वारा प्राप्त अनुभवों पर ही विश्वास रखना चाहिये। यहीं से रिनेसाँ-काल का प्रारम्भ होता है। अब यह अनुचित माना जाने लगा कि बुद्धि को धर्म-ग्रंथों के पृष्ठों तक ही सीमित रखा जाय। उसे अब प्रकृति की ओर मुड़ना चाहिये। प्रकृति के प्रत्यक्ष अवलोकन द्वारा हमें जो सिद्धांत उपलब्ध होंगे वे ही प्रमाणभूत तथ्य माने जाने चाहिये, अन्य नहीं।

इस प्रकार बुद्धि को बंधन-मुक्त कर दिया गया। बुद्धि अब स्वतंत्र होने के कारण नवीन चेतना का अनुभव करने लगी। विशाल प्रकृति उसका कार्य-क्षेत्र बनी। अब प्रश्न उठा कि प्रकृति

से प्रमाणभूत ज्ञान किस प्रकार प्राप्त किया जाय ? हमारे पास एक ऐसी कसौटी अथवा ज्ञान प्राप्त करने की विश्वसनीय विधि (method) होने की आवश्यकता है कि जिससे हम धार्मिक अंधश्रद्धा की दलदल में न फिसलते हुए सत्यज्ञान को प्राप्त कर सकें।

सबसे पहिले बेकन (फ्रांसिस) ने अपने "New Organon" में प्रकृति-विषयक ज्ञान को व्यवस्थित करने के लिये वैज्ञानिक पद्धति की रूपरेखा निर्धारित की। बेकन ने बतलाया कि हम रोजमर्रा के अवलोकन द्वारा प्रकृति का यथार्थ ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकते। क्योंकि हमारे साधारण अवलोकन में अनेक प्रकार के पूर्वग्रह और ग़लतफ़हमियाँ होने के कारण अयथार्थता आ जाती है। इन पूर्वग्रहों और ग़लतफ़हमियों से, जिन्हें बेकन idols कहता है, हमें सर्वप्रथम अपने ज्ञान को मुक्त करना चाहिये। तत्पश्चात् बेकन हमें अवलोकन-विधि (method of Induction) का परिज्ञान कराता है। इस विधि के अनुसार हम अपने यथार्थ अवलोकनों से ऐसी व्याप्तियों को प्राप्त करते हैं जिनके द्वारा हम बाह्य जगत् के वस्तुवृत्तों (Facts) की व्यवस्थित रूप से व्याख्या कर सकें। बेकन की इस अवलोकन-विधि से बुद्धि को अत्यधिक सहायता पहुँची। इसके द्वारा वैज्ञानिक धीरे-धीरे प्रकृति के रहस्य उद्घाटन करने लगे।

जिस समय बेकन बौद्धिक ज्ञान की विशुद्धि और विस्तार के लिये अवलोकन-विधि की नींव डाल रहा था, उसी समय आधु-

निक तत्त्वज्ञान का आद्यजनक, देकार्ते, किसी ऐसे दार्शनिक तत्त्व की खोज में था जो स्वयं सिद्ध हो और जिससे ज्यामितिक पद्धति के अनुसार अन्य स्वयं-सिद्ध सिद्धान्त निकाले जा सकें। इस बात की ओर स्वयं बेकन के विचारों में ही संकेत मिलता था। क्योंकि जब बेकन ने कहा कि हमें अवलोकन-विधि द्वारा अपने इन्द्रियज्ञान में से ऐसी व्याप्तियों को ढूँढ़ना चाहिये, जो कि बाह्य जगत् के वस्तुवृत्तों की यथार्थ व्याख्या दे सकें, तब इसका अर्थ अन्ततोगत्वा यही निकाला जा सकता है कि हमें एक ऐसे सर्वोच्च तत्त्व को खोजने की आवश्यकता है जिसके द्वारा हम समस्त वस्तुजात की व्याख्या कर सकें[२]।

---

[२] To those methodical thoughts which are common to Bacon and Galileo, Descartes added a postulate of the greatest importance, he demanded that the method of induction or resolution should lead to *a single principle of highest and absolute certainty* from which afterwards, by the method of composition, the whole compass of experience must find its explanation. This demand was entirely original and had its root in the felt need for a systematic, connected whole of all human knowledge; it rested ultimately upon his surfeit of the traditional reception of historically collected knowledge, and upon his longing for a new philosophical creation from one mould, Descartes will, then, by an inductive enumeration and a critical sifting of all ideas press forward to a single, certain point, in order from this point to deduce all further truths." (Windeband, *History of Philosophy, Eng. tr. pp. 389—390.*)

यूक्लीड की ज्यामिति में इसी पद्धति का आश्रय लेकर किसी एक स्वयं-सिद्ध तत्त्व से हम उसकी समस्त प्रमेयावली को ऐंद्रिया-नुभव का आश्रय लिये बिना ही, निकाल लेते हैं। देकार्ते स्वयं अच्छा गणितीं था। अतः उसको दर्शन में भी इसी ज्यामितिक पद्धति का उपयोग करना ठीक जँचा।

अपने Meditations के प्रारम्भ में देकार्ते दर्शन के सर्वोच्च स्वयं-सिद्ध तत्त्व की खोज में व्यस्त मालूम होता है। सर्वप्रथम देकार्ते का कथन है कि हमें किसी बात की यथार्थता पर विश्वास नहीं रखना चाहिये। क्योंकि हम अपनी ज्ञानेंद्रियों की यथार्थता पर विश्वास नहीं रख सकते। हमें इन्द्रियाँ कई बार भ्रांतिपूर्ण ज्ञान देती हैं। अतः उनके द्वारा हमें सदा-सर्वदा शुद्ध ज्ञान की प्राप्ति होगी ही, इस बात को मानना कठिन है। अतः हमें अपने अनुभव में आनेवाली समस्त बातों को शंका की दृष्टि से देखना चाहिये।

तब प्रश्न उठता है: क्या इस शंका का कहीं अन्त भी होगा ?

मनन करने के पश्चात् देकार्ते को सर्वशंका से छुटकारा पाने का एक मार्ग मिला। उसने कहा कि हम भले ही जगत् की समस्त वस्तुओं के अस्तित्व के विषय में शंकाशील हों, किन्तु हम अपने अस्तित्व के विषय में शंकाशील नहीं हो सकते। "Cogito ergo sum"—मैं विचार करता हूँ अतः मैं हूँ, यह बात ऐसी है जिस पर हम कभी भी अविश्वास नहीं कर सकते।

शंका विचार की एक क्रिया है। अपने अनुभव के अतंर्गत आनेवाली सारी वस्तुओं के विषय में शंका की जा सकती है। किन्तु जो शंका करता है, उसके विषय में किस प्रकार शंका की जा सकती है ? अतः मेरा अस्तित्व शंका के परे एक स्वयं-सिद्ध तत्त्व है।

यह समझ लेने की आवश्यकता है कि देकार्ते का Cogito ergo sum का तत्त्व ऐंद्रियानुभव द्वारा प्राप्य नहीं है। वह तो सर्वोच्च आधारभूत बौद्धिक सत्य है। इस सत्य का प्रमाण भी अनुमान द्वारा प्राप्य नहीं है, वह तो प्रत्यक्ष स्वानुभव द्वारा (intuitive certainty) ही अधिगम्य है। बस इसी से देकार्ते के दर्शन को बुद्धिवाद (Rationalism) कहते हैं।

स्वयंसिद्ध निश्चित आत्म-तत्त्व को पा लेने के पश्चात् देकार्ते उसी के आधार पर अन्य दार्शनिक तत्त्वों को निकालने की चेष्टा करता है। सबसे पहिले वह आत्मतत्त्व द्वारा ईश्वर के तत्त्व को प्रस्थापित करता है। वह कहता है कि जब हम अपने आपको टटोलते हैं तब ससीम और अपूर्ण पाते हैं। अब इस ससीमता और अपूर्णता का विचार हममें तब तक नहीं उत्पन्न हो सकता, जब तक हम असीम और पूर्ण तत्त्व की कल्पना न कर लें। क्योंकि जब हम पूर्ण तत्त्व की कल्पना उपस्थित करते हैं तभी तो हमें अपनी अपूर्णता का अनुभव होता है। साथ ही देकार्ते का यह भी कथन है कि हमें पूर्ण तत्त्व की कल्पना भी तब तक नहीं आ सकती जब तक उसके अनुरूप कोई आध्या-

त्मिक सत्ता विद्यमान न हो। यह आध्यात्मिक सत्ता सर्वशक्तिमान् ईश्वर के अतिरिक्त और कोई नहीं हो सकती। इस प्रकार देकार्ते ईश्वर की कल्पना के द्वारा हमें उसके अस्तित्व की ओर ले जाता है। इसी को अँग्रेजी में ईश्वर-स्थापना-विषयक Ontological proof कहते हैं।

ईश्वर के अस्तित्व को मान लेने के उपरांत, जग के अस्तित्व के विषय में प्रश्न उत्पन्न होता है। देकार्ते पहले-पहल जग के अस्तित्व के विषय में शंकाशील था। किन्तु ईश्वर को मान लेने के पश्चात् यह शंका निर्मूल हो जाती है। क्योंकि बाह्य जगत् के विचार ईश्वर-निर्मित हैं। अब चूँकि ईश्वर स्वयं अनंत और पूर्ण है, इसलिये उसके मन में हम-जैसे अपूर्ण और ससीम जीवों को छल अथवा कपट द्वारा भुलावा देने का कोई हेतु नहीं हो सकता। ईश्वर ने हमारे लिये जग की उत्पत्ति की है। अतः वह सत्य है।

इस प्रकार, देकार्ते आत्म-तत्त्व से हमें ईश्वर के अस्तित्व और तत्पश्चात् जग के अस्तित्व की ओर ले जाता है। देकार्ते की विचार-पद्धति के अनुसार आत्मा और जगत् स्वयं एक दूसरे से अत्यन्त भिन्न हैं। क्योंकि आत्मा अविस्तृत (inextended) विचारों का अधिष्ठान है; और जग विस्तृत और जड़ है। जड़ अधिष्ठान और चेतन में परस्पर सबंन्ध कैसे हो सकता है? देकार्ते ने स्वयं इन दो अधिष्ठानों के बीच स्थित संबंध की कल्पना ठीक-ठीक नहीं कराई। इसका परिणाम यह हुआ कि ईश्वर को परम तत्त्व मान लेने पर भी आत्मा और जगत् के बीच

एक गहरी खाई बन गई, जिससे दार्शनिक द्वैतवाद की उत्पत्ति हुई।

देकार्ते के बाद, जेवालाँ और मालब्राँश ने इस द्वैत को मिटाने की चेष्टा की। उन्होंने बतलाया यद्यपि जड़ और चेतन परस्पर संबद्ध नहीं हो सकते तथापि ईश्वर के द्वारा वे एक दूसरे के सम्पर्क में लाये जा सकते हैं। जिस अवसर पर चेतनाधिष्ठान में किसी प्रकार का परिवर्तन होगा उसी अवसर पर ईश्वर के द्वारा जडाधिष्ठान में भी तादृश परिवर्तन होगा। इस व्याख्या को अवसरवाद (Occasionalism) कहते हैं। किंतु जेवालाँ और मालब्राँश की देकार्ते का द्वैतवाद मिटाने की यह युक्ति अनुपयुक्त है। क्योंकि उसके अनुसार ईश्वर तो जड और चेतन में सम्बंध स्थापन करने के लिये मशीन का एक पुर्जा-मात्र है।

स्पिनोझा ने भी अपनी परमाधिष्ठान (Infinite Substance) की कल्पना द्वारा कार्तेशियन द्वैतवाद का एक हल देने की चेष्टा की है। स्पिनोझा ने यह उचित समझा कि जड़ और चेतन को परस्पर-विरोधी अधिष्ठान न मानते हुए, एक परमाधिष्ठान के धर्म मान लिये जायँ। इस विचार के अनुसार उसने परमाधिष्ठान को समस्त वस्तुजात का स्वयंभू कारण (Causa sui and causa omnium rerum) माना है। इस परमाधिष्ठान के अनन्त धर्म हैं। किन्तु हम अपनी बुद्धि द्वारा इन अनन्त धर्मों में से केवल दो ही धर्म जान सकते हैं। वे धर्म हैं—विचार और विस्तार अथवा आध्यात्मिकता और जडता। समस्त

जगत् का वस्तुजात (Modes) इन्हीं धर्मों के न्यूनाधिक मिश्रण से उद्भूत है। इस प्रकार स्पिनोभा ने दो परस्पर भिन्न अधिष्ठानों को हटाकर उन्हें एक परमाधिष्ठान में निमज्जित कर दिया।

स्पिनोभा की यह युक्ति, अवश्यमेव द्वैतवाद मिटा देने में सफल हो सकती थी। किन्तु उसमें एक दोष था। वह यह कि परमाधिष्ठान से जगत् का वस्तुजात (Modes) किस प्रकार निर्मित हुआ ? इस प्रश्न का उत्तर स्पिनोभा सम्यक् प्रकार से न दे सका। उसने वस्तुजात (Modes) को बुद्धिजनित परमाधिष्ठान की मिथ्या कल्पना से निर्मित माना है। किन्तु जग को मिथ्या मानना प्रश्न को टालना है, उसका हल नहीं।

लायब्निज्ज ने स्पिनोभा के अद्वैतवाद को मानना इसलिये उचित नहीं समझा कि उसको मानने के पश्चात् हमें अपने जगत् का बहुत्व मिथ्या मानना पड़ता है। अतः उसने आध्यात्मिक बहुत्ववाद की स्थापना की। लायब्निज्ज के मतानुसार संसार की प्रत्येक वस्तु आध्यात्मिक शक्ति का स्वतन्त्र केन्द्र है जिसे वह Monad कहता है। ये Monads अनन्त हैं और एक दूसरे से बिलकुल पृथक् हैं। यदि समस्त वस्तुजात आध्यात्मिक शक्ति से निर्मित है तो उसमें विस्तार और जड़त्व कहाँ से पैदा हुआ ? इसका उत्तर लायब्निज्ज इस प्रकार देता है:—Monads की बहुत कोटियाँ होती हैं जिनके द्वारा हम Monads को उच्च-नीच की तरतीब में रख सकते हैं। एक Monad का दूसरे से उच्च होने की केवल यही पहचान है कि उसकी संवेदना अधिक सुस्पष्ट और

विशद होती है। प्रायः निम्न कोटि के Monads की संवेदना भ्रमसंकुल होती है। इसीलिये, उनको दिक् और काल का आभास होता है। मनुष्य भी एक ऐसा ही Monad है, यद्यपि औरों की अपेक्षा उसमें संवेदना अधिक स्पष्ट और विशद है इसीलिये मनुष्य की संवेदना में भी दिक् और काल का अन्तर्भाव रहता है। सर्वोच्च Monad ईश्वर, का अवलोकन अत्यन्त स्पष्ट और विशद होता है। अतः उसके अवलोकन में दिक् और काल का कोई व्यवधान नहीं रहता।

लायब्निज़ के दर्शन में एक और भी बड़ा महत्त्वपूर्ण प्रश्न उत्पन्न होता है। वह यह कि यदि प्रत्येक Monad स्वतन्त्र और अत्यन्त पृथक् है, तो उनके अवलोकन में संगति किस प्रकार होती है? इसके उत्तर में लायब्निज़ का कथन है कि प्रत्येक मोनाड में एक 'गवाक्ष' होता है। जिसके द्वारा उसके कल्पना-पटल पर समस्त जग अंकित हो जाता है। अलबत्ता ईश्वर ने भिन्न-भिन्न Monads में अंकित होनेवाले चित्रों में पहिले ही से संगति स्थापित कर दी होती है जिसके कारण Monads के अवलोकन में परस्पर विसंगति नहीं होने पाती। इसी को लाय-ब्निज़ पूर्व प्रस्थापित संगति का सिद्धान्त कहता है।

लायब्निज़ की Monadology निर्दोष होती, यदि वह Monad में किसी 'गवाक्ष' का होना न मानता। क्योंकि इस 'गवाक्ष' से स्पिनोझा का अद्वैतवाद फिर से हमारी ओर झाँकता है। इस 'गवाक्ष' के द्वारा Monad का आत्यन्तिक पार्थक्य

नष्ट हो जाता है। क्योंकि उसके द्वारा मोनाड एक दूसरे के जीवन में समरस हो सकते हैं। इसी का मतलब दूसरे शब्दों में यह भी हो सकता है कि मोनाड मोनाड में कोई अन्तर नहीं। तत्त्वतः उनमें अभेद है। वे एक ही हैं। यहीं आकर लायब्निज का बहुत्ववाद निरर्थक सिद्ध होता है।

ऊपर हमने बतलाया कि कार्तेशियन द्वैतवाद को मिटाने के लिये कैसे-कैसे प्रयत्न किये गये और किस प्रकार वे सब-के-सब निरर्थक सिद्ध हुए। स्पिनोझा और लायब्निज-जैसे उद्भट चिंतक भी इस उलझन को सुलझाने में असमर्थ रहे। इसका मूल कारण क्या? देकार्ते की मूल विचार-धारा पर दृष्टिक्षेप करने पर हमको इस बात का पता चल सकता है।

देकार्ते की यह बात सर्वथा स्तुत्य है जब वह मध्ययुगीन अंध-श्रद्धा से बुद्धि को मुक्त करने के लिये सर्वशंका का (Deomnibus dubitandum) सहारा लेता है। कोई भी दार्शनिक अपनी तत्त्व-चिंता के विषय में बाह्य बंधनों से जकड़ा जाना बर्दाश्त नहीं कर सकता।

सर्वशंका के तत्त्व के द्वारा देकार्ते ने दार्शनिक की अपने पद्धति के विषय में इसी स्वतंत्रता को व्यक्त किया है। किंतु इतना होते हुए भी देकार्ते जिस मध्ययुगीन धार्मिक अंधश्रद्धा से छुटकारा पाना चाहता था, उससे अपने आपको सर्वथा अछूता नहीं रख सका। प्रायः यह देखा जाता है कि अत्यंत प्रतिभासम्पन्न मनुष्य भी अपने समय की प्रचलित विचार-धारा से अछूते रहकर

एकदम नयी विचार-धारा देने में असमर्थ रहते हैं। देकार्ते के विषय में भी यही कहा जा सकता है। दर्शन को अंधश्रद्धा से मुक्त करने की उत्कट इच्छा रखते हुए भी देकार्ते अपने प्रयत्न में असफल रहा। क्षणभर के लिये हम देकार्ते का आत्मा के अस्तित्व-विषयक प्रमाण ठीक मान सकते हैं, किन्तु उसका ईश्वर के अस्तित्व-विषयक प्रमाण तो सदोष है। हम किसी वस्तु की कल्पना-मात्र से उसके अस्तित्व की स्थापना कैसे कर सकते हैं। मैं भले ही यह कल्पना कर लूँ कि मेरे जेब में १००) हैं किन्तु इतने-मात्र से जेब खाली होने पर १००) का नोट हाथ में नहीं आ जाता। वस्तुतः ईश्वर के अस्तित्व-विषयक प्रमाण में देकार्ते स्पष्ट रूप से मध्ययुगीन अन्धश्रद्धा के पंजे में फँस गया है।

देकार्ते की यही अंधश्रद्धा उसके दर्शन के द्वैतवाद का मूल कारण है। आत्मा, ईश्वर और जगत् केवल हमारी कल्पनाएँ हैं। वास्तविक रूप में भले ही उनमें किसी प्रकार का आत्यन्तिक पार्थक्य न हो, किन्तु हमने अपनी कल्पना में उनको पृथक् कर लिया है। इसी से द्वैतवाद की उत्पत्ति हुई। देकार्ते के पश्चात् आये हुए कार्तेशियन सम्प्रदाय के अन्य दार्शनिकों में भी देकार्ते की मूल अन्धश्रद्धा की ओर प्रवृत्ति का अन्तर्भाव है। क्योंकि उन्होंने भी अपने द्वारा प्रतिपादित दार्शनिक तत्त्वों को बौद्धिक कल्पना द्वारा ही प्रस्थापित किया है। इस प्रकार कार्तेशियन दर्शन, जहाँ तक दार्शनिक पद्धति का सम्बन्ध है, हमें सन्तोषप्रद नहीं जँचता।

किन्तु इतना होते हुए भी कार्तेशियन दर्शन में एक बात बड़ी

महत्त्वपूर्ण है। वह यह कि कोई भी कार्तेशियन दार्शनिक तत्त्वज्ञान का ज्ञान-मीमांसा से अथवा दर्शन के किसी अन्य तन्त्र से एकीकरण नहीं करता। देकार्त के ईश्वर, आत्मा और जगत्, स्पिनोझा का परमाधिष्ठान, लायब्निज्ज का मोनाड ये सब सत्ता-विषयक तत्त्व हैं। इनका ज्ञान-विषयक तत्त्वों से कोई सीधा संबंध नहीं। ये बातें बतलाती हैं कि विधि की बात छोड़ देने पर कार्तेशियन दर्शन सर्वथा अपने आपे में था।

किंतु यद्यपि कार्तेशियन सम्प्रदाय के दार्शनिकों ने तत्त्वज्ञान को ज्ञान-मीमांसा से अलग रखा था, तथापि उनकी ज्ञान-मीमांसा की समस्या को हल करने की विधि सदोष थी। उदाहरणार्थ, कार्तेशियन दार्शनिकों का यह विश्वास था कि हममें बुद्धि की एक ऐसी शक्ति है जो हमें विशिष्ट स्वयं-सिद्ध विचार दे सकती है। वे यह भी मानते थे कि ऐसे विचारों की प्रामाणिकता स्वयं-सिद्ध थी अर्थात् ये विचार अपने आपको किसी बाह्य अनुभव द्वारा प्रमाणित कराने की आवश्यकता नहीं रखते थे। इस पद्धति का परिणाम यह हुआ कि कार्तेशियन दर्शन में कुछ ऐसी कल्पनाएँ घुस गईं जो बुद्धि की कसौटी पर क्वचित् उतर सकती थीं। अपने Essay concerning Human Understanding के प्रथम भाग में लॉक ने कार्तेशियन स्वयं-सिद्ध विचारों के सिद्धान्त की बहुत कड़ी आलोचना की है। उसने उसे अन्धश्रद्धात्मक बतलाने के लिये प्रमाण दिये हैं। वस्तुतः लॉक की यह दृढ़ धारणा थी कि कार्तेशियन दर्शन की अन्धश्रद्धा का मुख्य कारण था हमारी ज्ञान-

शक्ति की उत्पत्ति, मर्यादा और विस्तार के यथोचित ज्ञान का अभाव। अतः, दर्शन को अन्ध-श्रद्धा से मुक्त करने के लिये लॉक ने मानव-ज्ञान-शक्ति की उत्पत्ति, विस्तार और मर्यादा की जाँच पहिले करना अत्यावश्यक समझा।

इस प्रकार, आधुनिक काल में लॉक ही पहिला दार्शनिक था, जिसने ज्ञान-विषयक समस्या की वैज्ञानिक मीमांसा की ओर ध्यान आकर्षित किया। वैज्ञानिक अवलोकन-विधि की रूपरेखा तो बेकन द्वारा पहले ही दी जा चुकी थी। बेकन ने वैज्ञानिकों के मार्ग-दर्शन के हेतु कुछ नियम बना दिये थे ताकि उनका पालन करने पर कोई वैज्ञानिक अन्ध-श्रद्धा का शिकार न बन सके। अनुभवावलोकन की इसी विधि का लॉक ने दर्शन में उपयोग किया।

आलोचकों ने लॉक पर इस बात का दोषारोपण किया है कि उसने ज्ञान-विषयक समस्याओं को सुलझाने में मनोवैज्ञानिक विधि का उपयोग किया है। हमारी राय में यह दोषारोपण समुचित नहीं है। वस्तुतः लॉक ही ऐसा दार्शनिक है जिसने ज्ञान-मीमांसा में आलोचनात्मक विधि का सर्वप्रथम प्रयोग किया। रील, काँट की *शुद्ध बुद्धि की मीमांसा* पर की अपनी टीका में यही विचार प्रकट करता है। वह लॉक के Essay को ज्ञान की इंग्लिश मीमांसा मानता है। अतः लॉक को दर्शन में अनुभव-विधि का उपयोग करने के लिये दोष नहीं दिया जा सकता।

लॉक की वास्तविक ग़लती इस बात में मिलती है कि उसने

अपने Essay में ज्ञान-मीमांसा ही को एकमात्र प्रामाणिक तन्त्र माना है, और तत्त्वज्ञान को ज्ञान-मीमांसा के अधीन कर दिया है। दूसरे शब्दों में, लॉक के लिये ज्ञान ही सत्ता की कसौटी है। जो कुछ जाना जा सकता है वही प्रमाणित और सत्तात्मक है; जो अनुभव द्वारा नहीं जाना जा सकता वह कपोलकल्पित और मिथ्या है। इस प्रकार ज्ञान के अतिरिक्त सत्ता के लिये कोई अवकाश नहीं है और अतः लॉक की प्रणाली में तत्त्वज्ञान का ज्ञान-मीमांसा से समीकरण हो जाता है।

अपने Essay के प्रारम्भिक अंश में तत्त्वज्ञान के विषय में लॉक का मत इतना उग्र नहीं था। उसने तत्त्वज्ञान के लिये ज्ञान-मीमांसा के अतिरिक्त अवकाश छोड़ा था। यह बात लॉक के प्रधान और गौण गुण-विषयक तथा जड़ाधिष्ठान-विषयक सिद्धान्तों से प्रमाणित होती है। प्रधान और गौण गुणों के सिद्धान्तों द्वारा लॉक ने यह बतलाया कि बाह्य जगत् की वस्तुओं में दो प्रकार के गुण होते हैं। एक प्रकार के गुण सर्वथा ज्ञाता के मन पर समाश्रित हैं। ऐसे गुण हैं रंग, शब्द, स्पर्श, गन्ध इत्यादि। इन्हें लॉक गौण गुण कहता है। इनके अतिरिक्त, दूसरे गुण भी हैं जो स्वयं वस्तुओं में स्थायी रूप से विद्यमान होते हैं और वे अपने अस्तित्व के लिये ज्ञाता के अवलोकन पर अवलम्बित नहीं होते। ये हैं प्रधान गुण, जिनमें से कुछ हैं विस्तार, आकार, परिमाण, गति और अभेद्यता।

प्रधान गुणों की कल्पना से हम आसानी से समझ सकते

हैं कि लॉक की प्रणाली में सत्ता ज्ञान की समवर्तिनी (identical) नहीं है।

लॉक के जडाधिष्ठान (Material Substance) के सिद्धान्त में भी सत्ता ज्ञान से अलग अपना अस्तित्व बतलाती है। लॉक के जडाधिष्ठान बाह्य जगत् के वस्तुवृत्तों का आधार (Substratum) है। लॉक यह भी स्पष्टतया कहता है कि यह आधार अज्ञात और अज्ञेय कुछ तो भी है। जडाधिष्ठान की इस कल्पना से यह स्पष्ट हो जाता है कि लॉक ने ज्ञान-मीमांसा से अलग तत्त्वज्ञान के अस्तित्व को माना था।

किन्तु लॉक जडाधिष्ठान के सिद्धान्त को प्रतिपादन कर चुकने पर शीघ्र ही तत्त्वज्ञान के अधिकार को भूल गया। क्योंकि अपने Essay के पिछले अंश में लॉक डंके की चोट यह घोषित करता है कि जो ज्ञेय है वही सत् है। जो हमारी संवेदनाओं और विचारों द्वारा जाना जा सकता है उसी को अस्तित्व का अधिकार है। जो इस प्रकार नहीं जाना जा सकता उसे सत् कहा ही नहीं जा सकता।

इस प्रकार हम देखते हैं कि लॉक सबसे पहिला ऐसा दार्शनिक है जिसने तत्त्वज्ञान को ज्ञान-मीमांसा का समवर्ती माना है। लॉक की यही भ्रान्त धारणा आधुनिक युग की समस्त तत्त्व-चिन्ता के दिग्भ्रम का मूल कारण है। हम अब संक्षेप में लॉकोत्तर दार्शनिक प्रणालियों में इसी भ्रान्ति के दुष्परिणामों को प्रकाश में लाने की चेष्टा करेंगे।

अपने *Principles of Human Knowledge* में बर्कले ने तत्त्वज्ञान का ज्ञान-मीमांसा से समीकरण करने का बलवत्तर प्रयत्न किया है। उसका वह सिद्धान्त कि वस्तुओं का अस्तित्व उनकी अनुभूयमानता पर आश्रित है, इस बात को बिना द्वयर्थता के यह बतलाता है कि बर्कले सत्ता को ज्ञान के अतिरिक्त कोई स्वतन्त्र अस्तित्व देने के लिये तैयार नहीं है। वस्तुतः, बर्कले के उपर्युक्त सिद्धान्त में ही लॉक के ज्ञानतन्त्र-दर्शन की परमावधि हो जाती है। अपने प्रधान और गौण गुण-विषयक एवं जडाधि-ष्ठान-विषयक सिद्धान्तों के कारण लॉक अपने दर्शन को सम्पूर्णतया ज्ञान-तन्त्र नहीं कर सका था। क्योंकि इन सिद्धान्तों में उसका तत्त्वज्ञान के प्रति आग्रह व्यक्त हो जाता है। किन्तु बर्कले ने दर्शन को शुद्ध ज्ञानतन्त्र बनाने के लिये लॉक के प्रधान और गौण गुण-विषयक एवं जडाधिष्ठान-विषयक सिद्धान्तों का उन्मूलन करके तत्त्वज्ञान के सारे स्मारक नष्ट कर दिये।

तथापि, बर्कले के ईश्वर-विषयक सिद्धान्त में तत्त्वज्ञान का प्रत्यावर्तन होता है। हमारी संवेदनाओं के *कारण* की व्याख्या करने के लिये बर्कले ने ईश्वर की कल्पना की थी। संवेदनाओं की व्यवस्था और संगति, जैसा कि हम अनुभव करते हैं, व्यक्ति के मन पर अवलम्बित नहीं है। अतः उनका स्रोत किसी अति मान-वीय मन अर्थात् ईश्वर होना चाहिये। किन्तु संवेदनाओं का कारण, ईश्वर, वस्तुतः लॉक के उस जडाधिष्ठान के सिद्धान्त से बिलकुल अनन्य है जो कि लॉक की प्रणाली में वही काम करता है। इस

प्रकार, बर्कले के ईश्वर-विषयक सिद्धान्त में, तत्त्वज्ञान ज्ञान-मीमांसा से अपना अलग अस्तित्व व्यक्त करता है। क्योंकि ईश्वर वह सत्तात्मक वस्तु है जिसका अस्तित्व किसी वैयक्तिक मन के अवलोकन पर समाश्रित नहीं है।

अपरंच यह मानने के लिये पर्याप्त प्रमाण है कि स्वयं बर्कले को अपने पिछले ग्रन्थों में स्वयं प्रतिपादित ज्ञानतन्त्र-दर्शन से अरुचि हो गई थी। विशेषतः Siris में वह उसका परित्याग करता है और प्लेटो के आदर्शवाद (Platonic Idealism) की निकटतम स्थिति का अङ्गीकार करता है।

ह्यूम के दर्शन में, अनुभववाद संप्रदाय का ज्ञानतन्त्र-दर्शन अपने वैभव के सर्वोच्च शिखर पर आरूढ़ मिलता है। क्योंकि यदि, अनुभववाद के तत्त्व के अनुसार, सत्ता ज्ञान की समवर्तिनी है तो जो ज्ञानगम्य नहीं है वह सत् माना ही नहीं जा सकता। बर्कले ने जडाधिष्ठान सिद्धान्त का पहले ही निर्मूलन कर दिया था। किन्तु बर्कले ने अभी आत्मा एवं ईश्वर-विषयक तत्त्व सुरक्षित रख छोड़े थे। ह्यूम ने, अनुभववाद के तत्त्व का सख्ती से प्रयोग करके, बर्कले के उपर्युक्त सिद्धांतों को निरर्थक बतलाया। क्योंकि न तो आत्मा और न ईश्वर ही ज्ञेय अस्तित्व के अंश हैं। अतः बर्कले के दोनों ही सिद्धांत अप्रमाणित हैं। इस प्रकार ह्यूम का दर्शन हमें आत्यन्तिक शंकावाद (Scepticism) की ओर ले जाता है। इसके लिये ह्यूम दोषी नहीं ठहराया जा सकता। क्योंकि

ह्यूम को ही यह बतलाने का श्रेय है कि शंकावाद ज्ञानतन्त्र-दर्शन का अनिवार्य सहचर है।

अपनी *शुद्ध बुद्धि की मीमांसा* में, कांट ने ह्यूम के शंकावाद द्वारा दर्शन के क्षेत्र में उद्भूत अराजकता को दूर करके शान्ति और व्यवस्था की स्थापना करने का प्रयत्न किया। उपर्युक्त *मीमांसा* के द्वितीय संस्करण की प्रस्तावना में कांट कहता है कि शंकावाद उस अन्धश्रद्धा का परिणाम है जिसके द्वारा हम यह चाहते हैं कि हमारा ज्ञान अपने विषय से सामञ्जस्य प्राप्त करे। इस विधि के कारण हम ऐसे विषयों की स्थापना कर देते हैं कि जिनका सत्य बौद्धिक प्रमेयों द्वारा प्रमाणित नहीं किया जा सकता। इसी बात से दर्शन में शंकावाद की उत्पत्ति होती है। किन्तु कांट ने ह्यूम-दर्शन के शंकावाद से बचने के लिये दर्शन के क्षेत्र में एक नवीन विधि का प्रयोग किया, जिसे वह आलोचनात्मक विधि (critical method) कहता है। इस नई विधि के अनुसार, यह आवश्यक नहीं कि हमारा ज्ञान विषय से सामञ्जस्य प्राप्त करे; किन्तु, इसके विपरीत, विषय को ज्ञानगम्य होने के लिये उन शर्तों से सामञ्जस्य प्राप्त करना चाहिये जिनसे ज्ञान की सम्भावना होती है। इस प्रकार, कांट ने अपनी *शुद्ध बुद्धि की मीमांसा* में लॉक के अनुसार, ज्ञान-मीमांसा को दर्शन का एकमात्र प्रमाणित तंत्र मानकर एकाधिकार सौंप दिया। दूसरे शब्दों में, आलोचनात्मक विधि द्वारा, कांट ने तत्त्वज्ञान को प्रत्यक्ष रूप से ज्ञान-मीमांसा का समवर्ती बना दिया।

किन्तु कांट अपनी विधि की प्रारम्भिक योजना पर अधिक समय तक स्थिर नहीं रह सका। क्योंकि शुद्ध बुद्धि की मीमांसा में, स्वयं वस्तु के सिद्धान्त के रूप में तत्त्वज्ञान बार-बार अपना अस्तित्व प्रकट करता है। सर्वप्रथम अतीन्द्रिय संवेदना में कांट ने 'अतींद्रिय विषय' की उस कल्पना (doctrine of transcendental object) का प्रतिपादन किया जो कि हमारी संवेदनाओं का अज्ञात और अज्ञेय कारण था। अब, किसी ऐसी स्वयं-वस्तु (thing in itself) के अस्तित्व में विश्वास करना जो मानवज्ञान का सर्वथा अतिक्रमण करती हो उस नई विधि को आवश्यकताओं के सर्वथा प्रतिकूल है जिसके अनुसार कोई भी वस्तु तब तक सत् नहीं मानी जा सकती जब तक वह ज्ञान की संभावना की शर्तों के अनुकूल न हो।

कांट ने 'अतींद्रिय विषय' के सिद्धान्त की असंगति को स्वयं अनुभव किया है। क्योंकि अतींद्रिय-विश्लेषण (Transcendental Analytic) में कांट कहता है कि स्वयं-वस्तु जो पहिले बुद्धि के परे मानी गई थी, अब उससे अनन्य है अर्थात् वह शुद्ध विचार का विषय है। इस नई स्थिति में, स्वयं वस्तु को noumenon कहा गया है। किन्तु noumenon की कल्पना में भी कांट अपनी आलोचनात्मक विधि की आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर पाया है। क्योंकि noumenon की कल्पना का प्रतिपादन करने के ठीक बाद वह कहता है कि noumenon ज्ञानातीत है। वह केवल बौद्धिक अनुभूति (intellectual

intuition) द्वारा ही अधिगम्य है। इस कथन का अर्थ ही यह है कि सत्ता ज्ञान से पृथक् अस्तित्व रखती है। अथवा, दूसरे शब्दों में, तत्त्वज्ञान ज्ञान-मीमांसा का आश्रित नहीं है।

किन्तु अतींद्रिय अध्यास (Transcendental Dialectic) के बुद्धि के आदर्श (Ideas of Reason) विषयक सिद्धान्त में कांट हमें स्वयं वस्तु की एक तीसरी ऐसी कल्पना देता है जो सर्वांशेन उसकी आलोचना-विधि की आवश्यकताओं के सामञ्जस्य में है। बुद्धि के आदर्श वे अतींद्रिय तत्त्व हैं जिनके द्वारा बुद्धि-ज्ञान के a priori नियमों को और फलतः समस्त अनुभव को बिना शर्त ऐकान्तिक एकता प्रदान करती है। क्योंकि उन शर्तों के समन्वय में जिनसे अनुभव की संभावना होती है, अर्थात् ज्ञान के a priori नियमों के समन्वय में, अपरिहार्य रूप से समस्त अनुभव का समन्वय अंतर्हित है।

अब, आपाततः हमको प्रतीत होगा कि 'बुद्धि के आदर्श-विषयक' सिद्धान्त में कांट ने तत्त्वज्ञान और ज्ञान-मीमांसा के अनन्यत्व को पूरी तौर से सिद्ध कर दिया है। क्योंकि, बुद्धि के आदर्श, जो स्वयं सत्ता-विषयक तत्त्व हैं, ज्ञान के भी सर्वोच्च तत्त्व हैं।

किन्तु, आश्चर्य है कि ठीक उसी समय जब कि ज्ञान-मीमांसा हमें एकाधिकारी होती हुई मालूम पड़ती है, कांट का सत्ता-विषयक पूर्वग्रह प्रत्यावर्तित होता है। क्योंकि, कांट ने प्रत्यक्ष रूप से यह घोषित किया है कि बुद्धि के आदर्श ज्ञानातीत हैं। अथवा कांट के शब्दों में बुद्धि के आदर्श ज्ञान के विधायक तत्त्व (constitutive

principles) नहीं किन्तु नियामक तत्त्व (regulative principles) हैं। इस प्रकार आखिरी बार भी *शुद्ध बुद्धि की मीमांसा* में, तत्त्वज्ञान ज्ञान-मीमांसा से अपना अस्तित्व अलग बतलाता है। अब यह स्पष्ट हो गया होगा कि *शुद्ध बुद्धि की मीमांसा* में कांट तत्त्वज्ञान को ज्ञान-मीमांसा का आश्रित बनाने के प्रयत्न में सर्वथा असफल रहा।

तथापि जब कांट ने यह देखा कि तत्त्वज्ञान को ज्ञान-मीमांसा का आश्रित बनाना असंभव है तब उसने अपनी *कर्म-बुद्धि की मीमांसा* में तत्त्वज्ञान को कर्ममीमांसा का आश्रित बनाने का प्रयत्न किया। क्योंकि इस मीमांसा में कांट ने घोषित किया है कि वह स्वयं-वस्तु जो ज्ञानातीत थी, आत्मा के व्यावहारिक प्रयत्नों द्वारा संप्राप्य है। अर्थात्, स्वयं-वस्तु उस स्वातन्त्र्य के नियम से अनन्य है जो कि नीति का a priori आधार है।

किन्तु कांट तत्त्वज्ञान को कर्म-मीमांसा का समवर्ती बनाने में भी असफल रहा। क्योंकि, कांट अपनी *कर्म-बुद्धि की मीमांसा* में यह घोषित करता है कि वह नैतिक-नियम, जो सद्‌गुण का आधार है, हमें परमानन्द-स्थिति को प्राप्त नहीं करा सकता। कांट के अनुसार परमानन्द-स्थिति में वह सुख भी होता है जो कर्तव्य के शुद्ध विचार में समाविष्ट नहीं होता। अतः सद्‌गुण के तारतम्य में सुख का विभाजन करने के लिये, ईश्वर के अस्तित्व को मानना आवश्यक है। किन्तु ईश्वर की कल्पना तो सत्ता-विषयक तत्त्व (ontological principle) है क्योंकि ईश्वर का अस्तित्व कर्ता की

व्यावहारिकता पर आश्रित नहीं है। इससे यह स्पष्ट है कि तत्त्वज्ञान कर्म-मीमांसा से भिन्न है।

अब हम फिश्टे, शेलिंग और हेगेल द्वारा प्रतिपादित कांटोत्तर आध्यात्मिक वाद की ओर मुड़ते हैं। प्राक्कांटीय अनुभववाद एवं कांटीय दर्शन के विरोध में इस सम्प्रदाय में ध्यान देने योग्य बात यह है कि वह तत्त्वज्ञान को उसके अपने प्राचीन सम्मानित पद पर आरूढ़ करता है। अर्थात्, वह तत्त्वज्ञान को दर्शन का सर्वोच्च तन्त्र बनाता है और ज्ञान-मीमांसा और कर्म-मीमांसा दोनों को उसके अधीन करता है।

अब, कांटोत्तर अध्यात्मवाद के अनुसार परमात्मा एक ऐसा पूर्ण (Complete Whole) है जिसमें सबका समावेश होता है। वही वास्तविक रूप में अनन्त है क्योंकि उससे बाहर कुछ भी विद्यमान नहीं है। वह आध्यात्मिक भी है क्योंकि उसमें आत्मा और विषय एक सरूप (concrete) अनुभव में संयुक्त हैं। इस प्रकार परमात्मा स्वयं पूर्णतया आत्म-सन्तुष्ट है।

किन्तु, कांटोत्तर अध्यात्मवादियों का यह भी विश्वास है कि यद्यपि परमात्मा स्वयं आत्मसन्तुष्ट है, तथापि वह आत्मतुष्यमाण भी है। अर्थात्, परमात्मा में अपने आपको ससीम जगत् में अभिव्यक्त करने की प्रवृत्ति विद्यमान है। परमात्मा की आत्माभिव्यक्ति की क्रिया फिश्टे और हेगेल के अनुसार, त्रिविध गति में अग्रसर होती है। परमात्मा को ससीम आत्मा के रूप में अभिव्यक्ति इस क्रिया का प्रथम चरण है। दूसरे चरण में, परमात्मा अपने

आपको अनात्मा के रूप में आत्मा के विरोध में उपस्थित करता है। तृतीय क्षण में, आत्मा और अनात्मा में क्षणिक समन्वय हो जाता है। यह समन्वय फिर से उपर्युक्त प्रकार की त्रिविध गति का आरम्भ-बिन्दु बनता है, किन्तु अब यह गति ऐसे समन्वय में पर्यवसित होती है जो कि पूर्ववर्ती समन्वय की अपेक्षा उन्नत है। इस प्रकार, सारी क्रिया हमें आत्मा और अनात्मा के प्रथम संयोग के अत्यन्त प्राथमिक और सादे अनुभव से स्वयं परमात्म-साक्षात्कार के सर्वोच्च और सर्वव्यापी अनुभव तक पहुँचा देती है। परमात्मसाक्षात्कार की इस क्रिया को हेगेल dialectic कहता है।

यहाँ ध्यान देने योग्य महत्त्वपूर्ण बात यह है : वह परमात्मा जो स्वयं पूर्णतया आत्म-सन्तुष्ट है आत्मतुष्यमाण कैसे हो सकता है? अर्थात्, जो परमात्मा अचल है, उसे चलता क्यों धारण करनी पड़ती है? फिश्टे इस प्रश्न का उत्तर यह कहकर देता है कि परमात्मा की आत्माभिव्यक्ति की क्रिया हमारी आत्मा के *नैतिक प्रयत्न* से मिलती-जुलती है जब कि हेगेल उसी क्रिया को *तर्क का एक क्षण* (Logical moment) मानता है। अब, ये दोनों उत्तर अपर्याप्त हैं इसलिये कि आत्मा के व्यावहारिक और सैद्धान्तिक पक्ष आत्मा में किसी अपूर्णता की अपेक्षा करते हैं। अपनी इच्छा की पूर्ति करने का उपक्रम परिवर्तन की अपेक्षा करता है। किन्तु परिवर्तन अपूर्णता का द्योतक है। अतः यदि परमात्मा की आत्माभिव्यक्ति की क्रिया आत्मा के सैद्धान्तिक अथवा व्यावहारिक प्रयत्नों जैसी है, तब तो परमात्मा को अपूर्ण और सदोष

होना चाहिए। किन्तु उसकी कल्पना वैसी नहीं है। इस प्रकार परमात्मा के अचल और चल पक्षों का सम्बन्ध असंगति-पूर्ण है। उन दोनों के बीच एक गहरी खाई है। यहीं कांटोत्तर अध्यात्म-वाद का मूल दोष है।

हेगेल के पश्चात्, दर्शन में अभिनव-स्वातन्त्र्यवाद (Neo-Romanticism) का बोलबाला हुआ। यह सम्प्रदाय हेगेलीय दर्शन के प्रति प्रतिक्रिया के रूप में उपस्थित होता है। उसका मुख्य कथन यह है कि हेगेलीय दर्शन सत्ता को अचल मानता है। बुद्धि, जो हेगेल की अधिष्ठात्री थी, हमारे अनुभव के वस्तुवृत्तों के सामान्य गुणों पर ही ध्यान देती है और पृथक्करण की एक क्रिया द्वारा उन्हें परिकल्पनाओं में घनीभूत कर देती है। सत् का परिवर्तनशील स्वरूप हमारी बुद्धि की पकड़ के बाहर है। सत्ता के चल स्वरूप को आकलन करने के लिये अभिनव-स्वातन्त्र्यवादी कहते हैं कि बुद्धि को छोड़कर हमें भावना अथवा कर्म का आश्रय लेना चाहिये।

वस्तुतः, अभिनव-स्वातन्त्र्यवादी कांट की *कर्म-बुद्धि की मीमांसा* को अपनी स्फूर्ति का स्रोत मानते हैं। जैसा कि हम बतला चुके हैं, कांट ने अपनी इस *मीमांसा* में हमारे व्यावहारिक पक्ष (practical aspect) को सैद्धान्तिक पक्ष (theoretical aspect) की अपेक्षा अधिक महत्त्व दिया है और उसी को सत्ता का आधार-भूत तत्त्व माना है। व्यावहारिक पक्ष को महत्त्व देने की यही प्रवृत्ति फिश्टे के दर्शन में भी दिखलाई पड़ती है। क्योंकि वह भी

कहता है कि आत्मा की सृजनशीलता केवल उसके व्यावहारिक पक्ष के लिये ही नहीं, अपितु सैद्धान्तिक पक्ष के लिये भी महत्त्वपूर्ण है। अतः, आत्मा की सृजनशीलता ही फिश्टे के अनुसार अन्यतम सत्ता-विषयक तत्त्व है और इसीलिये फिश्टे के दर्शन का नाम नैतिक अध्यात्मवाद पड़ा।

अभिनव-स्वातन्त्र्यवादी भी, कांट और फिश्टे के समान, आत्मा के भावना और कर्म-मूलक पक्ष को सर्वोच्च तत्त्व के पद पर आरूढ़ करता है। यह प्रवृत्ति शोपेनहार के दर्शन में स्पष्ट दिखलाई पड़ती है। शोपेनहार के अनुसार, अन्ध-इच्छा (Blind Will) ही जग का आधारभूत तत्त्व है। इतःपर व्यावहारिक पक्ष को सर्वोच्च मानने की प्रवृत्ति स्वातन्त्र्यवाद के सारे रूपों का मुख्य लक्षण बन गई। स्वातन्त्र्य-दर्शन (French Philosophy of Freedom) उपयोगितावाद (Pragmatism), मूल्य-दर्शन (Philosophy of Values) आदि सबमें उसकी अभिव्यक्ति हुई है। बौद्धिक तत्त्वों की ओर दुर्लक्ष्य किया जाने लगा और वे जीवन-क्रिया में हमारा मार्ग-दर्शन करने के लिये उपयोगी मान्यता-मात्र समझे जाने लगे।

स्वातन्त्र्यवादी दार्शनिकों को सत्ता के उस चल पक्ष को प्रकाश में लाने का श्रेय है जिसकी ओर अभी तक किसी का ध्यान नहीं गया था। भावना और इच्छा, जो कि बुद्धि की समकक्ष अन्य शक्तियाँ हैं, सत्ता-विषयक किसी भी सिद्धान्त में उपेक्षणीय नहीं हैं।

किन्तु, यदि हम सत्ता को समस्त वस्तुजात की सर्वव्यापी एकता मानें, तो हमें यह समझने में अधिक समय नहीं लगेगा कि अभिनव-स्वातन्त्र्यवादियों का तरीका गलत और एकांगी है। यह जानकर कि बुद्धि सत्ता की व्याख्या करने में असमर्थ है, अभिनव-स्वातन्त्र्यवादियों ने भावना और इच्छा को सर्वोच्च स्थान दिया है और बुद्धि को नजरन्दाज़ कर दिया है। किन्तु यह तो सत्ता का एकांगी दर्शन है। क्योंकि, जब तक हम असंगतियों को डकार जाने के लिये तैयार न हों, तब तक हम सत्ता की, उसके एक विशिष्ट अंग को सर्वोच्च महत्त्व देकर और दूसरे अंगों को अंशतः अथवा पूर्णतया दबाकर व्याख्या नहीं कर सकते। वस्तुतः हेगेल के बुद्धिवाद से बचने के सिलसिले में, अभिनव-स्वातन्त्र्यवादी एक दूसरी गलती कर गये जिसे हम *तत्वज्ञान का कर्ममीमांसा से समीकरण* कह सकते हैं।

तत्त्वज्ञान को कर्म-मीमांसा का समवर्ती बनाना असम्भव है। यह इस बात से प्रमाणित हो जाता है कि अभिनव-स्वातन्त्र्यवाद की प्रणालियाँ सत्य के सारे अंगों का समन्वय करने में असफल रहती हैं। उदाहरणार्थ मूल्यदर्शन में असितव्य (Sollen) अस्तित्व (Sein) के प्रत्यक्ष विरोध में उपस्थित होता है। इसी प्रकार, बेर्गसों के दर्शन में जीवन और जड़ता का द्वंद्व दृष्टिगोचर होता है। पुनः उपयोगितावाद आत्यन्तिक स्वात्मकता (Subjectivism) और बहुत्ववाद (Pluralism) का आश्रय लेकर, हमें कोई सामन्वयिक तत्त्व देने में अपनी असफलता व्यक्त करता है।

इस प्रकार, अभिनव-स्वातंत्र्यवाद की एकांगिता ही इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है कि तत्त्वज्ञान का कर्म-मीमांसा से समीकरण अनुपयुक्त है।

ऊपर के पृष्ठों में, हमने प्रथम तत्त्वज्ञान का ज्ञान-मीमांसा से और तत्पश्चात् कर्म-मीमांसा से समीकरण करने के परिणामस्वरूप तत्त्व-चिन्ता के क्षेत्र में जो अराजकता मची हुई है उसकी उत्पत्ति और विस्तार का संक्षेप में वर्णन किया है। आलोचना-खण्ड में हम इस अराजकता के भिन्न-भिन्न रूपों पर अधिक स्पष्टता से प्रकाश डालने का प्रयत्न करेंगे।

प्राक्कांटीय अनुभववाद

प्राक्कांटीय अनुभववाद की उत्पत्ति इँग्लैण्ड में हुई। अनुभववाद मूलतः कार्तेशियन दर्शन की अन्धश्रद्धा की प्रतिक्रिया से उद्भूत है। पिछले अध्याय में हमने यह बतलाया है कि प्रारम्भ में देकार्ते ने मध्ययुगीन अन्धश्रद्धा से दर्शन को मुक्त करने के लिये किस प्रकार सर्वशंका के तत्त्व का आश्रय लिया और किस प्रकार देकार्ते स्वयं अन्त में उसी अन्धश्रद्धा का एक शिकार बन गया। किन्तु जिस प्रकार प्रकाश और अन्धकार का सामानाधिकरण्य होना असम्भव है उसी प्रकार दर्शन और अन्धश्रद्धा भी एक साथ नहीं रह सकते। अनुभववाद के मूल उन्नायक जॉन लॉक ने कार्तेशियन दर्शन को अन्धश्रद्धा से अभिभूत देखकर अपने अनुभववाद द्वारा पुनः दर्शन को उससे मुक्त करने की चेष्टा की है।

लॉक ने अपने *Essay concerning Human Understanding* में अनुभववाद का प्रतिपादन किया है। ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही दिये हुए अपने Epistle to the Reader में लॉक ने उस परिस्थिति को बतलाया है जिसके कारण वह अपने ग्रन्थ को लिखने के लिये उद्यत हुआ :—

"यदि इस निबन्ध का इतिहास कहकर तुम्हें कष्ट दूँ, तो मैं तुमसे कहता हूँ, कि मेरे कमरे में पाँच या छः मित्र बैठकर किसी विषय पर बातचीत करते हुए चारों ओर से आनेवाली आपत्तियों के

कारण किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो गये। हमको कष्ट देनेवाली शंकाओं के निरसनार्थ किये गये प्रयत्नों द्वारा जब हम किसी तत्त्वबोध पर न पहुँच सके, तब मेरे मन में आया कि हमने ग़लत राह ली और यह कि इन विषयों की जाँच करने के पूर्व, हमारे लिये यह आवश्यक है कि हम अपनी ताक़त की परीक्षा कर लें और देखें कि हमारी ज्ञानशक्ति किन विषयों को जान सकती है और किन विषयों को नहीं। यह बात मैंने मंडली के सामने रखी और जिसे एकदम स्वीकार कर लिया गया; तदनन्तर यह निश्चित हो गया कि हमारी जाँच का यही विषय होगा।"[1]

कुछ आगे चलकर लॉक अपने ग्रन्थ लिखने के उद्देश्य को और भी स्पष्ट रूप से दुहराता है:—

"*इस निबन्ध का कारण* : मानव-ज्ञान-विषयक निबन्ध की उत्पत्ति का कारण यह था। क्योंकि मैंने सोचा कि इन अनेक शंकाओं का, जो हमारे मन में आती हैं, समाधान करने की ओर पहला कदम होगा हमारी बुद्धि की परीक्षा करना, उसकी शक्ति की जाँच करना और देखना कि वह कहाँ तक काम दे सकती है। जहाँ तक यह नहीं किया जाता तब तक मुझे सन्देह है कि हम ग़लत सिरे से प्रारम्भ करते हैं।........"

"इस प्रकार अपने विचारों को अपनी शक्ति के बाहर ले जाने से और उन्हें ऐसी गहराइयों में भटकने देने से जहाँ कि उन्हें कोई आधार न मिले, कोई आश्चर्य नहीं कि मनुष्यों ने ऐसे प्रश्न और इतने झगड़े खड़े किये हैं जिनका कभी अन्त न होने के कारण, उनका वैसा ही जारी रहना और शंका की वृद्धि करना और मनुष्यों को नास्तिकता की ओर ले जाना योग्य है। यदि हमारे ज्ञान की शक्ति पर सम्यक्

---

[1] *An Essay Concerning Human Understanding*, by John Locke, Bohn's Standard Library Series, Vol. I P.118.

विचार हुआ होता, हमारे ज्ञान के विस्तार का आकलन किया हुआ होता और वस्तुओं के उन उजियाले और अँधेरे भागों को, जो कि अस्ति और नास्ति के बीच रहते हैं, सीमित करनेवाला क्षितिज हमारे द्वारा जान लिया गया होता तो मनुष्य किसी हिचकिचाहट के बिना एक प्रकार के विषयों के बारे में अपना अज्ञान व्यक्त करता और अपने विचार एवं वादविवाद का उपयोग अधिक लाभ और समाधान के साथ दूसरे विषयों के लिये करता।"[२]

उपर्युक्त दो उद्धरणों को पढ़कर, लॉक के प्रारम्भिक उद्देश्य के विषय में कोई शंका नहीं रह जाती। इन उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि लॉक की यह मूल सदिच्छा थी कि दर्शन को अन्धश्रद्धा से मुक्त किया जाय। इस कार्य को संपन्न करने के लिये लॉक ने जिस उपाय की योजना की है वह भी सर्वथा उपयुक्त है। लॉक के कथनानुसार जब तक हम अपने अनुभव की यथोचित मीमांसा नहीं कर लेते हैं तब तक हमें यह जानने का कोई निश्चित साधन नहीं मिलता कि हमारा अमुक विचार यथार्थ है अथवा अयथार्थ। लॉक के अनुसार, कार्तेशियन दर्शन का एकमात्र दोष यही है कि वह बुद्धि के सामर्थ्य का यथोचित परिज्ञान कराये बग़ैर ही दार्शनिक तत्त्वों का प्रतिपादन करने लगा। देकार्ते के दर्शन में अंधश्रद्धा घुस आने का एकमात्र कारण, जैसा कि हम ऊपर बतला चुके हैं, यही है।

लॉक के अनुसार, देकार्ते की बुद्धि-सामर्थ्य-विषयक त्रुटि

---

[२] *Ibid* 1. i. 7.

उसके स्वयंसिद्ध विचारों के सिद्धान्त में स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होती है। देकार्ते यह मानता है कि हम केवल बुद्धि के द्वारा ऐसे सत्य प्राप्त कर सकते हैं जो स्वयंसिद्ध होते हैं और जिनको प्रमाणित करने के लिये हमें इंद्रियजन्य अनुभव का आश्रय लेने की यत्किंचित् आवश्यकता नहीं पड़ती। ऐसे तत्त्व नैसर्गिक रूप से प्रत्येक मनुष्य की बुद्धि में अन्तर्हित होते ही हैं। उदाहरणार्थ, सैद्धान्तिक (Speculative) स्वयंसिद्ध सत्यों में से "जो कुछ है, है"; "एक ही वस्तु का एक साथ होना और न होना असम्भव है" आदि, और व्यावहारिक (Practical) स्वयंसिद्ध सत्यों में से ईश्वर-विषयक श्रद्धा, न्याय, नैतिक नियम, सद्गुण आदि मानव-बुद्धि में निसर्गतः अन्तर्हित होते हैं। उन्हें बाह्य अनुभव से स्पष्ट करना-मात्र रह जाता है।

लॉक देकार्ते की उपर्युक्त विचार-सरणी का विरोध करता है। उसके अनुसार हमारी बुद्धि में कोई निसर्गसिद्ध, स्वयं-प्रमाण विचार नहीं होते। हमारा मन एक कोरे कागज की तरह होता है। ज्यों-ज्यों बाह्य जगत् की वस्तुओं से संवेदना द्वारा उसका सम्बन्ध बढ़ने लगता है, त्यों-त्यों उसके अनुभव में वृद्धि होती है। मूलतः मनुष्य की बुद्धि सर्वथा विचारहीन होती है। उसमें विचार देने की क्षमता बाह्य जगत् की वस्तुओं के प्रत्यक्ष अनुभव द्वारा ही उत्पन्न होती है।[3]

---

[3] स्वयं-प्रमाण एवं निसर्ग-सिद्ध तत्त्वों और विचारों के सिद्धान्त पर आलोचना करते हुए लॉक लिखता है:—"No proposition can be

किसी प्रकार की अन्ध-श्रद्धा को तत्त्व-चिन्ता के क्षेत्र में न घुसने देने के हेतु, लॉक ने इस बात पर जोर दिया कि कोई भी विचार अथवा कोई भी वस्तु तब तक सत्य अथवा प्रमाणभूत न मानी जाय जब तक हम उसे अपने अनुभव द्वारा वैसी न जान लें। लॉक की यह स्थापना प्राक्कांटीय अनुभववाद का मूलभूत तत्त्व है। बेकन ने प्राकृतिक वैज्ञानिकों के मार्ग-दर्शन के हेतु जब विशिष्ट नियमों को बनाया था, तब उसने इसी तत्त्व का अङ्गीकार किया था। किन्तु दर्शन के क्षेत्र में इस तत्त्व को लागू करने का सर्व-प्रथम श्रेय लॉक ही को है। अपने *Essay* में उसने यह स्पष्ट

---

innate, since no ideas are innate:—Whatever then we talk of innate, either speculative or practical principles, it may with as much probability be said that a man hath £ 100 sterling in his pocket, and yet denied that he hath either, penny, shilling, crown or other coin, out of which the sum is to be made up, as to think that certain propositions are innate, when the ideas about which they are can by no means be supposed to be so. The general reception and the assent that is given, doth not at all prove that the ideas expressed in them are innate; for in many cases, however, the ideas come there, the assent to words expressing the agreement or disagreement of such ideas, will necessarily follow. Every one that hath a true idea of God and worship will assent to this proposition that "God is to be worshipped," when expressed in a language he understands; and every rational man that hath not thought on it to-day, may be ready to assent

रूप से कहा है कि जब तक हम पहिले अनुभववाद की विधि के द्वारा अपने ज्ञान का उद्गम, विस्तार और मर्यादा निश्चित न कर लें, तब तक दर्शन के लिये यह जानना कठिन है कि उसकी स्थापनाएँ सत्य हैं अथवा अन्ध-श्रद्धात्मक[४]। अतः लॉक का *Essay* आधुनिक तत्त्वचिन्ता में ज्ञान की वैज्ञानिक मीमांसा की ओर सर्वप्रथम प्रयास है। अर्थात् लॉक ने ज्ञान की समस्या को दर्शन के क्षेत्र में सबसे अधिक महत्त्व दिया।

---

to this proposition to-morrow; and yet millions of men may be well supposed to want one or both those ideas to-day. For if we will allow savages and most country people to have ideas of God and worship (which conversation with them will not make one forward to believe, yet I think few children can be supposed, to have those ideas) which therefore they must begin to have sometime or other; and then they will also begin to assent to that proposition and make very little question of it ever after. But such an assent upon hearing no more proves the ideas to be innate than it does that one born blind (with cataracts which will be couched to-morrow) had the innate ideas of the sun, or light, or saffron, or yellow, because when his sight is cleared he will certainly assent to this proposition "that the sun is lucid or that saffron is yellow," and therefore if such an assent upon hearing cannot prove the ideas innate, it can much less the propositions made up of those ideas ...(*Eassy*, 1. iv. 19)

[४] लॉक की प्रस्तावना (*Essay* की) के पैरे २ और ८ देखिए।

आलोचक[५] प्रायः लॉक को ज्ञान-मीमांसा में आलोचनात्मक विधि की अपेक्षा मनोवैज्ञानिक विधि का आश्रय लेने के विषय में दोष देते हैं। उनकी आलोचना *Essay* में उपलब्ध विचारों के वर्गीकरण को लक्ष्य करके की जाती है। उनका विश्वास है कि विचारों और संवेदनाओं के विभिन्न प्रकारों का वर्गीकरण करना ज्ञान-मीमांसा का कार्य नहीं किन्तु मनोविज्ञान का कार्य है। लॉक के सिर यह दोष मढ़ना अनुचित है। वस्तुतः लॉक ही पहिला दार्शनिक है जिसने दर्शन में आलोचनात्मक विधि (Critical method) को उपयोग में लाने का प्रयत्न किया है। कांट की *शुद्ध बुद्धि की मीमांसा* पर अपनी प्रसिद्ध टीका में रील (Riehl) ने भी इस बात का समर्थन किया है। उसने बतलाया है कि लॉक का *Essay* ज्ञानशक्ति की सर्वप्रथम मीमांसा है और उसे वह *आंग्ल शुद्ध बुद्धि की मीमांसा* कहता है। अपरंच, स्वयं लॉक विचारों अथवा संवेदनाओं को मनोवैज्ञानिक की तरह नहीं लेता। उसके अनुसार वे ज्ञाता को ज्ञेय जगत् की अभिव्यक्ति कराने के साधन हैं। लॉक ने जहाँ भी "Idea" शब्द का उपयोग अपने *Essay* में किया है वह इसी अर्थ में कि वह ज्ञान-शक्ति का घटक है, न कि केवल कोई मानसिक परिवर्तन। अतः लॉक को उस विधि के विषय में दोष नहीं लगाया जा सकता जिसे वह मानवीय ज्ञान की शक्ति के विश्लेषण के सिलसिले में उपयोग में लाया था।

---

[५] इसके सम्बन्ध में Caird की *The Critical Philosophy of Kant*, Vol. 1 pp. 813) देखिये।

लॉक की कमजोरी दूसरी जगह मिलती है। वह इस बात में पैदा होती है कि लॉक हमें ज्ञान मीमांसा देने के अपने मूल उद्देश्य को मजबूती के साथ स्थिर न रख सका। *Essay* लिखने के सिल-सिले में, लॉक अपनी मीमांसा की मर्यादा भूल गया, और जैसी कि उसकी मूल कल्पना थी, ज्ञान-मीमांसा को दर्शन की प्रस्तावना न मानते हुए वह उसे ही सब कुछ मानने लगा। अर्थात् लॉक की विचार-धारा में तत्त्वज्ञान का ज्ञान-मीमांसा से तादात्म्य करने की प्रवृत्ति दिखलाई पड़ने लगी। हमें अब यह देखना है कि तत्त्वज्ञान और ज्ञान की मीमांसा का तादात्म्य लॉक के *Essay* में किस प्रकार हुआ है।

सर्वप्रथम लॉक की ग़लती की शुरुवात अनुभववाद के मूल तत्त्व का अर्थ अनुचित रूप से लगाने में होती हैं। अनुभववाद का मूल तत्त्व है कि अनुभव ही सत्ता की कसौटी है। अब, 'अनुभव' शब्द के दो अर्थ होते हैं, एक व्यापक और दूसरा संकुचित यह भेद हमें यों समझ में आ सकता है।

इस पुस्तक के रचनात्मक खंड में हमने यह बतलाने का प्रयत्न किया है कि सत्ता स्वयं अरूप और अनिर्वचनीय है। किंतु अपनी सृजनशील प्रवृत्ति के कारण वह अपने आपको रूप में आविर्भूत करती है। अरूप का रुपविन्यास दो भिन्न मार्गों में होता है। एक बाह्य जगत् में और दूसरा अन्तर्जगत् में। अब हमारी ज्ञान शक्ति की पहुँच केवल बाह्य जगत् तक ही होती है। सत्ता का आत्मरूप तथा उसका अन्तर्जगत् में रूपविन्यास ज्ञान की

मर्यादा के बाहर है । ये दोनों स्वानुभूति (Intuition) द्वारा अधिगम्य हैं ।

अब अनुभव में हम प्रथमतः ज्ञान और स्वानुभूति, दोनों का ही अंतर्भाव कर सकते हैं । यह अनुभव शब्द का अत्यन्त व्यापक अर्थ है । अथवा वही शब्द केवल ज्ञान का समानार्थक माना जा सकता है । यह है उस शब्द का संकुचित अर्थ । ऐसी स्थिति में 'अनुभव' में स्वानुभूति-विषयक कोई भी बोध समाविष्ट नहीं हो सकता ।

किसी भी ज्ञान-मीमांसक को 'अनुभव' के उपर्युक्त दोनों अर्थों को ठीक-ठीक समझ लेना आवश्यक है । अपने व्यापक अर्थ में, 'अनुभव' शब्द इतना दोषयुक्त नहीं है । किन्तु वही जब अपने संकुचित अर्थ में लिया जाता है तब ज्ञान-मीमांसा और तत्त्वज्ञान में भ्रम पैदा करा सकता है । इसका कारण यह है कि ज्ञानशक्ति, जिसे ज्ञानमीमांसक लेकर चलता है, न तो अरूप सत्ता का बोध करा सकती है और न अन्तर्जगत् ही का । अतः यदि ज्ञान ही को सत्ता की एकमात्र कसौटी मान ली जाय तो ऐसी अवस्था में तत्त्वज्ञान और अंतर्जगत् इन दोनों को कोई अवकाश नहीं मिल सकता । दूसरे शब्दों में, ऐसी परिस्थिति में ज्ञान-मीमांसा तत्त्वज्ञान और अंतर्जगत् के समस्त अधिकारों को कुचलकर दर्शन की एकमात्र स्वामिनी बन जायगी ।

यह विश्वास करने के लिये हमारे पास काफी प्रमाण है कि

अपने सारे *Essag* में लॉक 'अनुभव' को 'ज्ञान' का समानार्थक मानता है। इस संबंध में निम्नांकित उद्धरण ध्यान देने योग्य हैं।

"कल्पना कीजिये कि मन एक सफ़ेद कागज़ की तरह है, लक्षण-शून्य, विचार-शून्य, उसमें विचार किस प्रकार आते हैं? इस पर मेरा एक शब्द में उत्तर है, अनुभव से। इसी अनुभव पर हमारा ज्ञान अधिष्ठित है और उसी से वह उत्पन्न होता है। बाह्य संवेद्य विषयों के संबंध में अथवा अपने मन की उन क्रियाओं के विषय में जो हमारे द्वारा देखी गई और मनन की गई हों हमारा अवलोकन ही हमारी बुद्धि के लिये चिंतन की सारी सामग्री देता है।"[६]

इस उद्धरण में लॉक ज्ञान के दो विभिन्न प्रकार बतलाता है। एक तो है 'संवेदना' जो हमें बाह्य संवेद्य वस्तुओं का परिज्ञान कराती है। दूसरा है अपने मन की आंतरिक क्रियाओं के विषय में 'चिंतन'। 'संवेदना' के विषय में हमें कोई शंका नहीं हो सकती। प्रश्न केवल 'चिंतन' के विषय में उत्पन्न होता है। 'चिंतन' का स्वरूप बतलाते हुए लॉक कहता है: "दूसरा स्रोत, जिससे बुद्धि में विचार आते हैं, हमारे अन्तर्गत मन की क्रियाओं का अवलोकन है.........और ऐसी क्रियाएँ अवलोकन, विचार, शंका, विश्वास, तर्क, ज्ञान, इच्छा और हमारे मन के भिन्न कार्य-विषयक होती हैं अतएव विचारों के इस स्रोत को अन्तरिंद्रिय कह सकते हैं। किंतु जिस प्रकार मैं दूसरे स्रोत को संवेदना कहता हूँ उसी प्रकार इस स्रोत को मैं चिंतन कहता हूँ।"[७]

---

६ *Essay*, II. i. 2.
७ *Essay*, II. i. 4.

इस उद्धरण से यह स्पष्ट है कि 'चिन्तन' से लॉक का मतलब संवेदनाओं से प्राप्त विचारों पर मनन करना-मात्र है। 'चिन्तन' की क्रिया हमें संवेदना द्वारा प्राप्त ज्ञान के बाहर नहीं ले जाती, किन्तु उसी के अन्दर सीमित रखती है। दूसरे शब्दों में, चिन्तन द्वारा प्राप्त ज्ञान संवेदनाजन्य ज्ञान से व्यतिरिक्त नहीं, अपितु उसका ही एक अनुबन्ध है। अपने *Essay* के .IV i. 1. में लॉक ने यह स्पष्ट कहा है कि हमारा ज्ञान केवल संवेदनाजन्य वस्तुओं (जिन्हें लॉक ideas कहता है) तक ही सीमित हैं।

> "हमारा ज्ञान हमारे विचारों को जानता है : चूँकि मन का उसके सारे विचारों और तर्कों में उसके उन विचारों के अतिरिक्त और कोई प्रत्यक्ष विषय नहीं होता जिन पर वह स्वयं मनन करता है, इसलिए यह स्पष्ट है कि हमारा ज्ञान केवल उन्हीं को जानता है।[८]

इस प्रकार, अनुभव के दोनों स्रोत, संवेदना और चिंतन, हमें ज्ञान की शक्ति के बाहर नहीं ले जाते। अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि लॉक के अनुसार, अनुभव में इन्द्रिय-ज्ञानावबोधित वस्तुओं के अतिरिक्त और कुछ भी अन्तर्भूत नहीं है। ठीक इसी बात के कारण लॉक दर्शन में ज्ञान-मीमांसा को ऐकान्तिक प्रभुत्व देने के लिये विवश हो जाता है। क्योंकि, जैसा कि हम पहले बतला चुके हैं, 'अनुभव' 'ज्ञान' का समानार्थक माना जाने पर तत्त्वज्ञान को निश्चय ही बहिष्कृत करता है।

किन्तु तत्त्वज्ञान (ontology) को बहिष्कृत करना इतना

---

८ *Essay*, IV. i. 1

आसान नहीं है। इस बात का प्रमाण अंशतः हमें लॉक के प्रधान और गौण गुणों के सिद्धान्त में मिलता है। 'गुण' से लॉक का आशय है—"वह शक्ति जो हमारे मन में विचार उत्पन्न कर सके।" "प्रधान गुण" वे हैं जो "वस्तु से, फिर वह कुछ भी हो, बिलकुल पृथक् न हो सके : यथा...... घनत्व, विस्तार, आकृति, गति, स्थैर्य और संख्या।" इसके विपरीत गौण गुण वे हैं "जो वस्तुतः स्वयं पदार्थों में नहीं होते, किन्तु पदार्थों के विभिन्न गुणों, जैसे परिभाषा, आकृति, बनावट और उनके असंवेद्य अंशों की गति द्वारा हममें विभिन्न संवेदनाएँ उत्पन्न करने की शक्ति रखते हैं, यथा रंग, शब्द, रस इत्यादि, इन्हें मैं गौण गुण कहता हूँ।" कुछ आगे चलकर लॉक पुनः कहता है,"...... पदार्थों के प्रधान गुणों के विचार उनके प्रतिबिम्ब हैं और उनके बिम्ब स्वयं पदार्थों में रहते हैं; किन्तु हम में इन गौण गुणों द्वारा उत्पादित विचार पदार्थों के कोई प्रतिबिम्ब नहीं होते।"[१]

उपर्युक्त उद्धरण इस बात को पर्याप्त रूप से प्रमाणित करते हैं कि सत्ता में कुछ तो *भी अंश* ऐसा है जो केवल विचारों द्वारा आकलनीय नहीं है। नहीं तो हम लॉक के प्रधान और गौण गुणों के भेद की क्या व्याख्या दे सकते हैं ? डॉ० ह्वाइटहेड के अनुसार इस सिद्धान्त को "द्विभंगीकरणवाद" (bifurcation theory) भी कहा जा सकता है। अर्थात्, इस सिद्धान्त के द्वारा प्रकृति दो

---

[१] इस पैराग्राफ़ के समस्त उद्धरण *Essay* II. 8. 8. से लिये गये हैं।

भागों में बँट जाती है,—एक तो "मन का ही खेल bypl ay of mind के जैसा है जिसमें वृक्षों की हरीतिमा, विहगों के गान, सूर्य की उष्णता, कुर्सियों की कठोरता और मखमल का स्पर्श अन्तर्भूत है" और दूसरे में उस सबका अन्तर्भाव है जो वस्तुओं को सत्ता प्रदान करता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रधान गुणों की कल्पना में वह सत्ता, जिसका लॉक ने ज्ञान से तादात्म्य कर दिया था, उससे अपनी स्वतन्त्रता को अभिव्यक्त करने की चेष्टा करती है।

ज्ञान-मीमांसा और तत्त्व-ज्ञान के बीच लॉक का दोलन उसके जडाधिष्ठान के सिद्धान्त (doctrine of material substance) में और भी अधिक स्पष्टता से व्यक्त होता है। जडाधिष्ठान के विषय में लॉक का कथन है :

> "जिसे हम अधिष्ठान (substance) कहते हैं वह उन गुणों के काल्पनिक किन्तु अज्ञात आधार के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, जिनका अस्तित्व हमको प्रतीत होता है और जो उन्हें आश्रय देनेवाले किसी आधार के बिना नहीं रह सकते"[१०]

अपने जडाधिष्ठान के सिद्धान्त द्वारा लॉक वस्तुतः एक सत्ता-विषयक तत्त्व की ही कल्पना करता है। यहाँ हमें इस बात से विशेष सरोकार नहीं कि क्या लॉक का जडाधिष्ठान *यथार्थरूपेण* सत्ता-विषयक तत्त्व है अथवा नहीं। हमारे लिये मनोरंजक बात तो यह है कि जडाधिष्ठान सत्ता-विषयक तत्त्व है। वह कोई सरूप

---

१० *Essay* II. xxiii. 2.

अथवा 'संवेद्य' वस्तु नहीं है । वह तो, जैसा कि लॉक कहता है, एक अविज्ञेय और अतः हमारे ज्ञान में अन्तर्भूत रूपवान् पदार्थों का अरूप सार है । "इसलिये यदि कोई अपने शुद्ध अधिष्ठान-विषयक विचार के सम्बन्ध में सोचे तो उसे प्रतीत होगा कि उसे वह कुछ तो भी अज्ञात-विषयक कल्पना, ऐसे गुणों का आधार जो हम में साधारण विचार पैदा कर सकते हों, प्रतीत होगा ।......।"[११]

उपर्युक्त बातों से हम जान सकते हैं कि लॉक का जडाधिष्ठान वस्तुतः एक सत्तात्मक तत्त्व है । इस प्रकार लॉक के जडाधिष्ठान सिद्धान्त में तत्त्वज्ञान ने अपने आपको ज्ञान-मीमांसा के पँजे से छुटकारा पाने की चेष्टा की है ।

किंतु जडाधिष्ठान सिद्धान्त को प्रतिपादन करने के बाद शीघ्र ही लॉक तत्त्वज्ञान के अधिकार को भूल गया । इसका कारण यह है कि अनुभववाद के तत्त्व के अनुसार लॉक केवल उसी को वास्तविक सत्ता मानने के लिये बाध्य था जो हमारे ऐंद्रियानुभव के अंतर्भूत हो सके । तथापि जडाधिष्ठान अपनी उस अरूपता के कारण ज्ञान का विषय नहीं बनाया जा सकता था । अतः लॉक ने उसकी सत्ता को शंकात्मक माना । इस सबका परिणाम यह हुआ कि तत्त्वज्ञान अँधेरे में डाल दिया गया और ज्ञानमीमांसा का दर्शन में ऐकान्तिक प्रभुत्व स्थापित हो गया । लॉक का ज्ञानमीमांसा में प्रत्यावर्तन निम्नांकित उद्धरण में स्पष्ट हैः—

---

११ *Essay* II. xxiii. 2.

"१—हमारा ज्ञान हमारे विचारों को जानता है: चूँकि मन का उसके सारे विचारों और तर्कों में उसके उन विचारों के अतिरिक्त और कोई प्रत्यक्ष विषय नहीं होता जिन पर वह स्वयं मनन करता है, इसलिये यह स्पष्ट है कि हमारा ज्ञान केवल उन्हीं को जानता है।"[१२]

जडाधिष्ठान सिद्धांत की रूपरेखा *Essay* के II खंड में दी गई है और ऊपर का उद्धरण हमें IV खंड में मिलता है। और चूँकि इस उद्धरण में लॉक सत्ता को ज्ञान के अतिरिक्त किसी भी प्रकार की स्वतंत्रता देने से इन्कार करता है अतः उसका शुद्ध ज्ञानमीमांसा में प्रत्यावर्तन बिलकुल स्पष्ट है। इस प्रकार लॉक के दर्शन में तत्त्वज्ञान का पुनः-पुनः प्रत्यावर्तन होते हुए भी उसने अपने उस विश्वास के कारण कि अनुभव (ज्ञान के अर्थ में) ही सत्ता की कसौटी है, तत्त्वज्ञान की अवहेलना की। तत्त्वज्ञान के ज्ञान-मीमांसा से इसी तादात्म्य के कारण लॉक हमें ठोस दर्शन देने में असफल रहा।

हम अब बर्कले की ओर मुड़ते हैं। लॉक का अनुसरण करते हुए बर्कले कहता है कि हमारे ज्ञान के केवल दो ही साधन हैं: संवेदना और मन की आन्तरिक क्रियाओं के विषय में विचार। बर्कले का कथन है कि हमारे ज्ञान के विषय अपने आप ज्यों के त्यों किसी ज्ञाता की अनुभूयमानता के बिना स्वतन्त्ररूपेण नहीं रह सकते हैं। तथाकथित बाह्य जगत् के पदार्थ हमारी विभिन्न इन्द्रियों द्वारा प्राप्त संवेदनाओं के गुच्छ-मात्र हैं। बर्कले के प्रसिद्ध

---

१२ *Essay*, IV. i. 1.

सूत्र *Esse est percipi*—पदार्थों की सत्ता उनकी अनुभूयमानता पर आश्रित है—का यही अर्थ है।

बर्कले के सूत्र की भूमिका हमें लॉक के *Essay* ही में मिलती है। लॉक की 'विचार' की व्याख्या ही में हमें बर्कले के सूत्र की जड़ें छिपी हुई मिलेंगी। 'विचार' की व्याख्या करते हुए लॉक लिखता है :—

> "विचार का क्या अर्थ है ?:—विचार वह शब्द है जो मेरी राय में चिन्तन करते समय हमारे ज्ञान के किसी भी विषय के लिये आ सकता है। मैंने इसको आभास, कल्पना, प्रकार अथवा चिन्तन करने के समय मन जिन-जिन बातों को सोचता है उनके लिये काम में लिया है।"[13]

इस उद्धरण में 'विचार' शब्द लॉक एकदम संवेदनाओं के विषय तथा ज्ञाता की वैयक्तिक चेतना में आनेवाले स्वात्म (Subjective) आभास और कल्पनाओं के लिये उपयोग में लाता है।[14]

---

[13] *Essay* I. i. 8

[14] इस बात के अनौचित्य के विषय में फ्रेकर यों कहता है:—

"This use of idea, phenomenon or any other single term to express at once objective sense perception and the subjective thoughts or fancies which belong to the privacy of individual consciousness, is inconvenient, on account of the confusion it is apt to produce between our original presentation—experience in the external sense and the merely representation and often illusory mental states to which "idea" is popularly restricted—Locke overlooked this, in his wish to keep before his reader

ज्ञानतंत्र दर्शन के पक्षपाती बर्कले ने लॉक के 'विचार' शब्द का वह अर्थ जो मूल बिम्ब की ओर संकेत करता है, छोड़ दिया और केवल पदार्थ की ज्ञानक्रिया द्वारा उद्भूत प्रतिबिम्ब की ओर संकेत करनेवाले अर्थ ही का ग्रहण किया। यही कारण है कि बर्कले स्पष्ट रूप से कह सका कि वस्तुओं की सत्ता उनकी अनुभूयमानता ही है।

अपने ज्ञानतन्त्र-दर्शन-विषयक सिद्धान्त को प्रमाणित करने के लिये बर्कले ने लॉक द्वारा प्रतिपादित जडाधिष्ठान सिद्धान्त का खण्डन किया। जडाधिष्ठान की कल्पना लॉक ने इसलिये की थी कि उसके द्वारा वह बाह्य जगत् के स्वतन्त्र अस्तित्व-विषयक हमारे विश्वास की व्याख्या कर सके। जडाधिष्ठान एक अज्ञेय, अरूप कुछ तो भी था जो कि बाह्य जगत् के भिन्न वस्तु-वृत्तों का आधार माना जा सके। बर्कले इस सिद्धान्त का प्रत्याख्यान मुख्यतः दो कारणों से करता है। प्रथमतः जडाधिष्ठान का अस्तित्व न तो हमें संवेदना द्वारा अधिगम्य है और न हम उसे अपनी संवेदनाओं पर किये गये चिन्तन द्वारा प्राप्त करते हैं। किन्तु ज्ञान के केवल यही

---

the part played by sensient if not also by rational consciousness, in giving actuality to what could otherwise be only abstract and negative. So he did not scruple sometimes to call real things ideas, thereby meaning real things viewed as mentally transformed in becoming perceptions, instead of abstract entities in nature. (Berkeley.)

दो साधन हैं। अतः जडाधिष्ठान का सिद्धान्त एक अप्रमाणित कल्पना-मात्र है।[15]

दूसरे, बर्कले का कथन है कि लॉक का सिद्धान्त असंगत है। हम केवल अपने विचारों ही को जानते हैं! किन्तु लॉक ने इस बात की पुष्टि की है कि हमारे विचार के कुछ बिम्ब होते हैं, (architypes = बिम्ब) जिनका अस्तित्व हमारे मन से स्वतन्त्र है और जिनका हमारे विचार अनुहार करते हैं। इसके सम्बन्ध में बर्कले कहता है: "मैं पूछता हूँ कि क्या वे कल्पित बिम्ब अथवा वाह्य वस्तुएँ, जिनके चित्र अथवा अनुकृति ही हमारे विचार हैं स्वयं अवलोक्य हैं या नहीं? यदि वे अवलोक्य हों तो विचार हैं, और हमारी बात मान ली गई; किन्तु यदि आप यह कहें कि वे अवलोक्य नहीं हैं, तो मैं किसी को भी अपील करता हूँ कि क्या यह कहने में कुछ भी तथ्य है कि रंग किसी वस्तु के समान है जो कि अगोचर है; किसी वस्तु के समान कठिन या मृदु है जो कि अस्पर्श्य है; इत्यादि-इत्यादि।[16]

इसी प्रकार बर्कले प्रधान और गौण गुणों के सिद्धांत का भी निराकरण करता है। यह सिद्धान्त, जडाधिष्ठान सिद्धान्त की तरह, लॉक ने इसलिये प्रतिपादित किया था कि वह ज्ञान से व्यतिरिक्त सत्ता-स्वातन्त्र्य-विषयक हमारे विश्वास का निर्वाह कर सके। इसीलिये, जब कि गौण गुण ज्ञाता के मन पर आश्रित

[15] *Principles of Human Knowledge*. pt. 1. 4.

[16] *Ibid*, 1. 8.

माने गये, तभी प्रधान गुणों को स्वतन्त्र रूप से अस्तित्व रखनेवाला माना गया। अब, बर्कले के अनुसार, यह सिद्धान्त भी असंगति से पूर्ण है। उसकी मुख्य दलील यह है कि प्रधान और गौण गुणों का पृथक्करण असम्भव है। "अपने तईं मैं स्पष्ट रूप से अनुभव करता हूँ कि यह मेरी शक्ति के बाहर है कि मैं किसी विस्तृत और गतिमान् पदार्थ के विषय में विचार करूँ और उसे किसी प्रकार के वर्ण अथवा अन्य ऐसे संवेद्य गुण से संयुक्त न समझूँ जो कि मन में ही अस्तित्व रखनेवाला माना गया है। संक्षेप में, विस्तार, आकृति और गति ये समस्त गुणों से पृथक् होने पर अकल्पनीय हो जाते हैं। अतः यत्र-यत्र अन्य संवेद्य गुण विद्यमान होंगे तत्र-तत्र ये भी होंगे, अर्थात् मन में, अन्यत्र नहीं।"[१७] इस प्रकार बर्कले ने लॉक के काल्पनिक बहिर्वृत्त (hypothetical outer circle) को साफ़ उड़ा दिया।

अब, वे विभिन्न विचार जो हमें आते हैं किसी ज्ञाता की अपेक्षा रखते हैं।[१८] आध्यात्मिक कर्ता के अस्तित्व का एक दूसरा कारण भी है। बर्कले के अनुसार 'विचार' दिखने में निष्क्रिय हैं (visibly inactive) अर्थात्, वे स्वयं अपने आप एक दूसरे पर क्रिया अथवा प्रतिक्रिया करने में असमर्थ हैं। अतः किसी ऐसे आध्यात्मिक कर्ता के होने की आवश्यकता है, जो अपनी

---

१७ *Principles of Human Knowledge* I. 10

१८ *Ibid*, I. 2.

इच्छा-शक्ति द्वारा हमारे विचारों पर विभिन्न क्रियाओं को आजमाये। बर्कले ने मन को एक आध्यात्मिक अधिष्ठान (Spiritual substance) "एक निरवयव, अविभाज्य, सक्रिय-सत्ता" माना है, जो कि ज्ञानात्मिका और क्रियात्मिका प्रवृत्तियों का आधार बन सके।[१९] बर्कले ईश्वर के अस्तित्व की स्थापना निम्नांकित आधार पर करता है। हमारी संवेदनाएँ अपनी व्यवस्था और संगति के लिये व्यक्ति के कर्तृत्व पर अवलम्बित नहीं रहतीं। वे हम पर कहीं बाहर से लादी जाती हैं। अब, यह साधन जडाधिष्ठान नहीं हो सकता क्योंकि बर्कले इस कल्पना की निरर्थकता पहिले ही बतला चुका था। अतः संवेदनाएँ और उनकी व्यवस्था किसी दैवी मन अथवा इच्छा का कार्य होना चाहिये।[२०]

बर्कले के दर्शन के उपर्युक्त विवेचन से यह मालूम कर लेना आसान है कि बर्कले का दर्शन और कुछ नहीं बल्कि लॉक की ज्ञान-मीमांसा का ही सम्पूर्ण दर्शन में परिणत होना है। जडाधिष्ठान सिद्धान्त एवं प्रधान तथा गौण गुणों का सिद्धान्त ये दोनों ही, जैसा कि हम देख चुके हैं, लॉक के दर्शन में तत्त्वज्ञान के भग्नावशेष थे। इनका निराकरण करके बर्कले ने विशुद्ध ज्ञानतन्त्र दर्शन का प्रतिपादन किया है। बर्कले के दर्शन का आधारभूत तत्त्व *Esse est percipi* इस ज्ञानतन्त्र दर्शन का पक्का सबूत है। *Esse est percipi* के बर्कलेयन सिद्धान्त में छिपे हुए

---

१९ *Ibid.* 1. 27.

२० *Ibid.* 1. 27.

हेत्वाभास को प्रो० डॉज हिक्स ने बड़ी कुशलता से प्रकाश में लाने की चेष्टा की है। इस सम्बन्ध में निम्नांकित उद्धरण मनन करने योग्य है :—

"Berkeley was clearly entitled to assert that material things cannot be thought of as existing apart from a thinking mind. Just as we can see things only by turning our gaze upon them, so we can think of things only by directing our thought upon them. So much, certainly, may be affirmed without fear of contradiction. But it is quite another affair to maintain that material things cannot be thought of as existing-apart-from a thinking-mind. The former proposition merely of indicates that this, like every act of thinking presupposes a thinker; the latter implies that a thinking mind is an essential condition of the existence of that which is thought about. All that Berkeley's argument appears to me to have proved, if, indeed, it needed proving, is the first of these two propositions. This proposition must, however, be true. not merely if the existence of material things is dependent upon the fact of their being apprehended, but equally so if it is not. Whatsoever be the extent of the powers possessed by a cognising intelligence, they can in no case enable it to do more than to know as perfectly as is possible, they cannot enable to step outside the sphere of knowledge and to know things without knowing them. Yet an obvious length of sort surely decides nothing as to the nature of the things themselves: it affords not the slightest presumption that, in order to be, they must be known."[२१]

---

२१ *Berkeley*, Leader of Philosophy Series pp. 117. seq.

इस सारे उद्धरण का सार संक्षेप में यह है कि बर्कले का यह कहना सयुक्तिक नहीं कि चूँकि बाह्य जगत् हमारे अनुभव में आता है इसलिये वह बिना अनुभव किये स्वतंत्ररूप से अपना अस्तित्व रख ही नहीं सकता।

बर्कले द्वारा प्रतिपादित ईश्वर की कल्पना ही इस बात को बतलाती है कि सत्ता का ज्ञान से तादात्म्य होना असम्भव है। जैसा कि हम जानते हैं, बर्कले ने संवेदना के कारणरूप जडाधिष्ठान के अस्तित्व का निषेध किया था। किन्तु इसके होते हुए भी, बर्कले को उस बात के लिये कुछ-न-कुछ व्यवस्था करनी ही पड़ी, अन्यथा, संवेदना और कल्पना में किसी प्रकार का भेद रह ही नहीं सकता। अब, बर्कले के लिये अपनी प्रारम्भिक स्थापना के कारण संवेदना के कारण को अवलोकन से बाहर रखना असंभव था। किन्तु, अवलोकन निरन्तर ज्ञाता के मन का धर्म है। इस सम्बन्ध में ज्ञाता का मन व्यक्तिगत हो नहीं सकता क्योंकि वह संवेदनाओं में प्राप्य व्यवस्था और संगति देने में अक्षम है। अतः बर्कले ने उस अनन्त मन का, ईश्वर का, आवाहन किया ताकि वह हमारी संवेदनाओं का कारण बन सके। इसके द्वारा हम आसानी से समझ सकते हैं कि बर्कले की ईश्वर की कल्पना लॉक के जडा-धिष्ठान की कल्पना से बिलकुल अभिन्न है। क्योंकि ईश्वर और जडाधिष्ठान क्रमशः बर्कले और लॉक के दर्शन में एक ही जैसा कार्य सम्पन्न करते हैं—यह कार्य है बाह्य जगत् का *कारण* होना। इस प्रकार हमको प्रतीत होता है कि लॉक के जडाधिष्ठान और

प्रधान तथा गौण गुणों के सिद्धान्तों का निराकरण करके बर्कले की सत्ता का गला घोंटने की घोर चेष्टा के बावजूद भी उसका प्रयत्न पूर्णतया सफल नहीं रहा। ईश्वर के व्यक्तित्व में सत्ता ने फिर से अपना अस्तित्व प्रस्थापित किया है। इस प्रकार बर्कले के दर्शन में ईश्वर की कल्पना तत्त्वज्ञान को बहिष्कृत करने के निमित्त उसकी प्रतिहिंसा-मात्र है।

बर्कले ने स्वयं इस बात को महसूस किया है कि ज्ञानतन्त्र-दर्शन अनुपयुक्त है। क्योंकि उसकी अन्तिम कृतियों में, विशेषतः *Siris* में, उसने अपने *Principles* और *Dialogues* में प्रतिपादित ज्ञानतन्त्र दर्शन को छोड़ दिया और उसमें एक ऐसे विशुद्ध तत्त्वज्ञान के दृष्टिकोण का अङ्गीकार किया जो कि प्लेटो के अध्यात्मवाद से मिलता-जुलता है। *Siris* में बर्कले विचारों के जगत् को सत्तात्मक नहीं मानता। प्रो० डॉज़ हिक्स कहता है:—

> "In fact, so far as a theory of knowledge is concerned, the whole drift of Berkeley's later reflection was towards a dislodgment of sense perception from the place it occupied in the empirical theory, and, in conjunction therewith towards recognition of the essential function of conceptual thought in cognitive apprehension generally. Sense without thought, he is virtually urging in *Siris*, is blind.[२२]

ऐन्द्रियावलोकन की स्थिति (Status) विषयक दृष्टिकोण के परिवर्तन के साथ-साथ ही, बर्कले को अपनी प्राथमिक दार्शनिक

---

२२ *Berkeley* P. 210.

विचारधारा में दूसरा महत्त्वपूर्ण परिवर्तन करना पड़ा। *Principles* में, जैसा कि हमने बतलाया है, बर्कले ने 'विचारों' को पूर्ण सत्ता प्रदान की थी और उन्हें 'अध्यास' अथवा 'आभास' कहने के तरीके का विरोध किया था। वस्तुतः लॉक के जडाधिष्ठान सिद्धांत की आलोचना में बर्कले का यही मुख्य कथन था। किन्तु *Siris* में 'विचारों' के स्थान पर उसी 'आभास' शब्द का प्रयोग किया गया है। अपरंच, उसके इंद्रियों पर अंकित 'विचारों' की सत्ता-विषयक पुराने आग्रह के विपरीत, बर्कले ने 'आभासों' को छाया-मय अस्तित्व प्रदान किया है। अपने वास्तविक अर्थ में उनमें सत्ता का निषेध किया गया है।" सारे आभास आत्मा अथवा मन में, यों कहना चाहिये, दिखलावे-मात्र हैं।"[२३] आभास किस के दिखलावे हैं? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए, बर्कले *Siris* के अन्त में कहता है[२४] कि वे मन अथवा आत्मा में मन के अमूर्त काल्पनिक 'विचारों' के दिखलावे हैं। ये विचार 'ऐन्द्रिय विचार नहीं हैं। इसके विपरीत वे "अत्यन्त वास्तविक वस्तुएँ हैं, बौद्धिक और अचल, और अतः उन ऐन्द्रिय चल क्षणभंगुर विषयों से अधिक सत्ताशील हैं, जो कि, अचलता के अभाव में, विज्ञान के विषय नहीं हो सकते, फिर उनका बौद्धिक ज्ञान के विषय होना तो दूर रहा।" इस प्रकार बर्कले ने *Siris* में अपने प्राथमिक ज्ञान-तन्त्रात्मक दृष्टिकोण का पूर्णतया त्याग कर दिया और एक ऐसे

---

२३ *Siris*, Paras 251.

२४ *Ibid.* ,, 335—338

सत्ता-विषयक दृष्टिकोण का अङ्गीकार किया जो कि प्लेटो के आदर्शवाद (Theory of Ideas) की नव्य-प्लेटोनिक टीका के निकट है। बर्कले के दर्शन में ज्ञानतन्त्रात्मक दृष्टिकोण का सत्ता-विषयक दृष्टिकोण में परिवर्तन स्पष्टतया इस बात को बतलाता है कि स्वयं बर्कले को शुद्ध ज्ञानतन्त्रात्मक दर्शन से अरुचि उत्पन्न हो गई थी।

बर्कले की तत्त्वचिन्ता के अन्तिम पक्ष की ओर बाद में आनेवाले दार्शनिकों का ध्यान उतना आकर्षित नहीं हुआ। उसकी तत्त्वचिन्ता के प्रथम पक्ष ही को उसके वास्तविक दृष्टिकोण के प्रतिनिधित्व का श्रेय दिया गया। इसका परिणाम यह हुआ कि बर्कले द्वारा अपनी तत्त्वचिन्ता के प्रथम पक्ष में प्रतिपादित ज्ञान-तन्त्रदर्शन ने ही बर्कले के बाद की दार्शनिक विचारधारा को पुनः शीघ्रातिशीघ्र सत्ता-विषयक दृष्टिकोण लेने से रोका। लॉक और बर्कले का ज्ञान-तन्त्रदर्शन जिन बुरे परिणामों की ओर हमें ले जाता है वे सब बर्कले के अनन्तर आनेवाले ह्यूम के दर्शन में मिलते हैं। अब हम ह्यूम के दृष्टिकोण पर विचार करेंगे।

लॉक और बर्कले के अनुसार ह्यूम का यह विश्वास है कि हमारे अनुभव के दो साधन हैं—संवेदना और विचार।[२५] इन दोनों में अन्तर केवल यह है कि विचारों की अपेक्षा संवेदनाओं में अधिक शक्ति और स्पष्टता होती है।[२६] जो संवेदना अथवा विचारों से

---

[२५] *A Treatise of Human Nature.* Bk. I *Part* I

[२६] *Ibid* I. i. 1.

ज्ञेय नहीं वह सत्ताशील नहीं माना जा सकता। इस कसौटी को लेकर ह्यूम ने बर्कले के ईश्वर और आध्यात्मिक अधिष्ठान-विषयक सिद्धान्तों का निराकरण करने की चेष्टा की है।

बर्कले के आध्यात्मिक अधिष्ठान-सिद्धान्त के विषय में ह्यूम का कथन है कि तथाकथित आत्मा अथवा वैयक्तिक एकता का विचार न तो संवेदनाओं द्वारा प्रत्यक्ष रूप से जाना जा सकता है और न वह हमारे विचारों द्वारा ही अधिगम्य है।[२७] इस बात को अप्रत्यक्ष रूप से बर्कले भी मानता है। क्योंकि, विशेषतः *Siris* में उसने इस बात पर जोर दिया है कि आत्मा के संबंध में कोई 'विचार' नहीं होता किंतु हम उसके अस्तित्व के विषय में कल्पना (Nation) कर सकते हैं। किंतु ह्यूम के दर्शन में बर्कले की कल्पना के लिये कोई स्थान नहीं क्योंकि उसकी अनुभववाद-सूत्र द्वारा व्याख्या नहीं की जा सकती। अतः ह्यूम बड़ी रूक्षता से आध्यात्मिक अधिष्ठान के सिद्धान्त को निकाल बाहर करता है।

पुनः ईश्वर-विषयक सिद्धांत को अपने दर्शन में कायम रखने के लिये बर्कले के अनुसार एकमात्र यही आधार था कि वह मुख्यतः हमारी उन संवेदनाओं के कारण की आवश्यकता की पूर्ति करता है जिन्हें वह वैयक्तिक ससीम मन की इच्छाशक्ति पर आश्रित नहीं मानता। अतः जब तक पहिले कार्य-कारण-तत्त्व की आलोचना पर्याप्त रूप से नहीं हो जाती तब तक ईश्वर

---

२७ *Ibid* I. iv. 6

की कल्पना ठीक नहीं। फलतः ह्यूम सर्वप्रथम कार्य-कारण-समस्या के विषय में जाँच करना प्रारंभ करता है। ह्यूम की कार्य-कारण-आलोचना का विस्तृत विवेचन करना यहाँ अनुपयुक्त होगा। यहाँ इतना कहना पर्याप्त है कि ह्यूम अनेक सूक्ष्म दलीलों द्वारा यह बतलाने का प्रयत्न करता है कि अनपवाद अथवा नियति (Necessity) की कल्पना से संयुक्त कार्य-कारण-तत्त्व एक प्रकार का ऐसा मानसिक अभ्यास अथवा 'रूढ़ि' है जिसके द्वारा हम विशिष्ट विचारों को पूर्वानुभूत अवसरों पर उनकी संगति अथवा एकत्रीकरण के बारंबार अवलोकन के आधार पर विशिष्ट क्रम में पुनरावृत्त होने की संभावना करते हैं।[२८] "हमें कारण और कार्य की, उन विशिष्ट पदार्थों के अतिरिक्त और कोई कल्पना नहीं होती *जो हमेशा से संयुक्त* हैं, और जो हमारे समस्त अनुभव में जुड़े हुए पाये जाते हैं। हम उनके संयोग के कारण को नहीं जान सकते। हम तो केवल पदार्थ को देखते हैं और यह पाते हैं कि वे निरंतर-संयोग से हमारी कल्पना में भी संयोग प्राप्त कर लेते हैं। जब किसी पदार्थ की कल्पना हमारे सामने उपस्थित होती है, तब हममें उसके सहचारी का एकदम विचार आ जाता है; और फलतः हम किसी मत अथवा विश्वास की व्याख्या के अंशरूप इस बात की स्थापना कर सकते हैं कि *वह एक उपस्थित संवेदना से संबद्ध अथवा संयुक्त कोई विचार*

---

२८ *Ibid.* I. iii 7.

है।"[२९] इस प्रकार ह्यूम के अनुसार, कार्य-कारण-तत्त्व तो मन का एक मत अथवा विश्वास-मात्र है। इसमें ज्ञाता के मन के अतिरिक्त कोई परात्मक प्रामाण्य (Objective validity) नहीं है। इससे स्वभावतः यह अनुमान निकाला जा सकता है कि कार्य-कारण-तत्त्व हमें संवेदनाओं के किसी ऐसे कारण, जैसे ईश्वर और जडाधिष्ठान की कल्पना करने के लिये विवश नहीं कर सकता, जो कि उस मन से, जो संवेदनाओं को आकलन करता है, स्वतंत्र अस्तित्व रखता है। "हम सचमुच कह सकते हैं कि विश्व में कारण अथवा उत्पादक-तत्त्व जैसी कोई वस्तु नहीं, स्वयं ईश्वर भी नहीं है; क्योंकि सर्वोच्च सत्ता के विषय में हमारा विचार उन संवेदनाओं से उद्भूत हैं जिनमें कोई तथ्य नहीं, और जिनमें किसी अन्य सत्ता से कोई संबंध नहीं दिखलाई पड़ता।"[३०]

ह्यूम के दर्शन की उपर्युक्त मीमांसा से हम सहज में समझ सकते हैं कि बर्कले के ईश्वर-विषयक सिद्धान्त का निराकरण करने के अनंतर ह्यूम ने ज्ञान-मीमांसा के अतिरिक्त तत्त्वज्ञान के लिये जरा भी गुंजाइश नहीं छोड़ी। वस्तुतः ह्यूम का दर्शन बर्कलेयन तत्त्व *Esse est percipi* के तर्कसंगत और व्यवस्थित प्रमाणीकरण के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। आध्यात्मिक अधिष्ठान—और ईश्वर-विषयक सिद्धान्त बर्कले के अंधश्रद्धात्मक पूर्व ग्रह-मात्र थे। उसने उनको अनुभववाद की

---

२९ *Ibid*, I. iii. 6.

३० *Ibid* I. iv. 5.

कसौटी पर परखने का प्रयत्न नहीं किया है। अनुभववाद के तत्त्व को सख्ती से लागू करने का काम ह्यूम ने किया। फलतः ह्यूम के दर्शन में तत्त्वज्ञान का प्रत्यावर्त्तन नहीं मिलता। इसके विपरीत, उसमें ज्ञानतंत्र दर्शन की अपने असली रूप में झाँकी मिलती है।

यहाँ यह समझ लेना चाहिये कि यद्यपि ह्यूम के दर्शन ने हमें नास्तिकवाद की ओर ले जाने का प्रयत्न किया है तथापि वह अपना महत्त्व रखता है। उसने हमेशा के लिये यह बतला दिया कि शुद्ध ज्ञान-मीमांसा के आधार पर अधिष्ठित दर्शन सफल हो ही नहीं सकता। यदि, अनुभववाद के तत्त्व के अनुसार अनुभव (अर्थात् ज्ञान) ही सत्ता की एकमात्र कसौटी हो, तो ह्यूम का जडाधिष्ठान और ईश्वर-विषयक सिद्धान्तों का निराकरण सर्वथा उपयुक्त है। ये सिद्धान्त, जैसा कि हम देख चुके हैं, क्रमशः लॉक और बर्कले के दर्शनों में तत्त्वज्ञान के स्मारक चिह्न थे। किन्तु तत्त्वज्ञान-विषयक कोई भी तत्त्व ऐंद्रियज्ञान का विषय नहीं बन सकता। फलतः अनुभववाद के तत्त्व को सख्ती से लागू करने का पर्यवसान शंकावाद में हुए बिना रह नहीं सकता। इस प्रकार दर्शन में लॉक द्वारा प्रचलित अनुभववाद की विधि का सख्ती से पालन करनेवाले ह्यूम को उसके शंकावाद के लिये हम दोषी नहीं ठहरा सकते। इसके विपरीत, उसको हमें बड़ी स्पष्टता और उत्साह से अनुभववाद-संप्रदाय के ज्ञानतंत्र दर्शन का खोखलापन बतलाने का श्रेय देना चाहिये।

कांटीय और कांटोत्तर अध्यात्मवाद

स्वयं कांट के कथनानुसार सर्वप्रथम ह्यूम ने उसे "अन्ध श्रद्धात्मिका निद्रा" से जाग्रत् किया । हमने पूर्ववर्त्ती अध्याय में बतलाया है कि ह्यूम की मुख्य विशेषता यह है कि उसने अनुभव-वाद दर्शन को उसके तर्कानुमोदित पर्यवसान तक पहुँचा दिया। इस प्रयत्न का परिणाम यह हुआ कि समस्त तत्त्वचिन्ता का रुख संवेदनावाद और शंकावाद की ओर हो गया। विशेषतः ह्यूम की कार्यकारण की मीमांसा का प्राकृतिक और गणितीय विज्ञानों के परात्मक प्रामाण्य पर बहुत ही बुरा प्रभाव पड़ा। क्योंकि कार्य-कारण का तत्त्व इन विज्ञानों का मूल आधार है। अतः जब ह्यूम ने यह घोषित किया कि कार्यकारण तत्त्व मन की कल्पना के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, तब तो प्राकृतिक और गणितीय विज्ञानों की जड़ हिल-सी गई।

कांट, जो स्वयं एक अच्छा गणिती और भौतिक विज्ञानवेत्ता था, विज्ञान की इस दयनीय परिस्थिति को सहन न कर सका। स्वयं कांट के मन में प्राकृतिक और गणितीय विज्ञानों के परात्मक प्रामाण्य के विषय में यत्किंचित् सन्देह न था। वह तो उसको मानकर चला था। कांट जिस बात को चाहता था वह थी विज्ञानों का प्रामाण्य सिद्ध करना और उसके द्वारा ह्यूम के दर्शन के शंकावादात्मक निष्कर्षों को रोकना। इस उद्देश्य को प्राप्त

करने के लिये कांट ने यह उचित समझा कि ज्ञान की समस्या का फिर से परीक्षण किया जाय और उसके द्वारा प्राकृतिक और गणितीय विज्ञानों का परात्मक प्रामाण्य सिद्ध किया जाय। कांट के ज्ञान-मीमांसा-विषयक अन्वेषणों के परिणाम मुख्यतः उसकी *शुद्ध बुद्धि की मीमांसा* में संकलित हैं।

अपनी *शुद्ध बुद्धि की मीमांसा* में कांट का यह भी विश्वास है कि यदि ज्ञान-मीमांसा पूर्वगामी दार्शनिकों की विधि के अनुसार की जायगी, तो शंकावाद से छुटकारा पाना सम्भव नहीं। क्योंकि परम्परागत विधि अन्धश्रद्धात्मक थी। अर्थात् वह ज्ञान की शक्ति का, उसकी योग्य सीमा और विस्तार पर पहिले कोई ध्यान दिये बिना ही, उपयोग करती थी। इस पद्धति की कमज़ोरी बिलकुल स्पष्ट है। वह कमज़ोरी इस बात में व्यक्त होती है कि उसके द्वारा हम ज्ञान के क्षेत्र के अन्तर्गत न मिलनेवाले विशिष्ट विषयों के अस्तित्व में विश्वास करने लग जाते हैं। कार्तेशियन दर्शन के आध्यात्मिक अधिष्ठान, ईश्वर, जडाधिष्ठान आदि सिद्धान्त इसी प्रकार अप्रमाणित पूर्वग्रह थे। अतः यह बिलकुल उचित है कि शंकावादी ऐसे अतीन्द्रिय विषयों के अस्तित्व में सन्देह व्यक्त करे। इस प्रकार शंकावाद अन्ध-श्रद्धात्मक दर्शन का अनिवार्य परिणाम है।

दर्शन को अन्धश्रद्धा और शंकावाद से मुक्त करने का एकमात्र उपाय यही है कि सबसे पहिले ज्ञान-शक्ति की सीमा, विस्तार

और क्षेत्र को निर्धारित कर लिया जाय।[1] इस नये दृष्टिकोण को कांट आलोचना (Criticism) कहता है। वह आलोचना इसलिये है कि कांट के मतानुसार ज्ञान-शक्ति की सीमा और विस्तार का आलोचनात्मक परीक्षण ही दर्शन को सारी अन्ध-श्रद्धा से मुक्त कर सकेगा और फलतः उसे वास्तविक रूप से वैज्ञानिक बना सकेगा। अपने ग्रन्थ *शुद्ध बुद्धि की मीमांसा* के अभिधान की व्याख्या करते हुए उस ग्रन्थ के प्रथम संस्करण की प्रस्तावना में कांट कहता है, "शुद्ध बुद्धि की मीमांसा से मेरा मतलब किन्हीं पुस्तकों अथवा प्रणालियों की आलोचना नहीं है, किन्तु वह बुद्धि की उस शक्ति की आलोचना है जो सारे ज्ञान का आधार है, और इस आलोचना के कार्य को बुद्धि किसी अनुभव की सहायता के बिना कर सकती है। इससे दर्शन की संभावना

---

१ "At first the rule of Metaphysic, under the dominion of dogmatists, was despotic......Not long ago one might have thought, indeed, that all these quarrels were to have been settled and the legitimacy of her claims decided once for all through a certain physiology of the human understanding, the work of the celebrated *Locke*. But though the descent of that royal pretender traced back as it had been to the lowest mob of common experience, ought to have rendered her claims very suspicious. Yet, as the geneology turned out to be in reality a false invention, the old queen (Metaphysic) continued to maintain her claims, every thing fell into the old rotten dogmatism,

अथवा असंभावना का प्रश्न हल हो जायगा और स्थिर तत्वों के अनुसार बुद्धि की उत्पत्ति, उसका विस्तार और उसकी मर्यादा को भी निर्धारित किया जा सकेगा।" (*Critique of Pure Reason*, Preface to the first edition)

अब, कांट का आलोचनात्मक दृष्टिकोण तत्त्व-ज्ञान का ज्ञान-मीमांसा से तादात्म्य करने का नया उपक्रम है। यह बात ऊपर के उद्धरण से भी स्पष्ट हो सकती है। क्योंकि जब कांट यह कहता है कि दर्शन की सम्भावना अथवा असम्भावना ज्ञान-मीमांसा द्वारा निश्चित की जा सकती है तब उसका यह निश्चित मत माना जा सकता है कि वह दर्शन को ज्ञान-तन्त्र बनाना चाहता है। इस बात की पुष्टि और एक बात से भी की जा सकती है। कांट अपनी *शुद्ध बुद्धि की मीमांसा* के द्वितीय संस्करण में इस बात

---

the contempt from which metaphysical science was to have been rescued remained the same as ever.

"It is at the same time a powerful appeal to reason to undertake anew the most difficult of its duties, namely self-knowledge, and to institute a court of apeal which should protect the first rights of reason, but dismiss all groundless claims and should do this not by means of irresponsible decrees, bat according to the eternal and unalterable laws of reason. This court of appeal is no other than the *Critique of Pure Reason*. (*Critque of Pure Reason*, Preface to the first edition, Max Muller's Eng. Translation pp xviii—xx)

का दावा करता है कि उसने दर्शन में कोपरनिकस जैसा आन्दोलन किया है।

"Hitherto it has been supposed that all our knowledge must conform to the objects; but under that supposition all attempts to establish anything about them *a priori*, by means of concepts and thus to enlarge our knowledge. have come to nothing. The experiment, therefore, ought to be made whether we should not succeed better with the problems of metaphysic, by assuming that the objects must conform to our mode of cognition, for this would better agree with the demanded possibility of an *a priori* knowledge of them which is to settle something about objects, before they are given us. We have here the same case as with the first thought of Copernicus, who not being able to get on in the explanation of the movements of the heavenly bodies, as long as he assumed that all the stars turned round the spectator, tried, whether he could not succeed better, by assuming the spectator to be turning round, and the stars to be at rest. A similar experiment may be tried in Metaphysics, so far as the intuition of objects is concerned.[२]

इस उद्धरण में कांट का स्पष्ट मत है कि पदार्थ की सत्ता ज्ञानगम्य होती है। यदि कोई सत्ता बुद्धि की उन शर्तों से सामंजस्य में न हो जिनसे ज्ञान सम्भव है तो वह हमारे लिये निरर्थक है। दूसरे शब्दों में इसका अर्थ यह है कि दर्शन ज्ञान-मीमांसा के

---

२ *Critique of Pure Reason*, Preface to the Second Edn. Eng. Tr. by Max Muller pp. xvi—xvii

अधीन है। क्योंकि वास्तविक दर्शन तभी सम्भव है जब कि वे विषय, जिनसे उसका सम्बन्ध है, सर्वप्रथम ज्ञान-मीमांसा द्वारा ज्ञानगम्य तथा प्रमाणित घोषित किये जायँ। इस प्रकार ज्ञान-मीमांसा ही को पुनरपि दर्शन का सर्वोच्च तंत्र बनाया गया और उसको पूर्ण स्वतन्त्रता दे दी गई।

किन्तु कांट ने एक हाथ से जो कुछ दिया था उसे दूसरे हाथ से छीन लिया। क्योंकि *शुद्ध बुद्धि की मीमांसा* में, स्वयं-वस्तु (Thing-in-itself) के सिद्धान्त के रूप में सत्तात्मक तत्त्व बारंबार दृष्टिगोचर होता है और ज्ञान-मीमांसा के क्षेत्र पर अधिकार जमाता है। सर्वप्रथम अतीन्द्रिय संवेदना (Transcendental Aesthetic) में कांट कहता है:—

> "संवेदना हमारी संवेदनीयता अथवा संवेदना-शक्ति का किसी विषय द्वारा वास्तविक उद्दीपन है।"

अब वह 'विषय', जिसकी हमारी संवेदनाएँ अनुकृति हैं, कांट के अनुसार, हमारे ज्ञान-क्षेत्र के परे है। वह उसे अज्ञात और अज्ञेय x अथवा अधिक यथार्थता से *अतीन्द्रिय विषय* (transcendental object) कहता है। निम्नांकित उद्धरण इस बात को विशद कर देगा:—

> "हमें प्रत्यक्ष दिये जानेवाले विषय आभास (Phenomena) हैं······ये आभास स्वयं-वस्तु (things-in-themselves) नहीं अपितु केवल कल्पनाएँ हैं जिनका विषय होता है किन्तु वह विषय

ऐसा है जो हमारे लिये सदा अज्ञेय है अर्थात् अतीन्द्रिय विषय='च' कहा जा सकता है।"[3]

यहाँ यह समझने की आवश्यकता है कि कांट द्वारा प्रतिपादित 'अतीन्द्रिय विषय' का सिद्धान्त उस नवीन पद्धति की आवश्यकताओं से असंगत है जिसे कांट ने दर्शन के क्षेत्र में अवतरित किया था। जैसा कि हम देख चुके हैं, कांट 'अतीन्द्रिय विषय' को संवेदनाओं का *कारण* कहता है। किन्तु शुद्ध बुद्धि की मीमांसा के निष्कर्षों के अनुसार कार्य-कारण तो ज्ञान का एक रूप है। अतः उसे अतीन्द्रिय विषय को लागू करना, जो कि सर्वथा अनुभवातीत है, बिलकुल असंगत है। यदि हम अधिक विचार-पूर्वक देखें तो मालूम होगा कि कांट का 'अतीन्द्रिय विषय का' सिद्धान्त एक सत्ता-विषयक तत्त्व है जो कि लॉक के जडाधिष्ठान सिद्धान्त से मिलता-जुलता है। वह तो दृष्टिगोचर जगत् के विषयों के पीछे छिपे हुए अरूपसार का दूसरा नाम है। यदि ऐसी बात है तो ऐसे सिद्धान्त का रखना ज्ञान-मीमांसा को दी गई स्वतन्त्रता के लिये बहुत गम्भीर बाधा उपस्थित करना है। क्योंकि तत्त्वज्ञान के विषय का ज्ञान की मर्यादा के सर्वथा बाहर होना तत्त्वज्ञान को ज्ञान-मीमांसा के अधीन बनाने में रुकावट उत्पन्न करता है।

वस्तुतः कांट स्वयं ज्यों-ज्यों *शुद्ध बुद्धि की मीमांसा* में आगे बढ़ता जाता है त्यों-त्यों अपने 'अतीन्द्रिय विषय' के सिद्धान्त की कमज़ोरी का अनुभव करता हुआ दिखलाई पड़ता है। क्योंकि

---

[3] *Ibid.*, A, pp. 108—109

अतीन्द्रिय तर्क (Transcendental Logic) में जो अतीन्द्रिय संवेदना (Transcendental Aesthetic) के ठीक बाद में आता है, कांट इस बात को बतलाता है कि ज्ञान का विषय ज्ञाता के मन की परिकल्पनात्मक क्रिया (conceptual activity) को छोड़कर स्वतन्त्र रूप से नहीं रह सकता। इस बात को कांट इस प्रकार व्यक्त करता है—

"आधेय के बिना विचार रिक्त हैं, परिकल्पनाओं (Concepts) के बिना संवेदनाएँ अन्ध हैं। अतः यह समान रूप से आवश्यक है कि हमारी परिकल्पनाओं को संवेदनशील बनाया जाय...... और हमारी संवेदनाओं को बुद्धिगम्य बनाया जाय......। ज्ञान-शक्ति (Understanding) देख नहीं सकती; ज्ञानेन्द्रिय सोच नहीं सकते। उनके संयोग ही से ज्ञान उत्पन्न होता है।"[४]

इतःपर कांट इस बात को अधिकाधिक मानने लगा कि विषय अतींद्रिय नहीं प्रत्युत् ज्ञानगम्य हैं। कांट के दृष्टिकोण का यह क्रमिक परिवर्तन उस समय अपने अत्युच्च शिखर पर पहुँचता है जब कांट अतींद्रिय विश्लेषण (Transcendental Analytic) में, विशेषतः "आभास और सत्ता में भेद" नामक अध्याय में स्पष्ट रूप से यह कहता है कि स्वयं-वस्तु विचारातीत नहीं किन्तु वह शुद्ध ज्ञान का एक विषय है। दूसरे शब्दों में, स्वयं-वस्तु, जो कि मूलतः सम्पूर्णतया मन के बाहर मानी गई थी, अब शुद्ध बुद्धि

---

४ *Critique of Pure Reason*, Max Muller's Eng. Tr. A. 51

का विषय बन जाती है। अपनी इस नई स्थिति में स्वयं-वस्तु को Noumenon कहा गया है।

अब कांट की स्वयं-वस्तु की कल्पना में उपर्युक्त परिवर्तन बहुत महत्त्वपूर्ण है। क्योंकि अतींद्रिय विषय की कल्पना को Noumenon की कल्पना द्वारा स्थानापन्न करने में कांट सर्वप्रथम तत्त्वज्ञान को ज्ञान-मीमांसा से स्वतन्त्र रखने की सम्भावना का परित्याग करता है, और दूसरे, सत्ता का ज्ञान के अन्यतम तत्त्व (यानी शुद्ध बुद्धि) से तादात्म्य करने में कांट स्पष्टतया तत्त्वज्ञान को ज्ञान-मीमांसा के अधीन कर देता है। इस प्रकार जब स्वयं-वस्तु Noumenon बन जाती है, तब ज्ञान-मीमांसा की तत्त्वज्ञान पर विजय हो जाती है।

किन्तु आश्चर्य की बात है कि Noumenon की कल्पना करने के कुछ ही बाद कांट अपने मूल आलोचनात्मक दृष्टिकोण को छोड़ देता है। इसका कारण यह है: Noumenon अमानुषीय, बौद्धिक अनुभूति (intellectual intuition) द्वारा अधिगम्य है।[५] डॉ॰ मैत्र कहते हैं:—

> "कांट जब यह कहता है कि ईश्वर में बौद्धिक अनुभूति (intellectual intuition) द्वारा वस्तुओं को जानने की

---

[५] "कांट कहता है:—

"With all this this concept of noumenon, if taken as problematical only, remains not only admissible, but as a concept to limit the sphere of sensibility, indispensable. In this case however, it is not a purely *intelligible*

> क्षमता है तब उसका ठीक-ठीक क्या मतलब है ? इस स्थापना में दो स्पष्ट भावनाएँ अन्तर्हित हैं। सर्वप्रथम उसका मतलब यह है कि स्वयं-वस्तु का ज्ञान अनुभूति द्वारा ही उपलब्ध है; विचार उसे देने में असमर्थ है। फायहिंगर इस बात पर जोर देता है और बतलाता है कि कांट का तार्किक ज्ञान में अविश्वास था।"[६]

अब सत्ता बुद्धिगम्य नहीं है इस बात को स्वीकार करना यानी आलोचनात्मक दृष्टिकोण को छोड़ना है और तत्त्व-ज्ञान में प्रत्यावर्तित होना है। डॉ० मैत्र अपने "*Kant's view of Intellectual Intuition*" में इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि कांट की Noumenon की कल्पना अतींद्रिय विषय की कल्पना के समान ही उसके आलोचनात्मक दृष्टिकोण के लिये समान रूप से विघातक है। डॉ० मैत्र कहते हैं—

> "What I want to say is that this doctrine of a noumenon as an object of an intellectual intuition is also a pre-critical survival. I have clearly shown

---

object for *our* understanding to which it could belong is itself a problem, if we ask how it could know an object, not discursively by means of categories but intuitively, and yet in a non-sensuous intuition – a process of which we could not understand even the bare possibility. (*Critique of Pure Reason*, A, p.)

[६] *The Kaleidoscopic changes in Kant's conception of the thing-in-itself* (*Ding-an-sich*). Paper contributed to the Journal of the Academy of Religion and Philosophy.)

that it is found in a very early writing, namely, the *Nova Dilucidatio* (1775) written twenty-six years before the first Edition of the Critique of Pure Reason. It is also quite as abstract as the doctrine of the transcendental object. The change, in fact, from the transcendental object to the noumena, as Caird has pointed out in a remarkable passage of his *Critical Philosophy of Kant*, is one from the "abstractly real" to the, "abstractly ideal"..... To the concept of the noumenon also there clings, therefore, the same abstract character as does to the concept of thing-in-itself. Consequently, from the point of view of concreteness there is no advance in the change from the standpoint of the transcendental object to that of the noumena".

अब यह स्पष्ट है कि शुद्ध-बुद्धि की मीमांसांतगत स्वय-वस्तु के दो सिद्धांतों द्वारा ज्ञान-मीमांसा में तत्त्वज्ञान का पुनरुद्भव हुआ है।

तथापि कांट ने शीघ्र ही अपने विचलित मन को संतुलित किया। क्योंकि उसी *मीमांसा* में स्वयं-वस्तु की एक तीसरी कल्पना, यानी बुद्धि के आदर्श (Ideals of Reason), भी मिलती है जो कि सर्वांशेन *शुद्ध बुद्धि की मीमांसा* की प्रारंभिक योजना से सुसंगत है।

बुद्धि के आदर्श की कल्पना शुद्ध बुद्धि की मीमांसा के अंतिम खंड यानी 'अतींद्रिय अध्यास' (Transcendental Dialectic) में प्रतिपादित है। यहाँ कांट बुद्धि (Reason) और ज्ञान-शक्ति में अंतर करता है। "अपने अतींन्द्रिय तर्क के शुरुवात के अंश

में हमने ज्ञानशक्ति को नियामिका शक्ति कहा था और अब हम बुद्धि को तत्त्वदा शक्ति कहकर उससे पृथक् करते हैं।"[७] तथापि बुद्धि ज्ञान से एकदम अलग नहीं है प्रत्युत् बुद्धि ही अपने तत्त्वों द्वारा ज्ञानशक्ति के नियमों को एकता प्रदान करती है।

जिस कारण कांट बुद्धि का आवाहन करने के लिये विवश हो गया था वह यह है:—हममें यह आग्रहपूर्ण कामना होती है कि हम किसी तत्त्व द्वारा अपने अनुभव के वस्तु-वृत्तों को ऐकांतिक एवं अनवच्छिन्न (unconditioned) एकता प्रदान करें। अब, ज्ञानशक्ति (Understanding) हमारे अनुभव को एकता प्रदान करने में असमर्थ है। इसका कारण यह है कि वे ज्ञान के रूप, जो ज्ञानशक्ति की आत्मा हैं, अपने आप कोई भी ज्ञान दे नहीं सकते। क्योंकि अपनी क्रिया के लिये उन्हें आवश्यक रूप से संवेदना द्वारा 'दी गई' सामग्री लगती है। ऐंद्रिय बहुत्व, जो कि हमारी ज्ञानशक्ति के a priori रूपों का आधेय है, निरंतर विशिष्ट गुणसंयुक्त तथा अवच्छिन्न (Conditioned) होता है। इस प्रकार ज्ञान की मर्यादा अवच्छिन्न तक ही होने के कारण ज्ञान-शक्ति हमें अनवच्छिन्न तक संभवतः नहीं ले जा सकती। क्योंकि विशिष्ट एवं अवच्छिन्न विषय का ज्ञान हमें किसी दूसरे विशिष्ट एवं अवच्छिन्न विषय के ज्ञान तक ही ले जा सकता है, किंतु हमें वह उस अनवच्छिन्न तक नहीं ले जा सकता है जो सर्वथा व्यापक-धर्मा है।

---

[७] *Critique of Pure Reason*, Max Muller's Eng. tr. A, 299—300.

ठीक यहीं बुद्धि ज्ञानशक्ति को सहायता पहुँचाती है। बुद्धि के लिये हमारे अनुभव को अनवच्छिन्न एकता प्रदान करना इसलिये संभवनीय है कि उसका हमारी अवच्छिन्न संवेदनाओं से कोई सीधा संबंध नहीं है, किन्तु वह अप्रत्यक्ष रूप से ज्ञान की शुद्ध a priori कल्पनाओं के द्वारा उनसे संबद्ध है। अब, कांट का विश्वास है कि शुद्ध बुद्धि की समन्वय क्रिया में और रूपात्मक (Formal) तर्क के अनुमानों में मिलनेवाली विचार की विश्लेषण क्रिया में कोई अंतर नहीं।[८] विश्लेषण क्रिया हमें उन तीन प्रकारों का परिज्ञान कराती है जिनके द्वारा बुद्धि अपने तार्किक रूप में ज्ञान को संगठित करती है। उन प्रकारों के नाम Categorical, hypothetical और Disjunctive अनुमान हैं, और चूँकि कांट के अनुसार विचार की विश्लेषणात्मक और समन्वयात्मक क्रियाएँ बिलकुल अभिन्न हैं, इसलिये शुद्ध-बुद्धि भी अवच्छिन्न को विभिन्न भागों में ढूँढ़ती है। "सर्वप्रथम, ज्ञानाश्रित Categorical समन्वय का अनवछिन्न (Unconditioned) है; दूसरे, एक परंपरा के व्यक्तियों में अवसित hypothetical समन्वय का अवच्छिन्न है; तीसरे, एक अवयवी के अवयवों के disjunction समन्वय का अनवच्छिन्न है।[९]

अब यहाँ ध्यान देने योग्य महत्त्वपूर्ण बात यह है कि कांट के अनुसार बुद्धि के आदर्श स्वयं-वस्तु भी हैं। अर्थात् ज्ञान के चरम-

---

८ *Critique of Pure Reason*, **A**-, 79.
९ *Ibid.*, A. 323

तत्त्व सत्ता-विषयक तत्त्व भी हैं। बुद्धि के तीन आदर्शों के अनुसार तीन सत्तात्मक विषय हैं, आत्मा, जगत् और ईश्वर। ईश्वर को कांट शुद्ध बुद्धि का आदर्श (Ideal of Pure Reason) इसलिये कहता है कि "वह केवल सरूप ही नहीं किंतु मूर्त आदर्श है, यानी केवल विचार-द्वारा विनिश्चित अथवा विनिश्चेय एक व्यक्तिगत वस्तु है।"

उपर्युक्त विवेचन से यह समझना आसान है कि बुद्धि के आदर्शों में कांट प्रायः अपनी उस योजना की पूर्ति करता है जिससे उसने अपनी मीमांसा का प्रारंभ किया था। वह योजना है सत्ता को ज्ञान के रूपों के सामंजस्य में लाना। सत्ता-विषयक तत्त्व जो कि अतींद्रिय विषय और Noumena नामक स्वयं-वस्तु की प्राथमिक कल्पनाओं में ज्ञान-मीमांसा से छुटकारा पाने का प्रयत्न कर रहा था, वही अब बुद्धि के आदर्श नामक स्वयं-वस्तु के तृतीय सिद्धान्त में आकर ज्ञान-मीमांसा से समीकृत हो जाता है।

किन्तु आश्चर्य की बात है कि ठीक उसी समय जब कि हम ज्ञान-मीमांसा की एकाधिकारिणी होने की संभावना करते हैं, उसी समय कांट का तत्त्व-ज्ञान-विषयक पुराना पूर्वग्रह लौट आता है और वह घोषित करता है कि बुद्धि के तत्त्व यद्यपि वे ज्ञान के पूरक हैं तथापि वे ज्ञान के क्षेत्र के बाहर हैं। बुद्धि के तत्त्व "अतींद्रिय हैं, क्योंकि वे उस अनुभव की सीमा के परे हैं जो कि अतींद्रिय विचार के लिये उपयुक्त कोई भी विषय हमें कदापि नहीं दे सकता।"[१०]

---

[१०] *Critique of Pure Reason.* Max Muller's Tr. A 327.

यही विचार कांट ने उस समय भी व्यक्त किया है जब कि वह यह घोषित करता है कि बुद्धि के तत्त्व नियामक हैं; और इसके विपरीत ज्ञान के नियम विधायक तत्त्व हैं।[११]

अब, इस घोषणा — यानी बुद्धि के तत्त्व केवल नियामक तत्त्व हैं विधायक तत्त्व नहीं—का मतलब यह है कि सत्ता और ज्ञान पृथक् हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि बुद्धि के तत्त्वों के सिद्धान्त में तत्त्वज्ञान ज्ञान-मीमांसा से पुनः अलग हो जाता है। अतः *शुद्ध बुद्धि की मीमांसा* में तत्त्वज्ञान का ज्ञान-मीमांसा से तादात्म्य करने की कांट की चेष्टा अन्ततोगत्वा असफल रही।

कांट के कर्म-मीमांसा-विषयक दृष्टिकोण में भी हमें इसी प्रकार की भ्रान्त धारणा दृष्टिगोचर होती है। यह जानकर कि सत्ता ज्ञान-

---

[११] In connection with the Cosmological Idea Kant says, "It is therefore no principle of the possibility of experience and of the empirical knowledge of the objects of the senses, and therefore a principle of the understanding, because every experience is (according to a given intuition) within its limits; nor is it a *constitutive principle* of reason, enabling us to extend the concept of the world of sense beyond all possible experience, but it is merely a principle of the greatest possible continuation and extension of our experience, allowing no empirical limit to be taken as an absolute limit .... I therefore call it a *regulative* principle of reason....."(*Ibid*., A. 509.)

मीमांसा के परे है कांट ने अपनी नीति-विषयक कृतियों में उसे कर्म-मीमांसा के अधीन करने का प्रयत्न किया। अब हम इस नयी भ्रान्ति की जाँच करने के लिये अग्रसर होंगे।

अपने Metaphysics of Morality में कांट नीति के लिये a priori आधार ढूँढ़ने की चेष्टा करता है। यह आधार कांट को नैतिक-कर्त्ता की इच्छा-शक्ति में शिवत्व के स्रोत ढूँढ़ने के सिलसिले-में प्राप्त होता है। "जगत् में अथवा उसके बाहर भी सदिच्छा के अतिरिक्त और कोई वस्तु किसी शर्त के बिना अच्छी नहीं मानी जा सकती।" अब, सदिच्छा ऐकांतिक रूप से तब तक अच्छी नहीं हो सकती जब तक वह उस नियति द्वारा निश्चित की जाती जो कि उसकी अपनी नहीं है, क्योंकि ऐसी परिस्थिति में इच्छा अपने से बाह्य किसी साध्य के साधन के नाते अच्छी रहेगी। किन्तु उस इच्छा को स्वयं अथवा *ऐकांतिक रूप से* अच्छी होने के लिये यह आवश्यक है कि वह केवल अपनी आन्तरिक आवश्यकता द्वारा निश्चित की जाय। अब, आन्तरिक आवश्यकता प्रकृति की यान्त्रिक नियति हो नहीं सकती, क्योंकि ऐसी स्थिति में इच्छा प्राकृतिक नियमों द्वारा निश्चित हुए बग़ैर रह नहीं सकती और फलतः वह अपनी आत्मनिर्णय की सारी शक्ति खो देगी। अतः यदि इच्छा को आत्मनिर्णय के लिये अवकाश चाहिये हो तो उसे भौतिक नियमों के विपरीत किसी अन्य नियम से विनिश्चित होना चाहिये। ऐसा नियम उस स्वतन्त्रता का ही नियम हो सकता है जो कि अपवाद-रहित

आवश्यकता से उपलक्षित (categorically imperative) है। फिर, यह नियम a posteriori हो नहीं सकता। कांट कहता है :—

"When we add further that, unless we deny that the notion of morality has any truth or reference to any possible object, we must admit that its law must be valid, not merely for man, but for all *rational creatures generally*, not merely under certain contingent conditions or with exceptions, but *with absolute necessity*, then it is clear that no experience could enable us to infer, even the possibility of such apodictic laws,"[१२]

इस प्रकार नैतिक नियम, अनुभवेतर (extra experiential) अथवा यों कहिये कि a priori हैं।

अब यहाँ स्मरण रखना चाहिये कि अपने सैद्धान्तिक पक्ष में, बुद्धि विशिष्ट तत्त्वों की जननी है। किन्तु, कांट के अनुसार, इन विशिष्ट तत्त्वों का ज्ञान के द्वारा साक्षात्कार नहीं किया जा सकता। अतः वे शुद्ध बुद्धि के सर्वथा परे हैं। किन्तु वही बुद्धि, कांट के मतानुसार, यद्यपि सैद्धान्तिक पक्ष में अपनी इष्ट-पूर्ति में असफल रहती है, तथापि व्यावहारिक (Practical) पक्ष में नैतिक नियम का स्रोत बनकर अपनी इष्ट-पूर्ति करती है। इस प्रकार, सैद्धान्तिक पक्ष में बुद्धि जिस बात को सम्पादन करने में असमर्थ रहती है, वही बात वह अपने व्यावहारिक पक्ष में सम्पादन करती है।

---

[१२] *Metaphysics of Morals*, Abbot's Tr. P. 30.

पुनः, हम यह भी बतला चुके हैं कि बुद्धितत्त्व स्वयं-वस्तु भी है। फलतः बुद्धि के कार्य में उपर्युक्त अन्तर स्वयं-वस्तु की कल्पना पर भी प्रभाव डालता है। वस्तुतः, ऐसी बात है भी। *शुद्ध बुद्धि की मीमांसा* में कांट बुद्धितत्त्वों को अतीन्द्रिय तथ्य मानता है। किन्तु *कर्म बुद्धि-की मीमांसा* में कांट के मत में बिलकुल परिवर्तन हो जाता है। क्योंकि उसका कथन है कि नैतिक नियम "उस बुद्धि को सर्व-प्रथम परात्मक (objective), यद्यपि केवल व्यावहारिक, वास्तविकता प्रदान कर सकता है, जो अपने विचारों से सैद्धान्तिक रूप से व्यवहार करने की चेष्टा में अतीन्द्रिय (Transcendental) हो जाती है। इस प्रकार वह बुद्धि के अतीन्द्रिय उपयोग को अन्तरस्थ (immanent) उपयोग में परिवर्तित करता है।"[१३]

इस प्रकार स्वयं-वस्तु कर्म-बुद्धि के परे नहीं, किन्तु उसी के अन्तर्गत है। कांट की स्वयं-वस्तु की कल्पना में उपर्युक्त परिवर्तन बड़ा महत्त्वपूर्ण है। क्योंकि उसके द्वारा कांट तत्त्व-ज्ञान को कर्म-मीमांसा के अधीन बनाने में समर्थ होता है। नीति का सर्वोच्च तत्त्व यानी स्वतन्त्रता का नियम noumenal सत्ता से अभिन्न है। अतः तत्त्वज्ञान को कर्ममीमांसा के अतिरिक्त और कोई स्थान नहीं है। इस प्रकार कांट की कर्मबुद्धि की मीमांसा में तत्त्वज्ञान और कर्म-मीमांसा का सर्वथा समीकरण हो गया है।

किन्तु ज्यों-ज्यों हम *कर्म-बुद्धि की मीमांसा* के विश्लेषण खंड से अध्यास-खण्ड की ओर बढ़ने लगते हैं त्यों-त्यों हमें कर्म-मीमांसा-

[१३] *Critique of Pure Reason*, Abbot's Tr. p. 164.

विषयक कांट के दृष्टिकोण में साफ़ परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है। अब तक कांट यह कहता रहा कि इच्छा को अच्छी होने के लिये अपने द्वारा ही निश्चित होना चाहिये, अर्थात् उस नियम द्वारा, जो कि नैतिक नियम भी है। कांट के मतानुसार, आत्म-निर्णय उस सुख की प्राप्ति से सम्बन्ध रखनेवाले समस्त हेतुओं का बहिष्कार करता है, जो प्राकृतिक जगत् में व्यक्त होनेवाले हमारे कार्यों के परिणामों से उत्पन्न होता है। किन्तु *कर्म-बुद्धि की मीमांसा* के अध्यास-खण्ड में कांट का यह विश्वास हो जाता है कि उस परमानन्द (Summum bonum) स्थिति में, जो कि कर्म-बुद्धि का चरम लक्ष्य है, सुख की सम्भावना, जहाँ तक वह नैतिक नियम के सामञ्जस्य में है, परिहार्य नहीं है।[१४]

अब, यदि परमानन्द-स्थिति में सुख का भी अन्तर्भाव होता है, तो स्वभावतः यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या सद्गुण और सुख का सम्बन्ध समन्वयात्मक है अथवा विश्लेषणात्मक? वह विश्लेषणात्मक नहीं है यह तो इस बात से स्पष्ट हो जाता है कि

---

[१४] "It has been shown in the Analytic that virtue (as worthiness to be happy) is the supreme condition of all our pursuit of happiness, and is therefore the supreme good. But it does not follow that, it is the whole and perfect good as the object of the desires of rational finite beings, for this requires happiness also, and that not merely in the judgment of an impartial reason, which regards persons in general as ends in themselves." *Critique of Practical Reason*, Abbot's Tr. p. 246.

यह उस नैतिक नियम की कल्पना में अन्तर्भूत नहीं है, जो कर्तव्य के विचार से सीधे निकलनेवाले हेतुओं का बहिष्कार करता है। अतः सद्गुण और सुख के बीच का सम्बन्ध "समन्वयात्मक होना चाहिये और समन्वयात्मक भी कार्यकरण के जैसा।" किन्तु यह हमें कर्म-बुद्धि की असंगति की ओर ले जाता है। क्योंकि या तो "सुखेच्छा सद्गुण के सूत्रों (maxims) का हेतु होनी चाहिये अथवा सद्गुण के सूत्र सुख के निमित्त कारण होने चाहिये।"[१५]

कांट वस्तुतः सद्गुण और सुख का क्रमशः सत्तात्मक और

---

१५ "The first of the two propositions that the endeavour after happiness produces a virtuous mind, is *absolutely false*; but the second, that a virtuous mind necessarily produces happiness, is not *absolutely* false, but only so far as virtue is considered as a form of causality in the sensible world, and consequently only if I suppose existence in it to be the only sort of existence of a rational being, it is then only conditionally false. But as I am not only justified in thinking that I exist also as a noumenon in a world of the understanding but even have in the moral a purely intellectual determining principle of my causality—(in the sensible world,) it is not impossible that morality of mind should have a connection as cause with happiness (as an effect is in the sensible world) if not immediate yet *mediate* (viz, through an intelligent author of nature), and moreover necessary....." (*Critique of Practical Reason*, Abbot's Eng. Tr. p. 252)

प्रातिभासिक (phenomenal) जगतों से समीकरण करके उनके सम्बन्ध-विषयक असंगति को हल करता है। किन्तु यह हल शायद ही संतोषजनक है। क्योंकि सत्तात्मक और प्रातिभासिक जगत् स्वभावतः एक दूसरे से विभिन्न होने के कारण अपने संयोग के लिये किसी "प्रकृति के बुद्धिमान् कर्त्ता" के माध्यम की अपेक्षा करते हैं। उसी मीमांसा में कांट कुछ आगे चलकर कहता है कि "ईश्वर के अस्तित्व को मानना नैतिक रूप से आवश्यक है। क्योंकि केवल ईश्वर ही सद्गुण के तारतम्य में सुख का विभाजन कर सकता है।"

उपर्युक्त विवेचन से यह समझना सुलभ है कि अपनी *कर्म-बुद्धि की मीमांसा* के विश्लेषण-खण्ड में कर्मबुद्धि को कांट द्वारा दिया हुआ प्रभुत्व नाम-मात्र को था। क्योंकि कर्मबुद्धि अपना चरम आधार उस ईश्वर की कल्पना में ढूँढ़ती है जिसका अस्तित्व नैतिक नियम से बिलकुल स्वतन्त्र है। इस प्रकार जिस तत्त्वज्ञान का कांट ने अपनी *कर्म-बुद्धि की मीमांसा* द्वारा कर्म-बुद्धि से एकीकरण करना चाहा था वह अपना व्यक्तित्व कर्म-बुद्धि से पृथक् होकर बतलाता है और अपने लिये स्वतन्त्र क्षेत्र का अधिकार माँगता है।

अब हम *भावना की मीमांसा* (Critique of Judgment) की ओर मुड़ते हैं। इस ग्रन्थ में कांट यह बतलाने की चेष्टा करता है कि हमारी रस-(Pleasure) विषयक भावना में विशिष्ट

a priori तत्त्व मिलते हैं। इस बात को सिद्ध करने के लिये कांट की विधि संक्षेप में निम्नलिखित है:—

हमारी रस-विषयक भावना का आधार-भूत तत्त्व, कांट के मतानुसार-प्रकृति की हेतुमत्ता (Zweckmassigkeit) है। इस तत्त्व द्वारा हम प्रकृति की एक सुव्यवस्थित अवयवी (Cosmos) की तरह कल्पना करते हैं। अर्थात् वह हमें इस बात का विश्वास दिलाती है कि प्रकृति के विभिन्न अनुभव-सिद्ध नियम अलग-अलग अथवा बिखरे हुए नहीं हैं किन्तु वे परस्पर आबद्ध हैं और वे "अपनी एकता प्रकृति की आधारभूत चेतना से दृश्यमान विविधता में प्राप्त करते हैं।" हमें यह सोचने में बड़ा रस मिलता है कि प्रकृति एक सुव्यवस्थित अवयवी है, जिस प्रकार अव्यवस्था का विचार हमारे लिये दुःखद है।

अब यह तत्त्व, कि प्रकृति हेतुमती है, एक a priori तत्त्व है यह बात निम्नांकित उद्धरण से स्पष्ट हो जायगी:—

"That the concept of purposiveness of nature belongs to transcendental principles can be sufficiently seen from the maxims of the judgment, which lie at the basis of the investigation of nature *a priori*, and yet do not go further than the possibility of experience, and consequently of the cognition of nature, not indeed nature in general, but nature as determined through a variety of particular laws. These maxims present themselves in the course of this science often enough, though in a scattered way, as sentences or metaphysical *wisdom*, whose necessity we cannot

demonstrate from concepts. "Nature takes the shortest way (lex parsimoniae)·········etc.×××

If we suppose to set forth the origin of these fundamental propositions and try to do so by the psychological method, we violate their sense, for they do not tell us what happens, i. e., by what rule or cognitive powers actually operate, and how we judge but how we ought to judge; and this logical objective necessity does not emerge if the principles are merely empirical. Hence that purposiveness of nature for our logical cognitive faculties and their use, which is plainly apparent from them, is a transcendental principle of judgment."[१६]

यहाँ ध्यान देने योग्य महत्त्वपूर्ण बात यह है कि, कांट के मतानुसार, रस की भावना ज्ञान-मीमांसा और कर्म-मीमांसा को अथवा यों कहिये कि प्राकृतिक जगत् और स्वतन्त्रता के जगत् को जोड़नेवाली कड़ी है। कांट इस बात को यों सिद्ध करता है।

दो पूर्ववर्ती मीमांसाओं में कांट ने ज्ञाता और विषय में बड़ा तीव्र विभाजन किया था। जैसे, *शुद्ध बुद्धि की मीमांसा* में कांट ने इन्द्रियगोचर जगत् को शुद्ध आत्मचैतन्य से पृथक् कर दिया था। क्योंकि कांट के अनुसार आत्मचैतन्य की एकता स्वयं विश्लेषणात्मक है। यद्यपि आत्मचैतन्य की एकता ज्ञान की क्रिया में समन्वयात्मक बन जाती है, तथापि वह उस विषय को जो कि, कांट के अनुसार, बाहर से "दिया हुआ" है आत्मसात् करने में

---

[१६] *Critique of judgment*, Bernard's tr., pp 21-22

असमर्थ है। फलतः विषय को जान लेने के बाद आत्मचैतन्य को खाली हाथ वापिस होना पड़ता है। दूसरे शब्दों में, उसे अपनी मूलतः रिक्त और निर्लेप विश्लेषणात्मक एकता में फिर से विलीन हो जाना पड़ता है। ज्ञाता और विषय का यही द्वंद्व *कर्म-बुद्धि का मीमांसा में* भी चालू रहता है। क्योंकि यहाँ भी, जैसा कि हम बतला चुके हैं, वह नैतिक विषय, जिसका उद्गम शुद्ध आत्मचैतन्य में है, प्राकृतिक जगत् की यांत्रिक नियति के सर्वथा विरुद्ध है।

किन्तु दोनों मीमांसाओं में मिलनेवाले आत्मचैतन्य और बाह्य जगत् के द्वंद्व के होते हुए भी कांट ने उन दोनों की एकता को *अप्रत्यक्ष रूप* से स्वीकार कर लिया है। केअर्ड ने इस बात को निम्नलिखित उद्धरण में बड़ी कुशलता से विशद किया है:—

"Now the Dialectic showed us that reason in its regulative use gives rise to certain principles of investigation, which reach beyond the laws of the understanding, and both incite and guide us in the application of these laws. The principles are especially the principles of the "homogeneity, speculation and continuity," of the natural forms of things, principles the meaning of which summarily expressed is that nature is a system whose systematic order is discoverable by our intelligence. If these principles are assumed, we are able not only to say that all objects as such fall under the laws of pure understanding, but that this intelligence acting through these laws may by their means expect to be always

advancing in the discovery of systematic unity in the world—more and more definitely to see unity under all its diversity, diversity flowing out of its unity, and diversity and unity more and more closely knit together by continuous steps of transition. To say this, however, is to say that nature is relative to the intelligence not only as a system determined by law, but as a system in which, the laws themselves have an order of subordination, ultimately pointing to this unity of intelligence as their source or, in other-words, that the world has in it such a unity as it *would* have, if it had been arranged with a view to its being comprehended by our intelligence." [१७]

बुद्धि और प्रकृति की बुनियादी एकता का वैसा ही अंगीकार *कर्म-बुद्धि की मीमांसा* में भी मिलता है। किन्तु, जैसा कि हम बतला चुके हैं, *परमानन्द*-स्थिति की कल्पना अच्छाई का सम्बन्ध सुख से करती है। इस क्रिया में निश्चित रूप से यह अन्तर्हित है कि "प्रकृति उस बौद्धिक नियम से सामञ्जस्य में है जिसकी सम्भावना हम प्रकृति की कल्पना में अन्तर्हित किसी भी वस्तु द्वारा करने में असमर्थ हैं। वस्तुतः उसमें यह अन्तर्हित है कि प्रकृति उस हेतुमान अवयवी की तरह मानी जाय जिसके लिए अन्तिम ध्येय उसी कर्म-बुद्धि के द्वारा विनिश्चित होता है जो मानव-कार्यों के ध्येयों को निश्चित करती है।"[१८]

---

१७ Caird's *Critical Philosophy of Kant*, Vol. II p. 381.

१८ Ibid., p. 387.

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रकृति के नियम किसी तरह ज्ञान एवं कर्म में स्वतन्त्रता के नियमों से सन्निधत्त (adapted) हैं। कांट इन दोनों की चरम एकता को अप्रत्यक्ष रूप से मानता था। तथापि, कांट ने उस एकता को स्पष्ट करना चाहा। यह कार्य उसने *भावना की मीमांसा* में सम्पन्न किया जो कि "हेतु-मत्ता के तत्त्व की प्रामाणिकता के विषय में चर्चा है; क्योंकि योजना (design) एक ऐसा a priori तत्त्व है जो हमारी उस भावना की क्रिया में अन्तर्हित है जो बुद्धि और ज्ञान के बीच एक शृङ्खला के समान है।"[१९] तथापि कांट अपनी *भावना की मीमांसा* में हेतुमत्ता के दो भिन्नपक्षों में अन्तर करता है। एक पक्ष रूपा-त्मक formal अथवा स्वात्मक है और दूसरा वास्तविक अथवा परात्मक। बर्नार्ड ने इस बात को निम्नलिखित प्रकार से विशद किया है :—

"कुछ बातों में, हेतुमत्ता अनुभूत संगति और ज्ञानात्मिका शक्तियों से विषयों के रूप के तादात्म्य में रहती है; दूसरी बातों में विषय का रूप अपने अस्तित्व में प्रवर्तमान उद्देश्य से सामञ्जस्य करता हुआ माना जाता है। अर्थात् एक में हम विषय के रूप को हेतुमत् मानते हैं, उदाहरणार्थ पुष्प में। किन्तु, उससे कौनसा हेतु साध्य होता है यह नहीं कहा जा सकता। दूसरी बात में, हममें इस बात की स्पष्ट कल्पना होती है कि विषय किसके सामञ्जस्य के लिये हैं। पहिली बात में सौंदर्य-विषयक निर्णय काम में लाया जाता है, दूसरे में हेतु-विषयक निर्णय और इस तरह मालूम पड़ता है कि *भावना की*

---

[१९] *Critical Philosophy of Kant, by Caird, Vol. II p. 385*

मीमांसा के दो भाग हैं; पहिला प्रकृति में रुचि, सौन्दर्य और उदात्त के तत्त्वज्ञान से सम्बन्ध रखता है और दूसरा प्रकृति के कार्यों की हेतु-मत्ता के ज्ञान से।"[२०]

अब हम समझ सकते हैं कि कांट ने अपनी *भावना की मीमांसा* में यह बतलाकर कि आत्मा और विषय में सर्वोच्च एकता होती है, ज्ञान-मीमांसा और कर्म-मीमांसा की बीच की खाई को नष्ट कर दिया। पुनश्च ज्ञान और कर्म-मीमांसा का समझौता जल्द ही तत्त्व-चिंता से भी उनका समझौता करा देता है। क्योंकि, कांट के अनुसार, आत्मा और विषय की चरम-एकता ही सत्ताविषयक तत्त्व है। किन्तु, यहाँ भी कांट का प्रयत्न असफल रहा, क्योंकि उसने आत्मचैतन्य को बाह्य जगत् के बिलकुल विरोध में उपस्थित किया। इस बात ने उसे उन दोनों की अन्तिम एकता को, स्वीकार करने से रोका किन्तु, *भावना की मीमांसा* में कांट को धीरे-धीरे इस बात का परिज्ञान होने लगा। अब वह स्पष्टतया कहता है कि यह बात कि विषय ज्ञान और कर्म में आत्म-चैतन्य की आवश्यकताओं के अनुकूल है हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचाती है कि आत्मा और अनात्मा का विरोध क्षणिक है, ऐकान्तिक नहीं। इतना ही नहीं, किन्तु उपर्युक्त बात के आधार पर हम निश्चित रूप से यह भी कह सकते हैं कि आत्मा और विषय अन्ततोगत्वा एक ही होने चाहिये और ऐक्य का तत्त्व, कांट के अनुसार, उस बुद्धि के

---

२० Bernard's Introduction to his English Tr, of Kant's *Critique of Judgment* pp, xvii—xviii.

अतिरिक्त और कोई नहीं हो सकता जो अपने विषय का विरोध करते हुए भी उस विरोध का निरसन करती है। इस प्रकार कांट ने अपनी *भावना की मीमांसा* में आत्मा और विषय के द्वन्द्व को मिटाने ही का प्रयत्न नहीं किया है, किन्तु उनकी आधार-भूत एकता को प्रकाश में लाकर उसने हमें एक सत्ताविषयक तत्त्व भी प्रदान किया।

तथापि, अपनी *भावना की मीमांसा* में तत्त्व-ज्ञान, ज्ञान-मीमांसा और कर्म-मीमांसा के झगड़ों को निपटाने का कांट का प्रयत्न पूर्णतया यशस्वी नहीं हुआ। क्योंकि *भावना की मीमांसा* के अध्यास-खण्ड में वह यह घोषित करता है कि हेतुमत्ता तत्त्व का स्वभाव केवल चिंतनात्मक (reflective अर्थात् नियामक) है, न कि निश्चयात्मक (determinant अर्थात् विधायक)। इसका कारण यह है कि हेतुमत्ता-तत्त्व को अपने सम्पूर्ण साक्षात्कार के लिये एक ऐसे *निरीक्ष्यमाण* बुद्धि की आवश्यकता है जो कि स्वतः-स्फूर्ति से अपनी संवेदनाओं को विनिश्चित करने में समर्थ हो। किन्तु हममें जो बुद्धि है, वह तो तर्कप्रधान discursive है। अर्थात् वह तो उसी सामग्री को विनिश्चित कर सकती है जो हमें 'संवेदनाओं के बहुत्व' द्वारा 'प्रदत्त' है। इस प्रकार ससीम चेतना निरन्तर आत्मा और विषय के द्वन्द्व से प्रपीड़ित है—वह द्वन्द्व जिसे हटाने की निरन्तर कोशिश करते हुए भी वह पूर्णतया हटाने में असफल रहती है। कांट कहता है:—

"In order now to be able at least to think the possibility of such an accordance of things of nature

with our Judgment .... we must at the same time think of another Understanding, by reference to which and apart from any purpose ascribed to it we may represent as *necessary* that accordance of natural laws with our Judgment, which for our understanding, is only thinkable through the medium of purpose." [२१]

उपर्युक्त उद्धरण में आये हुए शब्द समुच्चय, "दूसरी ज्ञान-शक्ति," का मतलब है "वह बुद्धि जो कि जगत् का कारण, अर्थात् ईश्वर है।"

उपर्युक्त बातों से हम आसानी से यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि *भावना की मीमांसा* में कांट का तत्त्वज्ञान, ज्ञानमीमांसा और कर्ममीमांसा के झगड़ों को निपटाने का प्रयत्न सफल नहीं हुआ है। क्योंकि ईश्वर की कल्पना के रूप में सत्ता-विषयक तत्त्व ज्ञानमीमांसा और कर्म-मीमांसा दोनों से अपना छुटकारा पाकर अपने अस्तित्व के लिये विशेष स्थान माँगता है।

अब हम कांटोत्तर दर्शन का विवेचन करेंगे। यहाँ तत्त्व-चिंता में अकस्मात् परिवर्तन होता है। कांटोत्तर अध्यात्मवाद के प्रतिपादक कांट के समान तत्त्व-ज्ञान को ज्ञान-मीमांसा अथवा कर्म-मीमांसा के अधीन न करते हुए उसे दर्शन का सर्वोच्च तन्त्र बनाकर ज्ञान-मीमांसा और कर्म-मीमांसा को उसके अधीन बनाने का उपक्रम शुरू करते हैं।

अब, तत्त्व-ज्ञान को सर्वश्रेष्ठ बनाने के लिये कांटोत्तर अध्यात्म-

---

[२१] *Critique of Judgment.* Eng, Tr. by Bernard p. 322.

वादियों को एक ऐसे तत्त्व की आवश्यकता थी जिस पर फिश्टे (Fichte) के कथनानुसार प्रत्येक "वस्तु उस छल्ले-जैसी टाँगी जा सके जो स्वयं किसी वस्तु पर टिका न होते हुए भी अपनी शक्ति से अपने को और सारी वस्तुओं को स्थिर रख सके।[२२] उन्हें ऐसे तत्त्व की खोज में कहीं दूर भटकना नहीं पड़ा। उदाहरणार्थ, फिश्टे को उपर्युक्त संभावना की वास्तविकता कांट की आत्मा की अतीन्द्रिय एकता के सिद्धान्त में मालूम हुई। इस संभावना की ओर संकेत स्वयं कांट की कृतियों में मिलता है। क्योंकि आत्मा की एकता को ज्ञान और कर्म का सर्वोच्च तत्त्व बतलाने का श्रेय सर्वप्रथम कांट ही को है। किन्तु कांट के इस पूर्वग्रह ने कि ज्ञान के विषय में कुछ तो भी ऐसी बात है जिसे ज्ञाता आत्मसात् करने में अक्षम है, उसके मन पर ऐसी पकड़ जमा रखी थी कि वह उसका अन्त तक पीछा ही करता रहा। यही कारण है कि उसकी तत्त्वचिंता द्वंद्वात्मकता से उपलक्षित है।

फिश्टे ने कांट की बीमारी का शीघ्र ही निदान कर लिया। बीमारी का मूल कारण था कांट का अतीन्द्रिय विषय का वह सिद्धान्त, जिसे, जैसा कि हम बतला चुके हैं, कांट ने अपनी *शुद्ध बुद्धि की मीमांसा* के प्रारम्भ ही में प्रतिपादित किया था। और यद्यपि बाद में उसी मीमांसा में, कांट ने उसका परित्याग किया था, तथापि उसकी छाया उसके चित्त पर अन्त तक मँडराती

---

२२ Fichte's *Sammtliche Werke.* 1. 56 noted in Seth's *From Kant to Hegel.*

रही और द्वंद्वात्मक दृष्टि से ऊपर उठने के उसके सारे प्रयत्नों को विफल करती रही। अतः फिश्टे ने सर्वप्रथम अतीन्द्रिय विषय के इस भूत को दर्शन के क्षेत्र से निकाल बाहर करने की कोशिश की। यह कार्य सम्पन्न करने के लिये सर्वप्रथम उसने बतलाया कि किसी ऐसी वस्तु के अस्तित्व में विश्वास करना, जो हमारे ज्ञान के क्षेत्र से बाहर है, एक असंगत विचार है। दूसरे, यह कल्पना कांट की विचार-धारा से मेल नहीं खाती। स्वयं-वस्तु को हमारी संवेदनाओं का अज्ञात कारण मानकर कांट ने कार्यकारण के उस तत्त्व को, जो, कांट के मतानुसार, ज्ञान की परिसीमा में ही लागू पड़ता है, अतीन्द्रिय विषयों के क्षेत्र में ले जाकर उसके क्षेत्र का अयथार्थ विस्तार किया है।

जब एक बार अतीन्द्रिय स्वयं-वस्तु के भूत को निकाल बाहर कर दिया गया, तब अनुभव का साम्राज्य शेष रह गया। अब समस्त अनुभव को एक तत्त्व पर अधिष्ठित करके एक अवयवी में संगठित किया जाना सम्भव है। और ऐसा तत्त्व, कांटोत्तर अध्यात्मवादियों के अनुसार कांट का आत्मा की अतीन्द्रिय एकता का सिद्धान्त ही है। यही सारे कांटोत्तर अध्यात्मवादियों की दार्शनिक प्रणालियों में Absolute (परमात्मा) का स्थान ग्रहण करता है।[२३] इस प्रकार कांट के अनुयायियों ने कांट के कंकालप्राय

---

[२३] Fichte, for example, was always ready to maintain that his own system was nothing but, "the Kantian doctrine properly understood········" "genuine criticism consistently carried out". Fichte's Sammtliche Werke, 1, 89 & 459.

आत्मा की एकता को जीवन से अनुप्राणित कर तत्त्व-ज्ञान को दर्शन का सर्वोच्च तन्त्र बनाने का प्रयत्न किया है।

अब, प्रश्न यह है कि इस परमात्मा से सैद्धांतिक और व्यावहारिक अनुभव के तथ्य किस प्रकार निकल सकते हैं ? इस प्रश्न का समाधान-पूर्वक उत्तर देने की कठिनाई इस बात में आ जाती है कि ज्ञान-मीमांसा और कर्म-मीमांसा, जो कि क्रमशः हमारे जीवन के सैद्धांतिक एवं व्यावहारिक पक्षों से सम्बन्ध रखनेवाले तन्त्र हैं, आत्मा और विषय के बीच भेद की अपेक्षा करते हैं। अतः समस्या यह है कि आत्मा और विषय के द्वंद्व का उस परमात्मा से किस प्रकार समझौता किया जाय जो एकात्म है ? कांटोत्तर विभिन्न दार्शनिकों ने इस समस्या को भिन्न-भिन्न प्रकार से हल किया है।

फिश्टे कहता है कि परमात्मा सर्वप्रथम ससीम आत्मा के रूप में अपने आपको स्थिर करता (Posits) है और तत्पश्चात् वह अनात्मा के विरोध में उपस्थित होता है। इस विरोध से उन दोनों में एक धक्के (Anstoss)[२४] की संभावना होती है। क्योंकि जब ससीम आत्मा अपने आपको उस अनात्मा के विरोध में उपस्थित पाती है जो उसकी स्वतन्त्रता में बाधा-स्वरूप होता है तब वह उद्वेजित हो उठती है। अतः वह इस बात के लिये सक्रिय प्रयत्न करती है कि आत्मा और अनात्मा का द्वन्द्व मिटा दिया

---

२४ Vide Dr. Seth's *From Kant to Hegel*, pp 34–36 in this connection.

जाय और अनात्मा को अपने सामंजस्य में लाया जाय। आत्मा अपने प्रयत्न को तब तक नहीं रोकती जब तक अनात्मा को वह पूर्णतया आत्मसात् नहीं कर लेती। जब आत्मा इस स्थिति पर पहुँचती है तब वह स्वयं परमात्मा बन जाती है क्योंकि परमात्मा और कुछ नहीं बल्कि आत्मा और विषय की सर्वव्यापी अनुभवगम्य सरूप एकता का ही दूसरा नाम है। इस प्रकार, फिश्टे के अनुसार एक परमात्मा तीन भिन्न रूपों (Moments) में अपने आपको अभिव्यक्त करता है। पहिले रूप में परमात्मा ससीम आत्मा में अपने आपको आविर्भूत करता है; इस रूप को स्थिति (thesis) कहते हैं। दूसरे रूप में परमात्मा अनात्मा के रूप में आत्मा का विरोध करता है। इसे विरोध antithesis कहते है। तीसरे रूप में, परमात्मा आत्मा और अनात्मा का विरोध शमन करता है; इसे समन्वय (synthesis) कहते हैं। इन स्थिति, विरोध और समन्वय के तीन तत्त्वों से फिश्टे सैद्धान्तिक और व्यावहारिक जीवन के सारे तत्त्व निकालता है।

यहाँ यह समझ लेना आवश्यक है कि फिश्टे अपने दर्शन में आत्मा का व्यावहारिक पक्ष सैद्धान्तिक पक्ष की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण मानता है। क्योंकि, उसके अनुसार आत्मा अनात्मा को केवल अपनी व्यवहार-वृत्ति द्वारा ही जीत सकता है। यही कारण है कि फिश्टे के दर्शन को नैतिक अध्यात्मवाद (Ethical Idealism) कहते हैं।

फिश्टे के बाद शेलिंग आता है। वह फिश्टे पर आत्यन्तिक

स्वात्मकता का दोषारोपण करता है। क्योंकि, फिश्टे के अनुसार प्रकृति अथवा अनात्मा का कार्य केवल ससीम आत्मा के लिये एक मर्यादा उपस्थित करना है। अथवा फिश्टे के मार्मिक कथन द्वारा व्यक्त करना हो, तो अनात्मा नैतिक पहलवान के लिये एक अखाड़ा है। इस प्रकार फिश्टे के लिये व्यवहार-वृत्ति से संयुक्त आत्मा ही सब कुछ है; प्रकृति का महत्त्व निषेधात्मक है।

फिश्टे के विरोध में शेलिंग का कथन है कि प्रकृति को निरर्थक अथवा जड़ कहकर नजरंदाज करने से काम नहीं चलेगा। उसके विपरीत प्रकृति "बुद्धिगम्य रूपों का भांडार" है[२५] अपनी Natur Philosophic में शेलिंग ने यहाँ तक कहा है कि प्रकृति "बुद्धि की ओर ही एक क्रिया" है। प्रकृति दृश्यमान बुद्धि है और बुद्धि अदृश्य प्रकृति। इस प्रकार शेलिंग के लिये अनात्मा उतना ही आवश्यक है जितनी कि आत्मा। अपनी Identitats Philosophic में शेलिंग अपनी विचार-धारा को स्पिनोझा की विचार-धारा के आदर्श पर ढालता है[२६]। परमात्मा से शेलिंग का मतलब है वह सत्य-आत्मीयता (an-sich) जो कि आत्मा और अनात्मा के उदासीन-बिंदु (indifference point) से एक है[२७]।"

---

[२५] Seth, *From Kant to Hegel*, p. 53

[२६] *Ibid.*, pp 61—62; Also cf: "Schelling's terminology is in advance of spinoza's but his result is very similar. His absolute is called Reason, but in its true nature, he says, Reason must be taken as the indifference-point of subjective and objective." (*Ibid.*, p. 62)

[२७] *Ibid.*, p. 60.

आत्मा और विषय तो केवल परमात्मा के पक्ष (modes) अथवा आभास (potences) हैं[२८]। परमात्मा स्वयं दोनों के एकीकृत आधार की तरह स्थिर रहता है।

हेगेल शेलिंग की परमात्मा की कल्पना का इस आधार पर विरोध करता है कि शेलिंग की आत्मीयता (An-Sich) एक अव्यक्त, रिक्त एकता है। वह "उस रात के समान है जिसमें सारी गायें काली मालूम पड़ती हैं।" यह कहना मात्र पर्याप्त नहीं कि आत्मा और विषय ऐकांतिक एकता के दो पक्ष हैं। किन्तु हेगेल इस बात पर जोर देता है कि इस भिन्नता के आधार को स्पष्ट करना अत्यावश्यक है। इसी बात की व्याख्या करने का काम हेगेल ने अपने हाथ में लिया।

हेगेल कांटोत्तर अध्यात्मवादियों से इस बात में पूर्णतया सहमत है कि परमात्मा अनुभव के जगत् का आधारभूत सर्वोच्च समन्वयात्मक तत्त्व है। वह पूर्णतया आत्म-सन्तुष्ट है इसलिये कि उसमें किसी प्रकार की ऐसी असंगतियाँ नहीं होतीं जिन्हें उसे दूर करना पड़े। वह पूर्णतया आध्यात्मिक और स्वतन्त्र है, क्योंकि वह स्वयं ऐसा *विचार* है जिसने बाह्य जगत् के विरोध को सर्वथा मिटा दिया है और फलतः पूर्णतया आत्मचिंतक हो गया है। इसीलिये हेगेल उसे शुद्ध विचार (Pure Idea) कहता है।

अब यद्यपि परमात्मा आत्म संतुष्ट (Self-fulfilled) है, तथापि हेगेल के अनुसार वह आत्मतुष्यमाण (Self-fulfilling)

---

२८ *Ibid.*, p. 61.

भी है। अर्थात् यद्यपि परमात्मा स्वयं शुद्ध एकता है, तथापि वह विविधता का आधार है। वस्तुतः हेगेल के अनुसार, परमात्मा आत्मा और विषय के विरोध के द्वारा ही अपने आपको संतुष्ट करता है। "स्वयं *विचार* वह गति है जो निरंतर अपने आपको विभक्त करती है और एकीभूत को विभिन्न से, स्वात्मक को परात्मक से, ससीम को असीम से, आत्मा को शरीर से पृथक् करती है। केवल इन्हीं बातों के कारण वह अनन्त जीवन है और अनन्त अध्यात्म है[२९]।" दूसरे शब्दों में आत्म-सन्तोष को समस्त क्रिया की परिचालिका शक्ति विरोध तत्त्व (Principle of contradition) से उत्पन्न होती है। अर्थात्, आत्मसाक्षात्कार की आवश्यकता तभी होती है जब कि विषय आत्मा के विरोध में खड़ा होता है। क्योंकि प्रत्येक विरोध में विरोधियों की संबद्धता (corretatinity) अपेक्षित है। विरोधियों में अन्तर इसलिये है कि वे संबद्ध हैं। "अपने आप में, वह (अर्थात् पदार्थ) अपने अस्तित्व को नष्ट कर देता है, क्योंकि उसकी व्याख्या, जिसने अपनापन दिया, उस वस्तु से सम्बन्ध होने पर होती है जो वह स्वयं नहीं था[३०]।" अब सापेक्षिता में अनिवार्य रूप से यह अपेक्षित है कि जिन वस्तुओं के बीच सम्बन्ध स्थापित है वे अंततः

---

[२९] *The Logic of Hegel.* (Eng. tr. by Wallace) Vol. II. p. 356

[३०] Caird's *Hegel*, (Blackwood's Philosophical Classics) p. 162.

स्वभाव में एक हों। वस्तुतः, हेगेल के दर्शन के उस आधारभूत तत्त्व, यानी "होना और न होना एक है", का ठीक यही अर्थ है। हेगेल की इस रहस्यमयी उक्ति का "यह अर्थ नहीं कि होने और न होने में कोई अन्तर ही नहीं; किन्तु उसका अर्थ यह है कि विभिन्नता आत्यंतिक नहीं है और यदि वह आत्यंतिक हो जाय, तो उसी क्षण वह तिरोहित हो जाती है। अतः सारा सत्य न तो उस साधारण स्थापना से कि "होना और न-होना एक हैं" से व्यक्त किया जा सकता है और न वह उस साधारण स्थापना के द्वारा ही व्यक्त किया जा सकता है कि वे भिन्न हैं। किन्तु ये अर्धसत्य जब एक दूसरे से अलग कर दिये जाते हैं तब अपने आप में क्या होता है इस बात का विचार······बतलाता है कि उनका सत्य न तो उनकी एकता ही है और न उनकी भिन्नता ही; किन्तु, वह तो उनकी *विभिन्नता में एकता* है।"[३१]

किन्तु यहाँ यह जानना महत्त्वपूर्ण है कि आत्मा को अपने विषय से पहले मुकाबले में ही अपने और विषय की अन्तर्हित एकता का पूर्ण साक्षात्कार कर लेना संभव नहीं। निस्संशय वह एकता आत्मा को प्रतीत होनेवाले विषय के सर्वप्रथम दर्शन में अन्तर्हित है। किन्तु, हेगेल के अनुसार, आत्मा को वह एकता तर्क की आध्यात्मिक क्रिया अथवा तार्किक विचार द्वारा स्वयं के लिये *प्रत्यक्ष* करनी पड़ती है। इसीलिये हेगेल विश्वास करता है

[३१] *Ibid.*, p. 163

कि परमात्मा की आत्म-संतोष की क्रिया एक तर्क की क्रिया (logical moment) है।

परमात्मा की आत्म-संतोष की क्रिया, जिसे हेगेल Dialectic कहता है, फिश्टे के Anstoss के सिद्धान्त की तरह त्रिविध है। सर्वप्रथम परमात्मा अपने आपको ससीम आत्मा के रूप में स्थिर करता है। यह Dialectic का प्रथम क्षण (moment) है और यह स्थिति Thesis कहलाती है। दूसरे, आत्मा अपने विरोधी का मुकाबला करती है। यह है दूसरा क्षण, जिसे विरोध (antithesis) कहते हैं। तीसरे, आत्मा और विषय में क्षणिक समझौता होता है। यह है तीसरा क्षण जिसे समन्वय (Synthesis) कहते हैं। प्रत्येक समन्वय (Dialectic) क्रिया का क्षणिक विश्राम-स्थल है, क्योंकि वहाँ से उसी प्रकार की गति का फिर से प्रारम्भ होता है जिसका पर्यवसान ऐसे समन्वय में होता है जो पूर्वगामी समन्वय से अधिक पर्याप्त और सम्पूर्ण हो। यह क्रिया तब तक जारी रहती है जब तक ऐसा समन्वय का क्षण न आ जाय जो कि आत्मा और विषय की आन्तरिक एकता को विशद न करे अथवा पूर्णतया साक्षात्कार न करा दे। इस प्रकार का समन्वय ही परमात्मा है। इस प्रकार परमात्मा हमारे अनुभव का सर्वोच्च सरूप समन्वय है और सारी Dialectic क्रिया का अन्तिम ध्येय है।

यहाँ परमात्मा की आत्म-साक्षात्कार-क्रिया के उस विशिष्ट विस्तार में जाना अनुपयुक्त होगा जिसकी साधारण योजना देने

का काम हेगेल ने अपनी कृतियों में, विशेषत: *Logic* में किया है। यहाँ यह जान लेना पर्याप्त है कि हेगेल के *Logic* के तीन मुख्य भाग हैं जो क्रमशः आत्मा के विषय-दर्शन के विकास की तीन स्थितियों का अनुसरण करते हैं। आत्मा की पहली प्रवृत्ति, जो कि हमारी सबसे साधारण और निर्बुद्ध चेतना का अनुसरण करती है, विषय को यह मानती है कि वह "एक वस्तु है जो कि अपने आप में बन्द रहती है मानों उसका दूसरी वस्तुओं से अथवा मन से कोई सम्बन्ध नहीं है।"[३२] अर्थात्, यह दृष्टिकोण केवल वस्तु के अस्तित्व की ओर संकेत करता है। तथापि प्राग्वैज्ञानिक दृष्टिकोण धीरे-धीरे आत्मा की विषय-दर्शन की दूसरी प्रवृत्ति की ओर ले जाता है, जो साधारणतया वैज्ञानिक अथवा चिंतनात्मक चेतना का अनुसरण करती है। यह इसलिये कि कोई वस्तु अधिक समय तक अपने आपको सर्वथा पृथक् रखने में असमर्थ है, जैसी कि वह हमें अपने पहिले दृष्टिकोण में मालूम पड़ती थी। क्योंकि वह निरन्तर अन्य वस्तुओं द्वारा मर्यादित है। अत: किसी वस्तु का वास्तविक महत्त्व तब तक नहीं जाना जा सकता जब तक वह अन्य वस्तुओं से सम्बद्ध न की जाय। विभिन्न वस्तुओं के विशिष्ट सम्बन्धों की छानबीन करने का काम यथार्थ रूप से विज्ञान ही के जिम्मे है। किन्तु विज्ञान द्वारा पुरस्कृत जग की सर्वोच्च कल्पना में—वह कल्पना जिसमें "अनेक

---

३२ Caird's *Hegel* (Blackwood's Philosophical Classics) p. 164.

द्रव्य परस्पर क्रिया और प्रतिक्रिया करते हैं और अपनी क्रिया द्वारा अपरिवर्तनीय नियमों के अनुसार परस्पर में लगातार परिवर्तन उत्पन्न करते हैं"[३३]—कुछ तो भी न्यूनता रहती है। क्योंकि परस्पर आबद्ध विषयों का बहुत्व हमें उनके सम्बद्ध होने का तत्त्व नहीं दे सकता, अथवा वह व्याप्ति नहीं दे सकता "जो अपने आपको विभिन्नता में और विशिष्टताओं में व्यक्त करते हुए भी अपनी विशिष्टता में अपने आपसे तादात्म्य में रखती है।" वैज्ञानिक दृष्टिकोण का यह दोष तभी दूर हो सकता है जब कि वस्तुजात आत्मा से सम्बद्ध कर दिया जाता है। क्योंकि आत्मा ही "अपने अन्दर बुद्धि अथवा आत्मचैतन्य का मुख्य स्वभाव कायम रखती है। वह वह एकता है जो कि आत्मस्थ होती है किन्तु किसी भिन्नता के अभाव में नहीं, प्रत्युत उस भिन्नता के कारण जिसे आत्मा व्यक्त करने के साथ ही आत्मसात् कर लेती है।"[३४] यह कार्य सम्पन्न करना ही, हेगेल के मत में, उस दर्शन का कार्य है जो कि इसी कारण आत्मा की विषय-दर्शन की तीसरी और सर्वोच्च प्रवृत्ति बतलाता है।[३५]

---

३३ Caird's *Hegel*, (Blackwood's Philosophical Classics) p. 173.

३४ *Ibid*., p. 176.

३५ तार्किक विचार की उपर्युक्त तीन स्थितियों के अनुसार हेगेल के Logic के तीन मुख्य विभाग हैं। उनका नाम है the Logic of Being, the Logic of Essence और the Logic of Notion.

"The first main division of logic, then, will have to do with the categories in which, as yet, relativity is not

कांट से हेगेल तक की तत्त्वचिंता की प्रगति की उपर्युक्त रूपरेखा से हम समझ सकते हैं कि कांटोत्तर चिंतकों ने कांट के असदृश, तत्त्व-ज्ञान को सर्वोच्च स्थान दिया है और सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक पक्ष उसके अधीन कर दिये हैं। वस्तुतः हेगेल का dialectic तो तत्त्व-चिंता के इतिहास में तत्त्व-ज्ञान को निरंकुश शासक का स्थान देनेवाले प्रयत्नों में सबसे अधिक भव्य प्रयत्न है।

---

expressed; categories, like Being, Quality, Quantity, which, though they involve, do not immediately suggest, any relation of the object to which they are applied to any other object. The *second* main division will have to do with Categories, such as Essence and Existence, Force and Expression, Substance and Accident, Cause and Effect, which forces us to go beyond the object with which we are dealing, and to connect it with other objects, or at least with something that is not immediately presented to us in the perception of it. And the last main division will have to do with Categories, such as those final Cause and Unity, by which the object is characterised as related to intelligence, or as having in it that self-determined nature of which the intelligence is the highest type; or to put it otherwise, it will have to do with Categories by which the object is determined as essentially being, or having in it, an ideal unity which is reached and realised in and through all the manifoldness of its existence." (Caird's *Hegel*, Blackwood's Philosophical Classics, pp. 164-165)

किन्तु इतना होते हुए भी, कांटोत्तर दर्शन में एक गम्भीर दोष है। यह मान लेने पर भी कि परमात्मा अपने आपको dialectic विधि में, और उसी के द्वारा, सन्तुष्ट करता है, तो भी यह बात हमारी उस कठिनाई का कि, परमात्मा, जो कि हेगेल के मत में पूर्णतया आत्म-सन्तुष्ट है, अपनी सन्तुष्ट स्थिति छोड़कर आत्म-तुष्यमानता की सारी आफ़त क्यों उठाता है ? हल नहीं दे सकती। दूसरे शब्दों में, परमात्मा, जो कि स्वयं अविभिन्न एकता है, अपने आपको आत्मा और विषय में क्यों विभिन्न कर देता है ? फिश्टे ने, जैसा कि हम देख चुके हैं, इस समस्या को यह कहकर हल करने का प्रयत्न किया है कि परमात्मा की आत्म-स्थिति की क्रिया आत्मा के नैतिक (Moral) प्रयत्न से समरस है जब कि हेगेल कहता है कि वह क्रिया तर्क का (Logical Moment) एक क्षण है। किन्तु ये उत्तर उपर्युक्त समस्या के हल में ज़रा भी मदद नहीं पहुँचाते। वस्तुतः वे कठिनाई को और भी अधिक बढ़ा देते हैं। क्योंकि, दोनों सैद्धान्तिक और व्यावहारिक प्रयत्नों में कोई लक्ष्य अथवा आदर्श अन्तर्हित रहता है। और आदर्श को कार्यान्वित करने का प्रयत्न स्वभावतः चल (Dynamic) होता है। अब, परिवर्तनशीलता अपूर्णता से सापेक्ष एक कल्पना है। क्योंकि परिवर्तन की आवश्यकता उस इच्छा से उद्भूत है जो हमें अपने बाहर किसी वस्तु को प्राप्त करने के लिये प्रवृत्त करती है। किन्तु अप्राप्य वस्तु-विषयक कोई कामना हमारी

अपूर्णता का निश्चित चिह्न है। तब प्रश्न उठता है; यदि परमात्मा की आत्म-सन्तुष्टि सैद्धान्तिक अथवा व्यावहारिक प्रयत्न से समरस है तो हम इन प्रयत्नों की अपूर्णता का स्वयं परमात्मा की पूर्णता से किस प्रकार समझौता करें? इस प्रश्न का सन्तोषजनक उत्तर हमें कांटोत्तर अध्यात्मवाद में नहीं मिलता।

इस प्रकार कांटोत्तर दर्शन में परमात्मा के आत्म-सन्तुष्ट तथा आत्म-तुष्यमाण पक्षों में हमें एक गहरी खाई मिलती है। यह बात Dialectic गति की सारी एकता को नष्ट कर देती है। वस्तुतः यह उस सारे अध्यात्मवाद की सदोषता है जो एकता को जबरन स्थिर रखना चाहता है। जोआचिम भी यही बात कहता है :—

"The apparent ease with which we have brought together the 'truth' of human knowledge and the ideal of the coherence-notion, is due to a degradation of the latter, and an ambiguity in our account of the former. For we have lapsed into a static conception of the ideal. We have talked complacently as if it were a finished complete whole of truth; and we have made no attempt to dwell on what formerly we emphasized, viz, its dynamic character, as a self-fulfilling life or movement. And if we were challenged as to how *such* an deal—a rigid, static, finished system—is related to, or implied by, the developing human knowledge, we should find ourselves in an indefensible position."[३६]

---

[३६] *The Nature of Truth* p. 114.

अब हम आसानी से समझ सकते हैं कि कांटोत्तर अध्यात्म-वाद में परमात्मा के दो पक्ष, यानी आत्मसन्तुष्ट एवं आत्मतुष्यमाण परमात्मा, एकदम पृथक् हो जाते हैं। और यही बात, पुनः कांटोत्तर अध्यात्मवादियों द्वारा ज्ञानमीमांसा और कर्ममीमांसा के अधिकारों को नजरंदाज कराने का कारण बनती है। क्योंकि इतर दार्शनिकों के मत में तत्त्वज्ञान ही को सर्वाधिक महत्त्व देने की इच्छा थी। अतः उन्होंने अत्मसन्तुष्ट परमात्मा को ही श्रेष्ठ माना है। किन्तु, ज्ञानमीमांसा और कर्ममीमांसा तब तक सम्भव नहीं जब तक परमात्मा आत्मतुष्यमाण भी नहीं बन जाता। क्योंकि ज्ञान और कर्म-मूलक प्रवृत्तियों में (जिनसे उपर्युक्त तंत्र सम्बन्धित हैं) यह अपेक्षित है कि आत्मा अभी अपूर्ण है और अतः उसे ऐसा प्रयत्न करने की आवश्यकता है जिसके द्वारा वह ज्ञानमीमांसा और कर्ममीमांसा द्वारा पुरस्कृत आदर्शों को प्राप्त कर सके। इस सबके लिये गति और चलता की आवश्यकता है। किन्तु इनका आत्म-सन्तुष्ट परमात्मा से सामंजस्य कैसे हो सकता है ?

उपर्युक्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि कांट के अनुयायी उसकी अतीन्द्रिय आध्यात्मिक एकता को परमात्मा के पद तक ऊँचा उठाने में, बहुत आगे बढ़ गये। निस्संशय उन्होंने तत्त्व-ज्ञान को सर्वोच्च पद पर आसीन करने में बड़ा अच्छा काम किया। किन्तु ऐसा करने में उन्होंने ज्ञानमीमांसा और कर्ममीमांसा के अधिकारों की ओर दुर्लक्ष्य किया। यही कांटोत्तर अध्यात्मवाद का प्रधान दोष है।

अभिनव-स्वातंत्र्यवाद

लुडविग स्टाइन ने अभिनव-स्वातंत्र्यवाद का सार संक्षेप में इस प्रकार व्यक्त किया है:—

> "सारे अरूप ज्ञान के स्थान में सहज वृत्ति और अज्ञान-रूप, अचिंतनशील प्राकृतिक अवबोधों के प्रभुत्व की स्थापना करना"[१]

वस्तुतः सारे अभिनव-स्वातंत्र्यवाद की उत्पत्ति ज्ञान-दर्शन (intellectualism) के अतिरेक के प्रति प्रतिक्रिया से होती है। अलियोटा का अनुसरण करते हुए, ज्ञान-दर्शन से हमारा मतलब उन ज्ञान-मीमांसात्मक प्रणालियों से है जो ज्ञानात्मिका प्रवृत्ति को स्वायत्त मूल्य प्रदान करती हैं।" इस व्यापक अर्थ में, ज्ञान-तन्त्र में उस दार्शनिक अध्यात्मवाद का अन्तर्भाव होता है जो हेगेलियन दर्शन में तथा उन्नीसवीं शताब्दी में यन्त्रवाद और जड़वाद में पर्यवसित ज्ञान-दर्शन में अपना सर्वोच्च शिखर गाँठता है। ज्ञान-तन्त्र-दर्शन के प्रति प्रतिक्रिया के रूपों में "वे सब विचार-धाराएँ आती हैं जो विज्ञान और ज्ञान के मूल्य को साधारणतया मन की

---

[१] "Verherrlichung der Instincte und des unverkünstelten, unreflectierten, naturlichen Menschenverstandes auf Kosten aller abstracten Verstanderkenntnis." (Quoted from Dr. Maitra's *The Neo-Romantic Movement in Contemporary Philosophy*, p. 16.

अन्य शक्तियों पर अवलम्बित करती हैं और इच्छा एवं कल्पना को बुद्धि से ऊँचा मानती हैं।"[२]

स्वातंत्र्यवादी के अनुसार, ज्ञान-तन्त्र दर्शन का मुख्य दोष यह है कि वह सत्ता के सरूप और मिश्रित स्वभाव की ओर दुर्लक्ष्य करता है। सत्ता तो परिवर्तनशील है, चल है, चिर गतिमान है। सत्ता की गति यांत्रिक नहीं है। इसके विपरीत, वह स्वतःस्फूर्त है, स्वयंभू और सृजनशील है।

अब, ज्ञान-तन्त्र-दर्शन सत्ता की सृजनशीलता और सम्मिश्रता को अभिव्यक्त नहीं कर सकता। वह सत्ता के केवल उन्हीं पक्षों को मानता है, जो केवल बाह्य साम्य के कारण, एक ही दर्जे में रखे जा सकते हैं। इस बाह्यसाम्य से वह भिन्न परिकल्पनाओं (Concepts) और साधारण मान्यताओं (axioms) को निर्मित करता है और इस बात में विश्वस्त होकर कि ये परिकल्पनाएँ उन सब वस्तुवृत्तों की जो उसके अधीन हैं, पूरी-पूरी व्याख्या कर देती हैं, वह इन रिक्त परिकल्पनाओं को स्वयं वस्तुवृत्तों के स्थान में रख देता है। यह हो जाने पर, ज्ञान-तन्त्र-दर्शन के प्रतिनिधि यह सोचते हैं कि सत्ता तो ऐसी परिकल्पनाओं से निर्मित एक प्रणाली मात्र है। हेगेल की परमात्मा की कल्पना, जोकि नव-स्वातंत्र्यवादी के अनुसार, "रक्तहीन ज्ञान रूपों का अपार्थिव समाहार" के अतिरिक्त और कुछ नहीं है और वह वैज्ञानिक दर्शन,

---

२ *Idealistic Reaction against Science*, p. xxii.

जोकि बुद्धि द्वारा प्राप्त भिन्न परिकल्पनाओं के वाष्पीकरण का परिणाम है, ऐसे ही हैं।

वस्तुतः, माख और अन्य दार्शनिकों द्वारा प्रतिपादित, अनुभवाचोलना (empirio-criticism) इस आधारभूत तत्त्व पर अधिष्ठित है कि विज्ञान के वाद और तत्त्व तब तक प्रमाणभूत माने जा सकते हैं जब तक वे प्राकृतिक वस्तुवृत्तों का अनुक्रम और सहास्तित्व (Coexistence) की सफल पूर्वकल्पना कराने के व्यावहारिक हेतु में उपयोगी सिद्ध होते हैं। वे तो, यों कहिये, बारम्बार एक ही अवलोकन की पुनरावृत्ति में हमारे परिश्रम को कम करने के लिये सूत्ररूप प्रतीक हैं किंतु विज्ञान की इन विभिन्न कल्पनाओं को वास्तविक महत्त्व प्रदान करके उनसे एक विश्व-चित्र (World picture) बनाने का तरीका गलत है।

आश्चर्य की बात है, कि अनुभवालोचना के उन्नायकों ने बुद्धिवाद के विरुद्ध अपने सारे निष्कर्ष उत्क्रांति के उसी नियम पर अधिष्ठित किये हैं जोकि किसी समय बुद्धिवाद का गढ़ था और जिसका भौतिक-वैज्ञानिकों तथा प्राणिशास्त्रज्ञों ने सारी सेंद्रिय रचना को विज्ञान की यान्त्रिक योजना में लाने के लिये उपयोग किया था। अब यह पूछा जाने लगा—यदि स्पेंसर के अनुसार उत्क्रान्ति एकजातीयता (homogeneous) से विजातीयता (heterogeneous) की ओर प्रगति करती है, तो हम इसके आधार पर उत्क्रान्ति की क्रिया से निरन्तर नव-नवोत्पद्यमान रूपों की व्याख्या किस प्रकार कर सकते हैं ? इस क्रिया में केवल मात्रा का अन्तर

(quantitative difference) नहीं होता किन्तु गुण का अन्तर (qualitative difference) है। पुनः, उत्क्रान्ति अंध क्रिया भी नहीं है। वह तो उच्च से उच्च उत्क्रान्ति रूपों की सृष्टि करती है। प्रगति की यह दिशा यन्त्रवाद के सूत्रों से किस प्रकार निश्चित की जा सकती है? क्योंकि कार्यकरण-सम्बन्ध के लिये यह आवश्यक नहीं कि परिवर्तन आगे की ओर हो रहा है अथवा पीछे की ओर किन्तु इसके विपरीत, उत्क्रान्ति की क्रिया के लिये अनिवार्य रूप से यह आवश्यक है कि उसकी गति एक विशेष दिशा ही की ओर हो। अलियोटा ने इस सम्बन्ध में निम्नांकित उद्धरण में जो कहा है वह उचित है:—

"यन्त्रवाद और उत्क्रान्तिवाद दो ऐसी परिकल्पनाएँ हैं जो एक दूसरे से नहीं निकाली जा सकतीं क्योंकि वे प्रकृति के दो भिन्न पक्षों का अनुसरण करती हैं:—एक तो है गणितीय नियम की मात्रा-विषयक स्थिरता और ऐकान्तिक निश्चितता; दूसरी है ऐसे वैयक्तिक रूपों का गुण-विषयक परिवर्तन और सफल उत्पत्ति जिसे कितने भी अरूप सूत्र उसकी जीवंत पूर्णता में आकलन नहीं कर सकते। वस्तुओं की उत्क्रान्तिवादी कल्पना परंपरागत गणितीय विधि की कड़ी चौखट में नहीं जमाई जा सकती; यह अनिवार्य था कि वह (यदि मैं ऐसा कह दूँ) ज्ञान-तन्त्र दर्शन की शिराओं में ध्वंसक विष भर दे। इतिहास की जीवंत आत्मा, जिसने शताब्दी के प्रारम्भ की आध्यात्मिक तत्त्वचिन्ता को अनुप्राणित किया था, वैज्ञानिक खोज के जगत् में डार्विनवाद से सुलूख करके और इस प्रकार विज्ञान की योजनाओं में अपने लिये एक स्थान प्राप्त करने की चेष्टा करके, उनकी यंत्र-

वादात्मक कठोरता को नष्ट कर देती है और अनुभव के साम्राज्य में रिक्त सूत्रों द्वारा छोड़ी गई भीषण खाई को प्रकट करती है।"[3]

इस सबका परिणाम यह हुआ कि जीवंत और सेंद्रिय क्रियाएँ यान्त्रिक कार्यकरण-सम्बन्ध के क्षेत्र के परे मानी गईं। इसके विपरीत, कार्यकारण-सम्बन्ध का प्रारम्भिक महत्त्व भी घटने लगा। विज्ञान की सारी साधारण कल्पनाएँ और मान्यताएँ केवल व्यावहारिक जीवन के लिये महत्त्वपूर्ण मानी जाने लगीं। ऐसा माना जाने लगा कि वे अवयवी (Organism) के परिस्थिति से सामंजस्य के सिलसिले में मनुष्य की बुद्धि द्वारा निर्मित्त उपकरण हैं।

इस प्रकार माख, अर्न्हेनारियुस आदि की आलोचना ने यह बतला दिया कि सैद्धान्तिक पक्ष व्यक्ति के जीवन-विकास के अधीन है और ऐसा करने में उसने कर्म-मीमांसात्मक दृष्टिकोण के लिये मार्ग खुला कर दिया जो हमें सीधा अभिनव-स्वातंत्र्यवाद की ओर ले जाता है। क्योंकि, जैसा कि हमने बतलाया है, जीवन के व्यावहारिक पक्ष पर ऐकान्तिक जोर देना ही अभिनव-स्वातंत्र्यवाद की प्रायः समस्त प्रणालियों का मुख्य लक्षण है। अभिनव-स्वातंत्र्यवादी के अनुसार, सत्ता गतिमान, परिवर्तनशील, चिर प्रवहमान है। इस प्रकार की सत्ता का बोध हमें भावना और इच्छा के द्वारा ही होता है जिनसे हमारी आत्मा का व्यावहारिक पक्ष बना होता है।

अब, मुख्य प्रश्न है— क्या भावना और इच्छा को चरम तत्त्व

---

[3] *Idealistic Reaction against Science*, p. 10

के स्थान पर आसीन करना उचित है ? जैसा कि डॉ० मैत्र बतलाते हैं:—

"यह बड़ा दुर्दैव है कि स्वातंत्र्यवादी व्यक्तित्व-विषयक अंग पर जोर देने में ठीक उसी बात को अर्थात् व्यक्तित्व की परिपूर्णता को नज़रंदाज़ कर जाता है जिसके लिये वह झगड़ता है। सरूप को पूर्ण बनाने के लिये हमें उसे उसकी समग्रता में लेना चाहिये और यह तभी हो सकता है जब हम बुद्धि का शुद्ध प्रकाश उस पर फेकें। जैसा कि हम पहिले कह चुके हैं, स्वातंत्र्यवादी को चिरकलह (Unendlichkeitsdrang) की कल्पना ही ऐसे तत्त्व की खोज की ओर ले जाती है जो बुद्धि की अपेक्षा जग की सम्मिश्रता को अधिक उत्तमता से आकलन कर सके। किन्तु यह खोज उसे ठीक वहीं ले जाती है, जहाँ उसे नहीं जाना चाहिये, अर्थात् उस स्वप्निल रहस्यवाद के धुँधलेपन की ओर जो प्रत्येक वस्तु को अदृश्य बना देता है।"[४]

अब, इस कठिनाई का मूल कारण यह है कि अभिनव स्वातन्त्र्यवादियों ने तत्त्व-ज्ञान को कर्म-मीमांसा द्वारा स्थानापन्न कर दिया है। जिस प्रकार बुद्धिवादियों ने उसके स्थान पर ज्ञान-मीमांसा को रख दिया था। यह बात नवस्वातंत्र्यवादी की उस प्रवृत्ति से और भी स्पष्ट हो जाती है जिसके द्वारा वह उन कांट और फिश्टे को अपनी स्फूर्ति के स्रोत मानता है जिन्होंने आत्मा के सैद्धान्तिक पक्ष से व्यावहारिक पक्ष को प्रबल माना है।

---

४ *Neo-Romantic Movement in Contemporary Philosophy*, pp. 18-19.

"इस विचारधारा की उत्पत्ति कांट के आत्मा की सैद्धान्तिक क्रिया की अपेक्षा व्यावहारिक क्रिया को अधिक प्राबल्य देने के सिद्धान्त से होती है। किन्तु फिश्टे के इस कथन से कि जगत् एक "स्वतन्त्र क्रिया" है, इस विचारधारा को पुष्टि मिली।"[५]

नव-स्वातन्त्र्यवादी भी, कांट और फिश्टे का अनुसरण करते हुए कर्म-मीमांसा को सर्वोच्च स्थान प्रदान करते हैं और तत्त्व-ज्ञान को कर्म-मीमांसा के अतिरिक्त स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं देते। क्योंकि नव-स्वातन्त्र्यवादियों के अनुसार, भावना और इच्छा ही सत्ता का सार व्यक्त करती है और इसीलिये वे ही अस्तित्व के जगत् के आधारभूत तत्त्व हैं।

अब, उपर्युक्त पद्धति दार्शनिक दृष्टिकोण से बिलकुल असंगत है। क्योंकि सत्ता तो सर्वव्यापी (all-comprehensive) होना ही चाहिये। अतः उसके विशिष्ट पक्षों को लेकर उसकी व्याख्या करना और समानरूप से महत्त्वपूर्ण दूसरे पक्षों की ओर दुर्लक्ष्य करना सर्वथा अनुचित है। नव-स्वातन्त्र्यवादियों ने उस बुद्धिवाद की एकांगिता को बतलाने का बहुत ही अच्छा कार्य सम्पन्न किया है। जिसके द्वारा आत्मा के व्यावहारिक पक्ष का परित्याग करके उसके सैद्धान्तिक पक्ष ही को सर्वाधिक महत्त्व देने का प्रयत्न किया गया था। किन्तु, एक पाप से बचने में वे दूसरे पाप के शिकार बन बैठे। क्योंकि, व्यावहारिक पक्ष में ही ऐकान्तिक विश्वास रखने में उन्होंने आत्मा के सैद्धान्तिक पक्ष की

---

५ *Ibid.*, p. 12.

ओर एकदम ही दुर्लक्ष्य कर दिया। इस प्रकार, बुद्धि से ध्यान खींचकर उसे भावना और इच्छा पर केन्द्रित कर देने में, नव-स्वातन्त्र्यवादियों ने एक नया दृष्टिकोण ही पैदा किया है। किन्तु, उन्होंने दार्शनिक विधि में किसी प्रकार ऐसी क्रान्ति करने की कोशिश नहीं की, जिसके द्वारा सत्ता के सारे पक्षों का समन्वय करने में सुलभता होती। अतः नव-स्वातन्त्र्यवाद उसी अराजकता की दूसरी शाखा है जिसने लॉक के पश्चात् समस्त तत्त्व-चिंता को अस्त-व्यस्त कर दिया था।

नीचे, नव-स्वातन्त्र्यवाद के मुख्य-मुख्य रूपों का हम आलोचनात्मक विवेचन करेंगे। सर्वप्रथम, हम French स्वातन्त्र्य-दर्शन को लेंगे।

सन् १८१९ ई० के लगभग ही, शोपनहार ने अपने *Die Welt als Wille und Vorstellung* में हेगेल के बुद्धिवाद के विरोध में, यह बतलाया था कि जगत् अन्ध इच्छा की सृष्टि है। अन्ध इच्छा को शोपनहार जग के वस्तुवृत्तों के नीचे स्थित स्वयं-वस्तु मानता है। वह उसे अन्ध इसलिये कहता है कि उसके द्वारा उसका ज्ञान-विरोधी लक्षण स्पष्टता से हमारे ध्यान में आ जाय और उसे हेगेलियन दर्शन के आधारभूत तत्त्व यानी शुद्ध बुद्धि के विरोध में उपस्थित किया जाय। इच्छा का मुख्य लक्षण है निरन्तर प्रयत्नशील रहना। इच्छा अपने आपको प्रकृति में व्यक्त करती है, और जग के विभिन्न वस्तुवृत्त उसी की अभिव्यक्ति की क्रिया के रूप हैं।

शापेनहार की अन्ध इच्छा की कल्पना को परिवर्तन कर उससे फॉन हार्टमान ने अपना विचेतन (Unconscious) का सिद्धांत निर्मित किया। विचेतन का अर्थ पूर्णतया अचेतन नहीं है, जैसा कि शोपेनहार अपनी अन्ध इच्छा को मानता था। इसके विपरीत वह इच्छा और विचार, इन दोनों का संयोग है। किन्तु हार्टमान ने इन दोनों के समन्वय को विचेतन कहना इसलिये पसन्द किया कि उसके द्वारा चेतन पक्ष क्रियाशील बुद्धि पर अपना प्रभुत्व न जमा सके।

शोपेनहार और हार्टमान के दर्शनों का इच्छा-विषयक पूर्वग्रह (voluntaristic bias) फ्रांस में स्वातन्त्र्य-दर्शन में अभिव्यक्त हुआ। स्वातन्त्र्य-दर्शन माख द्वारा पुरस्कृत अनुभवालोचना से इस बात में सहमत है कि बुद्धि को केवल व्यावहारिक जीवन के लिये ही महत्त्व दिया जाय। उदाहरणार्थ, राव्हेसों और सेक्रेतां ने विश्व की केवल सौन्दर्य और नीति-मूलक ही कल्पना की है। वे कहते हैं सत्य क्रियाशील और स्वतःस्फूर्त है। जगत् एक "अनियन्त्रित विस्तार का और प्रेम एवं असीम करुणा का कार्य है।"[६]

हम ऐसे जगत् का सार कलात्मक अनुभूति अथवा धार्मिक रहस्यवाद द्वारा ही आकलन कर सकते हैं। इसके विपरीत, विज्ञान सृजनशील सत्ता को अचल मानता है और अतः वह मानों

---

[६] इसके सम्बन्ध में *Aliotta* का *Idealistic Reaction against Science* देखिये।

उसे निर्जीव कर देता है। सत्ता की चिर नवीन रचनाएँ वैज्ञानिक परिकल्पनाओं और नियमों द्वारा कचित् जानी जा सकती हैं।

एमिल बूत्रू भी जग को कलात्मक और नैतिक प्रयत्न का कार्य मानता है। बूत्रू के अनुसार, वस्तुओं के सर्वोच्च तत्त्व वे नैतिक और सौंदर्य-मूलक नियम हैं जो "प्राणियों की स्वतःस्फूर्त क्रिया को ईश्वर तक आरोहण कराने में नियमित करते हैं।" प्राकृतिक नियमों का केवल व्यावहारिक महत्त्व (pragmatic value) है। वे हमारी बुद्धि के उस स्थायी अभ्यास के परिणाम हैं जिसके द्वारा वह हमें व्यावहारिक जीवन के भिन्न वस्तुवृत्तों में केवल समता बतलाकर मार्ग-दर्शन कराती है।

> "विज्ञानों में उपलब्ध प्राकृतिक नियम की कल्पना का विश्लेषण करते हुए मुझे मालूम हुआ कि यह नियम सर्वोच्च तत्त्व नहीं है किन्तु एक परिणाम है; जीवन, भावना और स्वतन्त्रता सत्य और गम्भीर सत्ताएँ हैं, जब कि विज्ञान द्वारा अधिगम्य साधारण एवं सापेक्षतः अविचल रूप इन सत्ताओं के अपर्याप्त आविर्भाव हैं।"[७]

इस प्रकार, प्राकृतिक नियम, बूत्रू के अनुसार किसी वास्तविक सत्ता का बोध नहीं कराते। सत्ता तो निरन्तर परिवर्तनशील एवं प्रगमनशील है। वह अपने आपको कभी भी पुनरावृत्त नहीं करती। उसकी प्रत्येक घटना अभूतपूर्व, चिरनवीन, ताजी रचना होती है।

---

७ Boutroux, *Contingency of Natural Laws*, p. vi.

धर्म इस स्वयंभू, सृजनशील गति के जग में ही घूमता है।[८] सत्ता का अभूतपूर्वत्व एवं अपुनरावृत्तिशीलता में, उसे स्वातन्त्र्य के लिये पर्याप्त अवकाश मिलता है। क्योंकि कोई भी बाहरी तत्त्व अथवा शक्ति ऐसी नहीं है जो जागतिक क्रिया के स्वतःस्फूर्त प्रवाह को रोक सके। विज्ञान इस जागतिक क्रिया को अचल बतलाता है। उसका सम्बन्ध केवल साधारण (general) से है। क्योंकि वास्तविक सरूप वस्तुवृत्त के स्थान में, विज्ञान अपनी भिन्न परिकल्पनाएँ रख देता है और इस प्रकार वह सत्ता के आन्तरिक स्पंदन के सम्पर्क में नहीं आ पाता। अतः सत्ता की अभूतपूर्वता विज्ञान की पकड़ के बाहर होती है। इस प्रकार हम देखते हैं बूत्रू की प्रणाली विज्ञान के यंत्रवादात्मक दृष्टिकोण के प्रति एक प्रतिक्रिया है। वह सत्ता के गतिशील,—सृजनशील पक्ष पर ही सारा ज़ोर देती है।

स्वतन्त्रता के विचार की अभिव्यक्ति आल्फ्रे-फुइये की प्रणाली में अधिक स्पष्टता से होती है। आल्फ्रे फुइये के अनुसार जागतिक क्रिया का आधारभूत तत्त्व है 'idee-force' (शक्ति-विचार)। सारे अनुभव के दो भाग होते हैं, ज्ञानात्मक और इच्छात्मक। ये दोनों एक ही एकता में अविभाज्य रूप से जुड़े हुए हैं। इच्छा के विना विचार बिलकुल ही निरर्थक है। वस्तुतः इच्छा ही विचार को वास्तविकता प्रदान करती है। प्रत्येक मानसिक स्थिति तब तक विचार रूप होती है जब तक वह हमारे अनुभव

---

८ *Neo-Romantic Movement* etc. pp. 98-105

के भिन्न अंगों को विनिश्चित करती है और वही तब तक इच्छा रूप है जब तक वह पसंदगी अथवा चुनाव करती है। इसी बात को आल्फ्रे फुइये idee-force (शक्ति-विचार) के सिद्धान्त द्वारा व्यक्त करता है।[९]

फुइये के अनुसार, हमारे सारे अनुभवों में सहेतुक इच्छा का अन्तर्भाव होता है। वस्तुतः, फुइये के अनुसार स्वतन्त्रता का मतलब ऐकान्तिक अनिश्चितता नहीं है। इसके विपरीत, उसका विश्वास है कि स्वतन्त्रता मनुष्यों के समाज में अपने व्यक्तित्व का विकास है। यह तभी सम्भव है जब कि हम अपने कार्यों को अपने किसी विचार अथवा हेतु द्वारा विनिश्चित करते हैं।

इस प्रकार फुइये स्वतन्त्रता और नियति की कल्पनाओं में एकदम क्रान्ति कर देता है। नियति का मतलब है किसी बाह्य शक्ति द्वारा परिचालित होना। किन्तु स्वतन्त्र कार्य में सहेतुक पसन्दगी अपने चरित्र द्वारा विनिश्चितता ही है।

उपर्युक्त विचार के अनुसार, फुइये L' Evolutionisme des Idee-Force (शक्ति-विचार का उत्क्रान्तिवाद) का[१०] सिद्धान्त प्रतिपादन करता है। फुइये इस उत्क्रान्तिवाद को डार्विन और स्पेंसर द्वारा प्रतिपादित जड उत्क्रांतिवाद के विरोध में उपस्थित करता है। फुइये के अनुसार, उत्क्रांति की क्रिया बाह्य-शक्तियों द्वारा परिचालित नहीं होती। किन्तु, इसके विपरीत वह स्वतः-

---

[९] *Ibid.*, p. 106.

[१०] *Neo-Romantic Movement* etc. pp. 117-118

स्फूर्त है।" "अस्तित्व के लिए कलह" (Struggle for existence) का मतलब शक्तियों का द्वंद्व-युद्ध नहीं है; किन्तु वह तो एक इच्छा का उसी जैसी अनेक इच्छाओं से वास्तविक कलह है। आध्यात्मिक उत्क्रांति की दिशा बाहर से निश्चित नहीं होती। इसके विपरीत, वह आत्म-निश्चित, स्वतःस्फूर्त गति है जो कि अपने आन्तरिक नियमों के अनुसार प्रगति की ओर अग्रसर होती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि फुइये शुद्ध स्वतन्त्रता का सिद्धान्त प्रतिपादित करता है। किन्तु, उसकी प्रणाली के विचार और अन्तर्हित कल्पनाओं को इस सम्प्रदाय के दूसरे महत्त्व-पूर्ण प्रतिनिधि, बेर्गसों ने अधिक स्पष्टता से अभिव्यक्त किया है। अब हम बेर्गसों की पद्धति का विवेचन करेंगे।

बेर्गसों के तत्त्व-ज्ञान का आधारभूत सिद्धान्त यह है कि परिवर्तनशीलता ही सत्ता का सार है। यह परिवर्तनशीलता मृत जड गति नहीं। किन्तु वह एक जीवनोत्सव (elan vital) है जो कि स्वतःस्फूर्त है, चिरसृजनशील एवं प्रगमनशील है। सत्ता बिना किसी रुकावट के निरन्तर बहती जाती है। हमारे व्यक्तित्व की तरह वह निरंतर अंकुरित होती है, बढ़ती है और परिपक्व होती है।"[११] बेर्गसों सत्ता को काल इसीलिये कहता है कि उसमें भूत वर्तमान में कायम रहता है अथवा प्रलम्बित है और वर्तमान भविष्य में दाँत गड़ाये रहा है।

बेर्गसों सत्ता को सृजनशील उत्क्रांति भी यह बतलाने के लिये

---

[११] *Creative Evolution*, Eng. tr. p. 6.

कहता है कि उसका प्रत्येक क्षण अलग तरह का, यानी कुछ तो भी नवीन एवं अपूर्वदृश्य होता है। विशेषतः बेर्गसों यह कहने के लिये विशेष चिंताशील है कि सृजनशील उत्क्रांति का डार्विन और स्पेंसर के जड़ उत्क्रांतिवाद अथवा हेगेल द्वारा अपने Dialectic में प्रतिपादित आध्यात्मिक उत्क्रांतिवाद से एकीकरण न किया जाय। क्योंकि, बेर्गसों के अनुसार, इन दोनों उत्क्रांति-वाद के उन्नायक एक साथ यह विश्वास करते हैं कि उत्क्रांति की क्रिया एक लक्ष्य की ओर अग्रसर होती है।[१२] स्वयं बेर्गसों सृजनशील उत्क्रांति के लिये कोई लक्ष्य नहीं मानता। क्योंकि किसी लक्ष्य द्वारा प्रवृत्त होना सत्ता की सृजनशील क्रिया को स्पष्टतया मर्यादित कर देता है। ऐसी परिस्थिति में, उत्क्रांति एक प्रकार की खींचातानी ही होगी। वह अन्दर से प्रस्फुटित नहीं होगी, किन्तु बाहर से खींची जायगी। अतः बेर्गसों के अनुसार वास्तविक सृजनशील उत्क्रांति स्वतःचालित है। और वह किसी ऐसे लक्ष्य से भी परिचालित नहीं है जो कि उसके बाहर हो। वह स्वेच्छा से नियन्त्रित है। जड़ एवं आध्यात्मिक उत्क्रांतियों के विरोध में, जो कि एकरेखानुवर्तिनी हैं, सृजनशील उत्क्रांति बहु-रेखानुवर्तिनी है। इस बात का प्रमाण प्राणियों के उन अनेक प्रकारों के अस्तित्व में मिलता है जिनमें के प्रत्येक सत्ता की एक जीवंत प्रवृत्ति द्वारा उत्पादित हैं।

अपने *Time and Free Will* में, बेर्गसों यह बतलाने की

---

१२ *Ibid.*, p. 48 and seq.

चेष्टा करता है कि सत्ता की सृजनशीलता आत्मा की स्वतन्त्रता के द्वारा सुगमता से समझ में आ सकती है। इच्छा-स्वातन्त्र्य का प्रश्न तभी उत्पन्न होता है जब कि आत्मा को दो मार्गों में से किसी एक को पसन्द करना होता है। अब स्वतन्त्रता के प्रतिपादक और विरोधी इस बात में तो सहमत हैं कि आत्मा के कार्य के पूर्व भिन्न हेतुओं के बीच एक यांत्रिक आंदोलन होना चाहिये। किन्तु, बेर्गसों के अनुसार, स्वतन्त्रता की यह कल्पना सदोष है। क्योंकि किसी इच्छित कार्य की दो भिन्न भागों के बीच आंदोलित होने की कल्पना करना उसको बाहर से देखना है।[१३]

इस प्रकार, बेर्गसों साफ इन्कार करता है कि आत्मा कभी बाहर से निश्चित हो सकती है। पसन्दगी विषयक सारे प्रश्न उसी समय नष्ट हो जाते हैं जब कि हम यह समझ लेते हैं कि आत्मा अपनी आन्तरिक इच्छा के अनुसार ही बढ़ती और विकसित होती है और अतः वह अन्दर से विनिश्चित है।

सत्ता की परिवर्तनशीलता, बेर्गसों के अनुसार, स्वानुभूति

---

१३ बेर्गसों कहता है:—

Do not ask me then whether the self, having traversed the path M O and decided in favour of X, could or could not choose Y. I should answer that the question is meaningless, because there is no line M O, no point O, no path O X, no direction O Y. To ask such a question is to admit the possibility of adequately representing time by space and a succession by simultaneity: (*Time and Free Will* p. 180)

(Intuition) द्वारा ही जानी जा सकती है। स्वानुभूति से बेर्गसों का अर्थ "बौद्धिक सहानुभूति के उस प्रकार से है जिसके द्वारा हम अपने विषय के अन्दर अपने आपको इसलिये रख देते हैं कि हम उसमें जो कुछ अभूतपूर्व हो और फलतः अनिर्वचनीय हो उससे एकाकार हो जायँ।"[१४] स्वानुभूति ही हमें, "जीवन की आंतरिकता"[१५] तक ले जा सकती है। इसके विपरीत, बुद्धि "जीवन के चारों ओर चक्कर लगाती है, उसके बाहर से जितने अधिक हो सकें उतने दृश्य लेती है, जीवन के अन्दर पैठने की अपेक्षा उसे अपनी ओर खींचती है।"[१६] वस्तुतः, बेर्गसों बुद्धि को केवल व्यावहारिक महत्त्व देता है, वास्तविक महत्त्व नहीं। "कार्य करना और यह जानना कि हम कार्य कर रहे हैं, सत्ता के सम्पर्क में आना और उसके साथ जीवन बिताना, किन्तु वहीं तक जहाँ तक उसका संपद्यमान कार्य से और हली जानेवाली लांगल-पद्धति से सम्बन्ध है,—यह है मानव-बुद्धि का कार्य।"[१७] हमारे ज्ञान में सुविधा पहुँचाने के लिये बुद्धि सत्ता की साधारण और अविभाज्य गति को अनेक बिन्दुओं में विभक्त कर देती है और यह समझती है कि इन बिन्दुओं को जोड़कर वह गति को बना लेगी। किन्तु यह एक भ्रान्त धारणा है। सत्ता में कटे-छँटे कोई

---

[१४] *Introduction to Metaphysics*, p. 6.

[१५] *Creative Evolution*, p. 186

[१६] *Ibid.*

[१७] *Ibid.*

विभाग नहीं होते। जैसा कि बेर्गसों ने कहा है: "............ चैतन्य की स्थिति बुद्धि को आप्लावित करती है; वह बुद्धि से असंगत है, इसलिये कि वह स्वयं अविभाज्य और नवीन है।"[१८] सत्ता एक सतत प्रवाह है जिसमें न कोई रुकावट है अथवा बाधा है। अतः बुद्धि की परिकल्पनाओं में, जो वास्तविकता के प्रवाह को कटे-छँटे विभागों में विभक्त करना चाहती हैं, व्यावहारिक प्रयत्नों में उपयोगिता के अतिरिक्त, सत्ता का लेश भी नहीं है। इस प्रकार बेर्गसों बूत्रू और फुइये से यह मानने में सहमत है कि विज्ञान की परिकल्पनाएँ और नियम व्यवहारोपयोगी होते हैं।

बुद्धि का कानूनी दायरा, जिसके अन्दर उसे पूर्ण प्रभुत्व है, जड जगत् है। बेर्गसों कहता है:—

"अब चाहे हमारी बुद्धि-विषयक कल्पना को स्वीकार किया जाय अथवा अस्वीकार किया जाय, एक बात ऐसी है जिस पर सब लोग हमसे सहमत होंगे, और वह यह कि बुद्धि अव्यवस्थित जडता के सांनिध्य में अपने आपको सुखी समझती है, इस जडता का वह यान्त्रिक आविष्कारों द्वारा अधिकाधिक उपयोग करती है और यांत्रिक आविष्कार उसको उस प्रमाण में उतने ही सुलभतर हो जाते हैं जितना अधिक वह जडता को यांत्रिक समझती है। बुद्धि में स्वाभाविक तर्क के रूप में, एक प्रच्छन्न ज्यामितिकार होता है जो उसी प्रमाण में मुक्त हो जाता है जिस प्रमाण में बुद्धि मृत जडता के आंतरिक स्वभाव में प्रवेश करती है। बुद्धि का जडता से सामंजस्य है, और इसी लिये

---

१८ *Ibid.*, p. 211

मृत जडता के भौतिक विज्ञान और दर्शन एक दूसरे से इतने सन्निकट हैं।"[१९]

स्वयं जडता, बेर्गसों के अनुसार, जीवन-धारा के "प्रत्यावर्तन" अथवा "अवरोध" से अस्तित्व में आती है। यदि जीवन गति है तो जडता गति का प्रत्यावर्तन है।[२०]

चूँकि बेर्गसों की प्रणाली फ्रेंच स्वतन्त्रता-दर्शन का सार-रूप और उसकी पूर्णतम अभिव्यक्ति है, अतः हम उसके ही बुनियादी सिद्धांतों पर मुख्यतः ध्यान केन्द्रित करेंगे।

सर्वप्रथम, बुद्धि के सामर्थ्य में बेर्गसों का अविश्वास ही उसकी प्रणाली का प्रधान दोष है। जैसा कि हम देखते हैं, बेर्गसों के अनुसार, बुद्धि का मूल्य व्यवहारोपयोगिता है। वह हमें सत्ता का ज्ञान कराने में सर्वथा असमर्थ है। अब प्रश्न है: यदि बुद्धि का सत्ता से कोई वास्ता नहीं, तो हम उसके अस्तित्व ही की व्याख्या किस प्रकार करेंगे? जैसा कि अलियोटा कहते हैं: "किन्तु यदि वास्तविक जीवन का सार सृजन में और कलात्मक चिंतन में प्राप्य है, तो यह समझना कठिन है कि बुद्धि और व्यावहारिक जडता ऐसे स्रोत से कैसे निकल पड़ी अथवा आत्मा और विषय का द्वंद्व एवं सत्ता को विनिश्चित करनेवाले अन्य अवयव कैसे उत्पन्न हुए।"[२१] बेर्गसों के बुद्धि के सिद्धांत की कमज़ोरी से ही बेर्गसों की प्रणाली

---

[१९] *Creative Evolution*, p. 206

[२०] *Ibid.*, p. 263

[२१] *Idealistic Reaction against Science*, p. 135.

के एक दूसरे दोष का प्रादुर्भाव होता है। बुद्धि का कानूनी कार्य-क्षेत्र, बेर्गसों के अनुसार, जड़ जगत् है। और उसका यह विश्वास है कि जड़ जगत् सत्ता के जीवन्त प्रवाह में बाधा, अवरोध के कारण प्रादुर्भूत है। जड़ता की इस कल्पना की आलोचना करते हुए, डॉ० मैक् केलर स्टयूअर्ट कहते हैं:

"अब यह कल्पना अनेक आपत्तियों से घिरी हुई है। इसका कोई कारण ही नहीं मालूम पड़ता कि मूल सृजनशील क्रिया में रुकावट ही क्यों पैदा हो? और यद्यपि वह अनेक उत्क्षेपों (jets) को फेंकती है, तथापि यह विश्वास करने के लिये क्या कारण है कि ये उत्क्षेप एकदम 'गिरना' शुरू करते हैं? प्रत्युत् इस बात में विश्वास करने के लिये पर्याप्त प्रमाण है कि वे अपनी स्वतन्त्र क्रिया ज्यों की त्यों जारी रखें—वस्तुतः उनका मूल स्वभाव ही स्वतंत्रता है। जागतिक सृजन की उपमा हमारे लिये यहाँ काम नहीं दे सकती, क्योंकि, जैसा कि बेर्गसों ने स्वयं कहा है, जड़ता के विरोध के कारण जीवनधारा में विभक्तता का प्रादुर्भाव होता है और जड़ता का अस्तित्व उसकी अपनी उत्पत्ति में एक अवयव नहीं माना जाना चाहिये। पुनश्च; जब बेर्गसों यह कहता है कि जड़ता एक ऐसी गति है जिसकी दिशा जीवन की गति से विपरीत है, तब उसका ठीक-ठीक मतलब क्या है? क्या उसका मतलब यह है कि जीवन और जड़ता एक ही विन्दु पर से निकले हैं और जब कि जीवन उस विन्दु से आरोहण करता है, जड़ता वहाँ से अवरोहण करती है? यदि ऐसा है, तो यह समझना कठिन है कि वे एक दूसरे के विरोध में किस प्रकार उपस्थित होते हैं[२२]।"

---

[२२] *Critical Exposition of Bergson's Philosophy*, pp. 180—181

मॅक्केलर स्टूअर्ट की उपर्युक्त आलोचना इस बात को स्पष्ट रूप से बतलाती है कि जडता का जीवन से समझौता करना सम्भव नहीं। वस्तुतः, बेर्गसों बारंबार यह कहता है कि जीवन जडता के बीच से 'प्रणालीकृत' (Canalize) है। अन्यत्र वह कहता है :

'वह जीवनोत्सव जिसके विषय में हम बोल रहे हैं, एक सृजन की आवश्यकता मात्र है। वह ऐकान्तिक रूप से सृजन नहीं करता क्योंकि उसे जडता का अर्थात् उस गति का सामना करना पड़ता है जो उसकी अपनी गति की विरोधी है। किन्तु, वह इस जडता को, अर्थात् स्वयं निश्चित को, पकड़ता है और उसमें अधिक से अधिक अनिश्चितता को लाने की चेष्टा करता है[२३]।"

ये सब बातें हमें बतलाती हैं कि जडता एक प्रकार की ऐसी परिस्थिति है जिसके सामंजस्य से जीवन भिन्न-भिन्न अठखेलियाँ (Sinuosities) बनाता है। किन्तु, यह मान लेना कि जीवनोत्प्लव को भी परिस्थिति की अपेक्षा है मूल सत्ता के विरोध में दूसरी सत्ता को उपस्थित करना है। क्योंकि, सत्ता का किसी बाह्य परिस्थिति की अपेक्षा करना सर्वथा असंगत है। इस प्रकार हम देखते हैं कि बेर्गसों की प्रणाली में जीवन और जडता का द्वंद्व ज्यों का त्यों विद्यमान है।

यदि हम थोड़ा सोचें तो बेर्गसों की प्रणाली की सारी असंगतियों का मूल कारण उसका तत्त्व-ज्ञान का ज्ञान-मीमांसा से

---

२३ *Creative Evolution*, p. 265

एकीकरण है। अर्थात् बेर्गसों ने व्यक्ति के जीवन के व्यावहारिक पक्ष से सत्ता का तादात्म्य कर दिया है। यही कारण है कि बेर्गसों के दर्शन में सैद्धान्तिक पक्ष की ओर सर्वथा दुर्लक्ष्य किया गया है। किन्तु, सत्ता एकांगी कदापि नहीं हो सकती। इस स्थापना का सत्य इस बात से प्रमाणित हो सकता है कि सैद्धान्तिक पक्ष जडता-सिद्धान्त के रूप में अपना अस्तित्व बारबार बतलाता है और बेर्गसों के सत्ता का सुसंगत दर्शन देने के सारे प्रयत्नों को विफल बना देता है।

अब हम आधुनिक-दार्शनिक विचारधारा की दूसरी शाखा, उपयोगितावाद (Pragmatism) का विवेचन करेंगे। इस शाखा के मूल उन्नायक अमेरिका में स्व० विल्यम् जेम्स और ड्यूई हैं और इंगलैंड में एफ० सी० एस० शिलर हैं।

उपयोगितावाद के सारे उन्नायकों का हमारे जीवन के सैद्धान्तिक पक्ष की अपेक्षा व्यावहारिक पक्ष को अधिक महत्त्व देने में एकमत है। ज्ञानात्मिका वृत्ति व्यावहारिक वृत्ति के अधीन है, क्योंकि पहिली वृत्ति शरीर (Organism) का परिस्थिति से सामंजस्य करने की क्रिया से उत्पन्न होती है। शिलर कहता है कि "डंके की चोट कहा जा सकता है कि चिन्तन प्रवृत्ति अपनी उत्पत्ति और अपने अन्तरतम सार में अत्यन्त व्यावहारिक है। वह व्यावहारिक आवश्यकताओं से उद्भूत है और वह अब भी उन्हीं से संबद्ध है[२४]।" इसी प्रकार जेम्स भी कहता है, "वास्तविक

---

२४ *Riddles of the Sphinx*, p. 8

बातों के विषय में सत्य विश्वासों के अस्तित्व का मानव-जीवन के लिये अत्यधिक महत्त्व है। हम उन वास्तविकताओं के जगत् में रहते हैं जो कि या तो अत्यन्त उपयोगी हैं अथवा अत्यन्त कष्टदायिनी हैं। यदि मैं किसी जंगल में भटक जाऊँ और भूखा मरने लगूँ, और ऐसी अवस्था में मुझे गायों की पगडंडी जैसा कुछ रास्ता मालूम पड़े, तो यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है कि मैं उसके अन्त में किसी आदमी की बस्ती की कल्पना करूँ क्योंकि यदि मैं ऐसा करता हूँ, तो मैं अपनी जान बचा लेता हूँ[२५]।" ये उद्धरण स्पष्टतया यह बतलाते हैं कि उपयोगितावादी सैद्धान्तिक पक्ष को व्यक्ति के जीवन-विकास पर आश्रित मानता है। इस प्रकार जीवन के तत्त्व को फिर से प्राधान्य दिया गया है, और यही बात उपयोगितावाद को वास्तविकरूपेण नव-स्वातंत्र्यवाद की एक धारा बना देती है।

कोई विचार तब तक सत्य है जब तक वह किसी व्यावहारिक कार्य में मदद पहुँचाता है और वही झूठा है जब वह अनुपयुक्त हो जाता है। वस्तुतः नीति से सुखवाद (Utilitarianism) का जो सम्बन्ध है, वही सम्बन्ध उपयोगितावाद का ज्ञान-मीमांसा से है। "संक्षेप में, सत्य वही है जो हमें चिन्तन के मार्ग में उपयोगी हो जिस प्रकार न्याय वही है जो हमारे लिये अपने व्यवहार में उपयोगी है[२६]।"

---

[२५] *Pragmatism*, p. 203

[२६] William James, *Meaning of Truth*, p. vii.

उपयोगितावाद हमारे किसी भी विचार को ऐकान्तिक महत्त्व देने से इंकार करता है। हमारे विचार तो हमें अपने व्यावहारिक प्रयत्नों में सहायता पहुँचानेवाले उपकरण हैं।

उपयोगितावाद के तार्किक और ज्ञान-मीमांसा-विषयक पक्ष के अभिभावक विशेषतः शिलर और ड्यूवी हैं। शिलर 'उपयोगितावाद' की अपेक्षा 'मानवतावाद' (Humanism) शब्द को अधिक पसन्द करता है। मानवतावाद इसलिये कहा गया है कि वह मानव-चैतन्य को सारे विश्व का केन्द्र मानता है। वस्तुतः, शिलर प्रोटागोरस की उस पुरानी कहावत में बहुत विश्वास रखता है कि "मनुष्य सारी बातों का मान दण्ड है[२७]।" प्रत्येक वस्तु उतने ही अंशों में मूल्यवान् है जब तक वह मानव-आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकती है। तार्किक सिद्धान्त भी इस नियम के लिये अपवाद नहीं है[२८]। इस निष्कर्ष से कि 'विचार के नियम' मान्यताएँ हैं, और न तो वे प्राकृतिक वस्तुवृत्त हैं और न वे सारी सत्ता को लागू हैं, संभवतः यह अर्थ निकाला जायगा कि उनका सत्य सफल कल्पनाओं का समकक्ष है। यदि सत्ता का अनुसरण करना ही विचार का कार्य है तो वे सत्य नहीं हैं; क्योंकि वे सत्ता का 'अनुकरण' करने की चेष्टा नहीं करते; वे खुले आम और 'जबर्दस्ती' उसके विशेष लक्षणों को कल्पित करते हैं और इस

---

२७ *Plato or Protagoras*, p. 29 and Seq,

२८ इसके सम्बन्ध में Schiller के *Formal Logic* के विशेषतः Laws of Thoughts शीर्षक अध्याय (p. 110 Seq.) को देखिये।

बात की माँग पेश करते हैं कि सत्ता इन आदर्शों का अनुसरण करेगी, यद्यपि वह साफ तौर पर उनका अनुसरण नहीं करती। वे कितने भी सुविधाजनक हों, किन्तु वे कल्पना से अधिक नहीं हो सकते[२९]। वैज्ञानिक कल्पनाओं में भी कोई वास्तविक महत्त्व नहीं होता। वे तब तक प्रमाणित हैं जब तक वे अच्छी प्रकार काम दे रही हैं।

तार्किक और वैज्ञानिक तत्त्वों के स्वरूप के विषय में ड्यूवी के भी यही विचार हैं। ड्यूवी तर्कशास्त्र को उपकरणीय (Instrumental) इस बात पर जोर देने के लिये कहता है कि उसके विभिन्न तत्त्वों का कोई आत्यन्तिक महत्त्व नहीं है किन्तु सापेक्ष महत्त्व है, क्योंकि वे तो व्यक्ति को अपनी परिस्थिति की विशिष्ट स्थिति में अपना सामंजस्य प्राप्त कराने के उपकरण हैं। "सारा ज्ञान, चिंतन से शुद्ध होकर, प्रयोग के शाब्दिक, भौतिक अर्थ में प्रयोगात्मक[३०] है।"

पुनः, ड्यूवी अन्यत्र कहता है, "......और इस प्रकार सारे 'ज्ञान' जानने की क्रिया द्वारा वस्तुओं में विनिर्मित विभिन्नताएँ हैं। किन्तु कुछ भिन्नताएँ जानने की क्रिया में आवश्यक अथवा परिगणनीय नहीं है और इसीलिये वे जब भी कभी आती हैं तब बाधा स्वरूप और बीच में कूद पड़नेवाली होती हैं—जब कि दूसरी ज्ञान के आधेय की पूर्ति करती हैं, क्योंकि वे अवयवी के

---

[२९] *Ibid*., pp. 132—133.

[३०] Dewey's, *Essays in Experimental Logic*. p. 236, Seq.

सुसंबद्ध वर्तन से इस प्रकार सामंजस्य में हैं ताकि उसका कार्य बढ़ जाय और विस्तृत हो जाय। गलती करने का मतलब है दुरुपयोग करना; शंका प्रतिक्रियाओं की क्षणिक रुकावट और दोलन है, द्व्यर्थता दो तुल्यबल वस्तुओं का खिंचाव है किन्तु उत्तर देने के लिये प्रस्तुत व्यवहार का असंगत रूप है"।[31]

सत्ता की उपयोगितावादात्मक कल्पना उसके ज्ञानमीमांसा-विषयक दृष्टिकोण पर अधिष्ठित है। सत्ता कोई ऐसी वस्तु नहीं जो निरन्तर अचल हो। किन्तु वह तो व्यक्ति जो कुछ उसे बना देता है वही बन जाती है। ज्ञान की प्रत्येक क्रिया वस्तुओं के स्वभाव में भिन्नता पैदा करती है। जैसा कि शिलर कहता है:— "...हमारा सत्य का निर्माण वस्तुतः सत्ता को बदल देता है।"[32] सत्ता तो संगमरमर की एक शिला है जिसमें हमें मूर्ति खोदना है।[33] जो कुछ दिया गया है उससे काम नहीं चलता, किन्तु हम सत्ता को जिस विधि से देखते हैं वह महत्त्वपूर्ण है।

वस्तुतः, उपयोगितावादी यह चाहते हैं कि हम जग को उत्पद्यमान (Sub specie generationis) समझें न कि अचल (Sub specie œternitatis)। सचमुच शिलर का यह

---

[31] Dewey के "Does Reality Possess Practical Character"? शीर्षक निबन्ध *Essays in Honour of William James* में देखिये। pp. 54—57

[32] Schiller's *Studies in Humanism*, p. 438

[33] W. James, *Pragmatism*, p. 247

विश्वास है कि जागतिक क्रिया विकसित हो रही है और शनैः-शनैः पूर्णता प्राप्त कर रही है। ईश्वर अनन्त अथवा पूर्ण नहीं है। किन्तु, शिलर के अनुसार ईश्वर भी अपूर्ण है और जग को पूर्णावस्था तक पहुँचाने के लिये ईश्वर को भी ससीम आत्माओं के सहयोग की आवश्यकता लगती है।

हम अब उपयोगितावादियों के सिद्धान्तों की प्रामाणिकता पर विचार करेंगे। सर्वप्रथम उपयोगितावादियों द्वारा सैद्धान्तिक पक्ष का व्यावहारिक पक्ष के अधीन बनाया जाना अनुचित है। जैसा कि अलियोटा बतलाता है:

"निस्संशय मानव-मन के प्रत्येक क्षण में गति है, ज्ञान में भी वह उन संवेदनाओं को उदासीन वृत्ति से नहीं देखता जिन्हें वह बाहर से प्राप्त करता है, किन्तु वह तो सत्ता का उसके अन्यतम नियमों के अनुसार पुनर्निर्माण है। तथापि इस बात के द्वारा हमें आध्यात्मिक गति के विभिन्न रूपों को आपस में मिला देने की गलती नहीं करना चाहिये और उन विशिष्ट विभिन्नताओं की ओर भी दुर्लक्ष्य नहीं करना चाहिये जो उनमें से प्रत्येक को उसके लिये उचित आकृति एवं चैतन्य के जीवन में स्वतन्त्र मूल्य प्रदान करती हैं। ज्ञानात्मक *कार्य* व्यावहारिक *कार्य* नहीं है, जिस प्रकार वह कलात्मक *कार्य* भी नहीं है। इन तीनों स्थितियों में हमारे द्वारा आविष्कृत वृत्तियाँ एक दूसरे से बिलकुल भिन्न होती हैं।"[३४]

यदि अब सैद्धान्तिक और व्यावहारिक क्रियाएँ एक दूसरे से भिन्न हैं, तो पहिली को दूसरी के अधीन करने का तरीका एकांगी

---

[३४] *Idealistic Reaction against Science*, p. 185

हुए बिना नहीं रह सकता। उपयोगितावादियों ने हमारा ध्यान उस व्यावहारिक पक्ष की ओर खींचने में निस्संशय उचित कार्य किया जिसे बुद्धिवादियों ने नजरन्दाज किया था। किन्तु इसकी प्रतिक्रिया में, वे स्वयं उस सैद्धान्तिक पक्ष की ओर दुर्लक्ष्य करने के दोषी हैं जिसे अस्तित्व के विषय में उतना ही अधिकार है जितना कि व्यावहारिक पक्ष को है।

अपरंच, व्यावहारिक पक्ष पर अत्यधिक जोर देने के कारण उपयोगितावादी को आत्यंतिक स्वात्मकता और बहुत्ववाद (Pluralism) का अंगीकार करना पड़ा है। सत्य के उपयोगितावादी सिद्धान्त की अन्तर्हित कल्पनाओं पर विचार करने से यह बात बिलकुल साफ हो जायगी। सत्य वह है जो उपयोगी हो। जो व्यक्ति को अपने जीवन-विकास में सहायता पहुँचाता है वह उसके लिये सत्य है। अब परिस्थिति से सामंजस्य हमेशा व्यक्तिगत होता है। जो वस्तु किसी व्यक्ति के लिये उपयोगी है वह दूसरे के लिये निरर्थक हो सकती है। विशिष्ट वस्तु का उपयोग विशिष्ट स्थिति पर अवलम्बित है, हाँ व्यक्ति की विशिष्ट मानसिक स्थिति पर भी। फलतः, सत्य, जो कि उपयोगितावादियों के अनुसार, उपयोगिता ही है, व्यक्तियों की भावना और विकारों के परिवर्तनों के अनुसार परिवर्तनीय है और अतः उसका सारा परात्मक (Objective) महत्त्व नष्ट हो जाता है। किन्तु सत्य अपना परात्मक प्रामाण्य खो देने पर स्वात्मक कल्पनाओं से बिलकुल अभिन्न हो जाता है। इस प्रकार यदि हम उपयोगितावाद को उसके तर्कानुमोदित पर्य-

वसान तक ले जायँ, तो हमें यह कहना होगा कि परात्मक जगत्-व्यक्ति के मन की कल्पना मात्र है। उपयोगितावादियों ने आत्यंतिक स्वात्मकता की कठिनाइयों से अपनी रक्षा करने में कई असंगतियाँ की हैं। जैसा कि अलियोटा कहते हैं:

"उपयोगितावाद जो अंधे की तरह और अंधश्रद्धात्मक रूप से मानसिक जीवन की प्राणिशास्त्रीय उत्पत्ति और महत्त्व को स्वीकार कर लेता है, अपनी ही मान्यता का विरोध करने में पर्यवसित होता है जब कि वह सारे प्राकृतिक चुनाव की पूर्व कल्पना को, अर्थात् सारी परात्मक भौतिक व्यवस्थाओं को, अमान्य करता है। उपयोगितावादियों की इस बात की व्याख्या रहस्यों से पूर्ण है: वे, साधारण ज्ञान से (Common sense) अधिक तीव्रता से झगड़ने के लिये, मानते भी हैं और नहीं भी मानते। ड्यूवी तार्किक विचार के पूर्व न्यूनाधिक रूप में उस सेन्द्रिय स्थिति को मानता है, जिसमें निश्चितता का आत्यन्तिक अभाव नहीं होता; शिलर बाह्य जगत् में कार्य की सीमा निर्धारित करने में समर्थ विरोधी अवयवों को मानता है, यद्यपि वह हमें उनकी ओर ध्यान न देने के लिये कहता है और तब तक कार्य करते रहने को कहता है जब तक कोई व्यवधान उपस्थित न हो जाय.....इसके विपरीत जेम्स का कथन है कि संवेदनाएँ हम पर लादी गयी हैं और किसी अविज्ञात कारण से आती हैं, और यह कि हमारा उनके *स्वभाव*, *व्यवस्था* और *परिभाषा* पर कोई नियन्त्रण नहीं होता.....। तथापि कुछ ही पृष्ठों के बाद वह कहता है कि संवेदनाओं की व्यवस्था और साधारणतया उनकी प्रत्येक विनिश्चितता हम पर ही अवलम्बित है।"[३५]

---

[३५] *Idealistic Reaction against Science*, pp. 187—188

इस प्रकार उपयोगितावादी उस स्वात्मकता का निराकरण करने की व्यर्थ ही चेष्टा करते हैं जो उनके सिद्धान्त और प्रमेयों से अनिवार्य रूप से निकलती है।

स्वात्मकतावाद (Subjectivism) के पीछे-पीछे बहुत्ववाद का आना अपरिहार्य है। स्वात्मकतावाद में ऐसे तत्त्व का अन्तर्भाव नहीं हो सकता जो सारे व्यक्तियों के लिये एक हो। बहुत्ववाद की प्रवृत्ति जेम्स एवं शिलर के दर्शनों में पाई जाती है। वह शिलर के दर्शन में विशेषतः अधिक स्पष्ट हो गई है। जैसा कि डॉ० मैत्र कहते हैं:—

> "शिलर के मन की अत्यन्त तार्किक प्रवृत्ति उसे व्यक्तिवाद के अतिरेक की ओर ले जाती है। शिलर की दृष्टि में सत्ता मुख्यतः व्यक्तिगत होने से, उसने अपनी, Riddles of the Sphinx में 'मूल आत्माएँ' अथवा मोनाड की उस प्रणाली की निर्मिति की जो जेम्स वार्ड के बहुत्वमूलक विश्व की अपेक्षा अधिक परमावधिक है। इस मोनाडवाद के अनुसार तथाकथित वस्तुजगत् अंशतः व्यक्तिगत आत्मा में समाविष्ट है। अपने सम्पूर्ण रूप में, वस्तुजगत् ईश्वर को दिखलाई भी नहीं पड़ता, जो केवल अनेक आत्माओं में एक आत्मा है। अतः दर्शन सम्पूर्ण और अखिल सत्ता की खोज में स्वप्न को अध्यास से और अध्यास को स्वप्न से स्थानापन्न करता है।"[३६]

इस प्रकार हम देखते हैं कि अन्ततोगत्वा उपयोगितावाद हमें आत्यन्तिक स्वात्मकतावाद एवं बहुत्ववाद की ओर ले जाता है।

उपयोगितावाद के दोष, हम दुहराकर कहना चाहते हैं, मुख्यतः इसी लिये उत्पन्न हुए हैं कि उसने आत्मा की व्यावहारिक क्रिया

---

३६ *Ibid*, p. 137

पर अधिक जोर दिया और सैद्धांतिक क्रिया को बिलकुल नजरंदाज़ कर दिया। सैद्धांतिक क्रिया में हमारा अनुभव बाह्य जगत् से जुड़ा हुआ रहता है। किन्तु, व्यावहारिक क्रिया में हम अपने आपको अपनी व्यक्तिगत आत्मा के अन्दर उतारते हैं और बाह्य जगत् से सीधा सम्बन्ध नहीं रखते। अतः सैद्धांतिक क्रिया की ओर दुर्लक्ष्य बाह्य जगत् से हमारा सम्बन्ध विच्छेद करवाकर, आत्यन्तिक स्वात्मकतावाद की ओर ले जा सकता है। स्वातन्त्र्य-वाद हमारी समस्याओं का कभी भी सन्तोषप्रद हल नहीं हो सकता। इसका प्रमाण यह है कि उपयोगितावादियों को, जैसा कि हम बतला चुके हैं, अपने सिद्धांत के विरुद्ध यह कहना पड़ता है कि उस बाह्य जगत् का भी अस्तित्व है, जो आत्मा की इच्छा-नुसार ढाला जा सके। किन्तु, वही वाद इसके विपरीत, यह भी कहता है कि आत्मा को अपने से बाह्य जगत् से सामञ्जस्य प्राप्त करना आवश्यक है।

× × × ×

इस अध्याय में हमने अभिनव-स्वातन्त्र्यवाद की दो महत्त्वपूर्ण प्रवृत्तियों का यानी फ्रेंच स्वातन्त्र्य-दर्शन और उपयोगितावाद का विवेचन किया है। अगले अध्याय में हम उसी अभिनव-स्वातंत्र्य-वाद की एक और महत्त्वपूर्ण प्रवृत्ति, यानी मूल्य-दर्शन, की परीक्षा का कार्य करेंगे।

मूल्य-दर्शन

बुद्धिवाद के प्रति विरोध की अधिक स्पष्ट और जोरदार अभिव्यक्ति मूल्य-दर्शन में हुई है। मूल्य-दर्शन की शिकायत है कि वस्तु जगत्, जिससे बुद्धि का सम्बन्ध है, नीरस और रिक्त है और अतः वह हमें सन्तुष्ट नहीं कर सकता। म्युन्स्टबर्ग का कथन है—"हमारे युग के लिये नया दर्शन चाहिये। वस्तुवृत्तों का संचय अब हमें सन्तुष्ट नहीं करता; जग आविष्कारों की उस विजयी परम्परा से ऊकता गया है जो कि यह तक नहीं पूछती कि इस सबका क्या प्रयोजन है। हमें यह अनुभव करना पड़ रहा है कि जीवन एकत्रित वस्तुओं के संचय मात्र से अधिक जीने योग्य नहीं बन जाता।"[१] वस्तुवृत्तों से व्यवहार करना विज्ञान का काम है। किन्तु मूल्य-दार्शनिकों के अनुसार, दर्शन को यदि उपयोगी बनना हो तो उसे वस्तुवृत्तों को खोजने की अपेक्षा वस्तुवृत्तों के प्रयोजन को अथवा मूल्य को ढूँढ़ना चाहिये।

प्रयोजन अथवा मूल्य को महत्त्व देने से, जैसा कि अर्बन कहता है,[२] एक नये दृष्टिकोण की, यानी कर्म-मीमांसात्मक दृष्टि-

---

१ *Eternal Values*, p. 3.

२ Schaub E. L. के Philosophy To-day (p. 54) के अन्तर्गत Urban का "Value-Theory and Æsthetics" नामक निबन्ध को देखिये।

कोण की सृष्टि हुई है, जिसकी संभावना अद्यावधि कम पहिचानी गई थी। कर्म-मीमांसात्मक दृष्टिकोण ज्ञान-मीमांसात्मक दृष्टिकोण से इस बात में भिन्न है कि जब कि ज्ञान-मीमांसा का सम्बन्ध केवल वस्तुवृत्त और उसके परस्पर सम्बन्धों से होता है, तब कर्म-मीमांसा मूल्यांकन में कुशल आत्मा के लिये वस्तुवृत्तों का क्या मूल्य होता है इस बात पर ज़ोर देती है। कर्म-मीमांसात्मक दृष्टिकोण वस्तुतः आत्मा का दृष्टिकोण है जब कि ज्ञान-मीमांसात्मक दृष्टिकोण शुद्ध परात्मक है। वस्तुवृत्तों का तब तक मूल्यांकन नहीं होता जब तक आत्मा इनके सम्बन्धी अपनी पसन्दगी अथवा नापसन्दगी की क्रिया नहीं बतलाती। मूल्य वस्तुतः आत्मा की सन्तुष्टि पर निर्भर है। अतः मूल्य-दर्शन वस्तुवृत्तों के मूल्य अथवा प्रयोजन पर ज़ोर देकर आत्मा की व्यावहारिक क्रिया ही को प्रकाश में लाता है। इस प्रकार, मूल्य-दर्शन अभिनव-स्वातंत्र्यवाद की मूल प्रवृत्ति का द्योतक है।

मूल्य-दर्शन के मुख्य उन्नायक ऑस्ट्रियन मूल्यवाद के द्वितीय सम्प्रदाय (इसे हम मनोवैज्ञानिक मूल्यवाद भी कह सकते हैं) के प्रतिनिधि हैं। इनमें से मुख्य ये हैं—ब्रेंटानो, मायनॉंग और ईरेन्फेल्स। ऑस्ट्रियन मूल्यवाद का प्रथम सम्प्रदाय, जिसके उन्नायक विशेषतः मेंगर और फॉन व्हायभ्भर थे, मूल्यों की समस्या को शुद्ध आर्थिक दृष्टिकोण से देखता था। इस सम्प्रदाय का ध्यान "मूल्यों की काल्पनिक परात्मकता पर और इस प्रातिभासिक परात्मकता के आधार को खोजने के विभिन्न प्रयत्नों

पर केंद्रित था।"[3] वह उन घटकों पर विचार करता था जो पदार्थों के "आर्थिक महत्त्व" को निश्चित करने के लिये उत्तरदायी हों। इस प्रकार ऑस्ट्रियन मूल्यवाद के प्रथम सम्प्रदाय की प्रवृत्ति मूल्यों के परिमाण-विषयक अन्तर (quantitative difference) को खोजने की ओर था। अपचीयमान उपयोगिता का नियम (law of diminishing utility) एक ऐसा मानदण्ड था जिससे वह सम्प्रदाय किसी विषय का मूल्य नापने की चेष्टा करता था।

ऑस्ट्रियन मूल्यवाद के दूसरे सम्प्रदाय ने मूल्य-विषयक क्रिया के स्वभाव की शुद्ध परात्मक दृष्टि का विरोध किया। उसने इस बात पर जोर दिया कि मूल्य मूल्यमापक आत्मा के अनुभव को छोड़कर विषयों में उपन्यस्त नहीं है। इसके विपरीत, पदार्थ तभी मूल्यवान् बन सकता है जब कि आत्मा विषय के प्रति एक विशिष्ट दृष्टिकोण लेती है। इस प्रकार मूल्य-विषयक क्रिया एक पूर्ण संमिश्र स्थिति है जो आत्मा और विषय इन दोनों के परस्पर सम्बन्ध से प्रादुर्भूत है और जिसे 'मूल्यानुभव' भी कह सकते हैं। इन सबका प्रभाव यह हुआ कि मूल्य-समस्या का विवेचन सामाजिक विज्ञानों से, विशेषतः अर्थशास्त्र से, हटकर मनोविज्ञान की ओर चला गया क्योंकि मूल्य-विषयक क्रिया का स्वभाव तब तक पूर्णरूप से नहीं जाना जा सकता, जब तक हम उस मूल्यानु-

---

[3] Eaton, *The Austrian Philosophy of Values*, p. 18

भव का विश्लेषण नहीं कर लेते, जो कि मनोविज्ञान का कार्य है।

ब्रेंटानो मूल्यानुभव में अन्तर्हित मानसिक क्रियाओं के विश्लेषण की ओर सर्वप्रथम अग्रसर हुआ। वह मानता है कि आत्मा तीन प्रकार से विषय से सम्बद्ध होती है। सबसे साधारण सम्बन्ध वह है जिसमें विषय का "विचार" आता है। यह सम्बन्ध "सारे विषय के लिये सर्वसाधारण है चाहे वे विषय फिर वास्तविक, काल्पनिक, भूत, वर्त्तमान, भविष्य आदि के हों।" इस प्रवृत्ति मे आत्मा केवल विषय के अस्तित्व को पहचानती है। यहाँ विषय की सत्यता अथवा असत्यता का प्रश्न ही नहीं उठता। विषय को सत्य अथवा असत्य बतलाकर उसका स्वीकार अथवा निषेध करने की क्रिया से आत्मा का विषय के प्रति दूसरा दृष्टिकोण, यानी निर्णयात्मक (judgmental) दृष्टिकोण, उत्पन्न होता है। किन्तु इन दोनों प्राथमिक सम्बन्धों के अतिरिक्त आत्मा और विषय के बीच एक तीसरा भी प्राथमिक सम्बन्ध होता है। वह है विषय को सुखद अथवा दुःखद मानकर स्वीकार अथवा अस्वीकार करना। इस प्रकार के सम्बन्ध को ब्रेंटानो प्रेम और द्वेष कहता है।

अब ब्रेंटानो का कथन है कि मूल्य प्रेम-द्वेष शक्ति के सर्वोच्च व्यापार के परिणाम हैं। किन्तु साथ ही उसका यह भी विश्वास है कि प्रेम-द्वेष की क्रियाओं के अतिरिक्त मूल्यानुभव में और भी

अवयव होते हैं। ब्रेंटानो के Psychologie (Vol ii. v. 228) से उद्धृत निम्नांश इस बात को स्पष्ट करेगा।

"यह आवश्यक नहीं कि किसी को यदि कोई वस्तु प्रिय लगती है तो वह उसके अस्तित्व के विषय में भी सोचे अथवा यह सोचे कि उसका अस्तित्व सम्भव है या नहीं, किन्तु प्रत्येक प्रेम किसी वस्तु के अस्तित्व के विषय में प्रेम होता है; और यदि अन्य वस्तु को प्रेम करने के सिलसिले में हम किसी वस्तु से प्रेम करने लग जायँ, तो यह बात तब तक सम्भव नहीं जब तक उन दोनों के परस्पर सम्बन्धों में हमारा विश्वास न हो। उनके अस्तित्व अथवा अनस्तित्व विषयक हमारे निर्णय में ज्यों-ज्यों परिवर्तन होता जाता है त्यों-त्यों हमारा जिस पर प्रेम है उसकी अर्थात् हमारे प्रेम करने की क्रिया की कभी आनन्द, कभी खेद, कभी आशा, कभी भय और कभी अन्य रूपों में परिवर्तित हो जाने की सम्भावना होती है। अतः यह एक अकल्पनीय विषय है कि कोई वस्तु निर्णय की शक्ति का उपयोग किये बगैर प्रेम और द्वेष से संयुक्त हो सके।"४

ऊपर के उद्धरण से हम इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि मूल्य-अनुभव ब्रेंटानो के अनुसार तीन घटकावयवों से निर्मित है। वे हैं ज्ञानात्मक अवयव जो कि विशेषतः अस्तित्व-विषयक निर्णयों में अन्तर्हित हैं और भावना एवं इच्छा, जिन्हें ब्रेंटानो प्रेम-द्वेष के एक ही शीर्षक के नीचे रखता है।

मायनाँग, जो कि मनोवैज्ञानिक मूल्यवाद का दूसरा महत्त्वपूर्ण प्रतिनिधि है, ब्रेंटानो से इस बात में सहमत है कि विषयों में

---

४ Quoted in Eaton's *The Austrian Philosophy of Values*, p. 56.

मूल्यार्थ की उपलब्धि विशिष्ट मिश्रित मनोवैज्ञानिक अनुभव में ही होती है। "यदि मैं किसी वस्तु के विषय में कहता हूँ कि वह मेरे लिए मूल्यवान् है, तो मैं अपने आपका उस विषय से विशिष्ट सम्बन्ध स्थापित करता हूँ। मैं एक विशिष्ट मनोवैज्ञानिक अनुभव प्राप्त करता हूँ, जिसके द्वारा वह वस्तु मेरे लिये विशिष्ट अर्थ धारण करती है।"[५] मायनाँग इस अनुभव को 'मूल्य-अनुभव' (Werter-lebnis) कहता है।

ब्रेंटानो के अनुसार मायनाँग इस बात में भी विश्वास रखता है कि भावना और इच्छा के अवयवों का समावेश करने के अतिरिक्त, जो कि उसके प्राण हैं, मूल्य-अनुभव को अंशतः निर्णयात्मक (Judgmental) होना चाहिये। अर्थात्, मूल्य-अनुभव तब तक नहीं हो सकता जब तक विशिष्ट प्रकार का ज्ञानात्मक अथवा बौद्धिक अवयव उसका घटक नहीं बन जाता। मायनाँग कहता है:

> "......विचार भावना की मनोवैज्ञानिक मान्यता है; क्योंकि कोई भी भावना अपनी अभिव्यक्ति के लिये इस मान्यता पर आश्रित हुए बिना नहीं रहती अथवा रह नहीं सकती।"[६]

इस प्रकार, मायनाँग के अनुसार "विचार" अथवा विषय का अस्तित्व जिस पर मूल्यांकन किया जाता है मूल्यात्मिका क्रिया की मुख्य मनोवैज्ञानिक *मान्यता* (Presupposition) है। ठीक

---

५ *Psychologisch-ethische Untersuchungen zur Werttheorie*, p. 14.

६ *Ibid.*, p. 34.

इसी लिये मायनाँग का मूल्यवाद मूल्य का मान्यता-मूलक (Presuppositional) सिद्धान्त कहलाता है।

अब समस्या है: इन तीनों उपर्युक्त अवयवों में से मूल्य-अनुभव में किसका प्राबल्य है? मायनाँग के अनुसार बौद्धिक अवयव मूल्य-अनुभव में प्रबल नहीं हो सकता। क्योंकि ज्ञानात्मिका वृत्ति में आत्मा को विषय के अस्तित्व को पहिचानने के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं करना पड़ता। दूसरे शब्दों में, सैद्धांतिक वृत्ति में, आत्मा हमेशा उदासीन रहती है। किन्तु मूल्य-अनुभव तब तक नहीं हो सकता जब तक आत्मा विशिष्ट अवयव के स्वीकार अथवा निषेध में अपना सक्रिय भाग नहीं ले लेती।

अब दो अबौद्धिक अवयव रहते हैं, यानी भावना और इच्छा इनमें से हमें उस एक को चुनना है जो कि मूल्याधार (Worth Fundamental) बन सके। यहाँ मायनाँग का कथन है:—

> "यदि हमें यह पूछा जाय कि क्या हमें भावना अथवा इच्छा को मूल्य-अनुभव मानना चाहिये, तो हमारा निर्णय भावना के अनुकूल होगा।"[७]

वह भावना को सर्वोच्च स्थान इसलिये देता है कि, उसके अनुसार इच्छा-विरहित भावना मूल्याधार हो सकती है, किन्तु भावना-विरहित इच्छा मूल्याधार नहीं हो सकती। अतः भावनाएँ मुख्य

---

[७] *Zur Grundlegung einer allgemeinen Werttheorie*, p. 44.

मूल्यानुभव हैं (Haupt Werterlebnisse) और इच्छा गौण मूल्याधार हैं। (Neben Werterlebnisse)[८]

ईरेन्फेल्स का मत आस्ट्रियन मूल्य-दार्शनिकों के मत से, विशेषतः मायनाँग के मत से, इस बात में भिन्न है कि वह भावना-शक्ति की अपेक्षा इच्छाशक्ति अथवा कामना को मूल्याधार मानता है। ईरेन्फेल्स का कथन है:—

> "हम केवल उन्हीं वस्तुओं को मूल्य प्रदान करते हैं जिन्हें हम वस्तुतः चाहते हैं अथवा चाह सकते हैं, यदि हम उनके अस्तित्व के विषय में विश्वस्त हो जायँ। *किसी वस्तु का मूल्य उसकी वांछनीयता में होता है*······मूल्य का महत्त्व भी वांछनीयता में है, अर्थात् वह उसके विषय में पाई जानेवाली वास्तविक इच्छा की तीव्रता के अनुपात में होता है; हम एक पदार्थ को जितनी अधिक तीव्रता से चाहते हैं अथवा चाह सकते हैं उतना उस वस्तु का मूल्य हमारे लिये अधिक ऊँचा हो जाता है।"[९]

भावना को मूल्याधार न मानने का कारण यह है कि भावनात्मक वृत्ति मूल्यानुभव में प्रबल नहीं होती। मूल्यों की वास्तविक उपलब्धि में सुखानुभव इतना कम होता है कि हम उसकी ओर दुर्लक्ष्य भी कर सकते हैं। इच्छा अथवा प्रयत्नशीलता की बात और है। क्योंकि मायनाँग के अचलतामूलक दृष्टिकोण के विरोध में ईरेन्फेल्स के क्रियात्मक (Functional) अथवा चलतामूलक (Dynamic) दृष्टिकोण के अनुसार मूल्य इच्छाओं का परि-

---

८ *Ibid.*, p. 46.

९ *System der Werttheorie*, I. p. 53

णाम है।[१०] मूल्यानुभव में भावनाओं की स्थिति अथवा जिसे ईरेन्फेल्स 'भावना-वृत्ति' (feeling disposition) कहता है, वे तो केवल इच्छाशक्ति अथवा कामना की सहायक हैं।[११]

अर्बन अपने *Valuation : its Nature and Laws* में मायनाँग और ईरेन्फेल्स के सिद्धांतों को इस आधार पर दोष देता है कि वे एकांगी हैं। उसके अनुसार तब तक मायनाँग ठीक रास्ते पर है, जब तक उसका यह विश्वास है कि भावना मूल्याधार है। अर्बन कहता है:—

> "क्षण भर के लिये यदि महत्त्व-भावना (worth feeling) विषयक वर्ग की परिसीमा के प्रश्न को हम छोड़ दें, तो हम मायनाँग के सिद्धांत को स्वीकार कर सकेंगे। भावना को बुनियादी तत्त्व स्वीकार करना मुझे तो किसी सन्देह के परे प्रतीत होता है और वह भिन्न कारणों से। साधारणतया हमारी दलील हो सकती है, कि कोई भी महत्त्व तब तक नहीं हो सकता है जब तक उसमें कोई ऐसा अर्थ न हो जिसे हम यथार्थ रूप से भावित अर्थ कह सकें, जब कि महत्त्व का यह अर्थ जिसे हम इच्छा कहते हैं उसके गुणों से उपन्यस्त किये विना ही प्राप्त हो सकता है।"[१२]

वस्तुतः उपर्युक्त कारण से ही अर्बन ईरेन्फेल्स के उस सिद्धांत की आलोचना करता है जिसके अनुसार भावना मूल्याधार है। यद्यपि अर्बन के अनुसार, इच्छा अथवा कर्म-प्रवृत्ति का मूल्य की

---

[१०] *Austrian Philosophy of Values*, p. 118 को देखिये।

[११] *System der Werttheorie*, I. p. 41

[१२] *Valuation: its Nature and Laws*, p. 38.

व्याख्या में स्थान होना चाहिये, तथापि "वह मानसिक आधार इस अर्थ में नहीं माना जा सकता कि वह विषय के संचित अर्थ का चेतन सापेक्ष है।"[१३]

पुनः यद्यपि मायनाँग जहाँ तक वह भावना को मूल्याधार मानता है वहाँ तक ठीक रास्ते पर हैं, तथापि अर्बन के अनुसार उसका यह विश्वास ग़लत है कि अस्तित्व-विषयक निर्णय मूल्यानुभव की मान्यता (Presupposition) है। अर्बन के मत में, निर्णयात्मक अवयव भले ही मूल्यानुभव का पूर्वगामी बन जाय, किन्तु यह कहना तो ग़लत है कि मूल्य के लिये, जैसा कि मायनाँग मानता है, अस्तित्व-विषयक स्पष्ट निर्णय की आवश्यकता है।[१४]

मायनाँग और ईरेन्फेल्स द्वारा निर्मित मूल्य की व्याख्याओं की एकांगिता को दूर करने के लिये अबन निम्नांकित व्याख्या प्रस्तुत करता है जिसमें मायनाँग और ईरेन्फेल्स के मूल्य सिद्धांतों के अच्छे अंश आ गये हैं।

> "अतः हमें स्थूल रूप से मूल्य की व्याख्या करते हुए कहना होगा कि वह भावना-इच्छा विषयक अर्थ है--ताकि यथापरिस्थिति, उसमें भावना अथवा इच्छा की वृत्तियों के तत्तत् अंशों का अन्तर्भाव हो जाय जो पदार्थ को उसके संचित अर्थ द्वारा जानते हैं।"[१५]

---

[१३] *Ibid.*, p. 36.
[१४] *Ibid.*, pp. 43-44.
[१५] *Valuation: its Nature and Laws*, p. 32.

हमने ऊपर, मूल्यों के मनोवैज्ञानिक सिद्धांत की स्थूल रूपरेखा दी है। इस सिद्धांत का महत्त्व इस बात में है कि उसने मूल्यों के जगत् को "ढूँढ़ निकालने में" मार्गदर्शन का कार्य किया है। अद्यावधि दार्शनिकों ने अपना सारा ध्यान अस्तित्व-विषयक समस्याओं पर ही केन्द्रित किया था। मूल्यों का अस्तित्व से सम्बन्ध रखनेवाली समस्याओं पर क्वचित् प्रकाश डाला गया था। किन्तु ऑस्ट्रियन सम्प्रदाय के मूल्य-दार्शनिकों ने अति सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक विश्लेषण द्वारा इस बात की ओर ध्यान आकर्षित किया कि सैद्धांतिक क्रिया के अतिरिक्त आत्मा में एक दूसरी विशिष्ट क्रिया होती है जो भिन्न विषयों के जानने में अथवा उनके सम्बन्धों को किसी वस्तुवृत्त-विषयक निर्णय में व्यक्त करने में नहीं मिलती, किन्तु निर्णायक चेतना के लिये विषयों के मूल्य अथवा प्रयोजन को ढूँढ़ निकालने के सिलसिले में अभिव्यक्त होती है। इस प्रकार, मनोवैज्ञानिक मूल्य सिद्धांत ने शुद्ध अस्तित्व से मूल्यों की ओर संक्रमण करने के लिये रास्ता साफ़ कर दिया।

तथापि मनोवैज्ञानिक मूल्य सिद्धान्त में एक गम्भीर दोष है। जैसा कि डॉ० मैत्र बतलाते हैं—

> "सारे मनोवैज्ञानिक मूल्य सिद्धान्तों का प्रधान दोष यह है कि जब विश्लेषण मूल्यानुभव को मिश्रित बतलाता है, तब मनोविज्ञान में यह समझने की क्षमता नहीं कि उन अनुभवों में से किसको कितना महत्त्व दे।"[१६]

हम देख चुके हैं कि विभिन्न मनोवैज्ञानिक मूल्य-दार्शनिक इस बात में सहमत हैं कि मूल्यानुभव विशेषतः बौद्धिक, रागात्मक

---

[१६] *Problem of Value, Part* II. p. 28.

और क्रियात्मक अवयवों का मिश्रण है। किन्तु जब प्रश्न यह उठता है कि इन तीनों में से किस अवयव को प्रधान मानना चाहिये ? तब मूल्य-दार्शनिक किसी एक निश्चित मत पर नहीं पहुँचते।

ठीक यहीं, मूल्यों को आकलन करने की दार्शनिक (metaphysical) पद्धति कुछ उपयोगी जँचती है। दार्शनिक मूल्य सिद्धान्त इस मान्यता से शुरूआत करते हैं कि आत्मा की सैद्धान्तिक क्रिया व्यावहारिक क्रिया की पूरक नहीं अपितु उसके अधीन है। इस मान्यता के अनुसार सारे मूल्य-दार्शनिक वस्तुवृत्तों के जगत् में अन्तर करते हैं और यह विश्वास करते हैं कि पहिला विज्ञान का विषय है, जब कि दूसरा दर्शन का। उदाहरणार्थ स्टर्न व्यक्ति के दृष्टिकोण और वस्तुओं के दृष्टिकोण में अन्तर करता है। व्यक्ति के दृष्टिकोण से उसका मतलब है हेतुमत्ता और आध्यात्मिक दृष्टिकोण, जब कि दूसरे का अर्थ वह जड़-यांत्रिक दृष्टिकोण लेता है। स्टर्न के अनुसार व्यक्ति में "सत्ता, स्वतः स्फूर्त, व्यक्तित्व, क्रिया है और वह जगत् के मूल्यों में अपना अलग मूल्य रखता है।" इसके विपरीत, वस्तु "जड है; उसका उपयोग आगन्तुक है; वह ऐसे अलग-अलग अवयवों से बनी है जिनका एक दूसरे से कोई सम्बन्ध नहीं होता और जिनका वह संघात मात्र है।"[१७] स्टर्न के लिये मुख्य समस्या है व्यक्ति और वस्तुओं में सम्बन्ध स्थापित करना।

---

१७ S. K. Maitra, *The Neo-Romantic Movement in Contemporary Philosophy*, p. 54

अपने Präludien में विंडेलबांड दर्शन और विज्ञान में अंतर करता है। विंडेलबांड के अनुसार, दर्शन हमेशा ध्येयात्मक (normative) है और विज्ञान शुद्धतया विचारग्राही (idiographic) है। यह बात उन निर्णयों के भेद से मालूम पड़ सकती है जो इन तन्त्रों द्वारा उपयोग में लाए जाते हैं। प्राकृतिक विज्ञान द्वारा प्रयुक्त निर्णय (Urteile) दो कल्पनाओं अथवा विचारों के बीच के केवल अन्तर को व्यक्त करते हैं। इसके विपरीत दर्शन के निर्णय (Beurteilungen) निर्णायक चैतन्य का संतोष अथवा असंतोष, पसंदगी अथवा नापसंदगी, व्यक्त करते हैं। Urteil और Beurteilung में का अन्तर विंडेलबांड ने इस प्रकार विशद किया है:—

"पहिले में दो विचारों के आधेयों का सम्बन्ध, और दूसरे में परिकल्पित विषय का निर्णायक चेतना से सम्बन्ध व्यक्त किया जाता है। इन दो स्थापनाओं में बुनियादी अंतर है: "यह सफेद है" और "यह अच्छा है," यद्यपि इन दोनों स्थापनाओं का व्याकरण-विषयक रूप बिलकुल एक जैसा है। इन दोनों बातों में व्याकरण-विषयक रूप के अनुसार—कर्ता को विधेय से संयुक्त किया जाता है, किन्तु एक में यह विधेय—वस्तु-विषयक—निर्णय के विधेय की हैसियत में—एक ऐसा निश्चित विचार होता है जो अपने आपमें पूर्ण होता है और जो अपने आधेय को परात्मक रूप से परिकल्पित विचार द्वारा प्राप्त करता है। दूसरे में—मूल्यनिर्णय के विधेय के रूप में—उस चेतना से सम्बन्ध की स्थापना होती है जो अपने सामने किसी उद्देश्य को रखती है।"[१८]

---

१८ "Es ist ein fundamentaler Unterschied zWischen den beiden Sätzen:" "dieses Ding ist weisz" und "dieses

Urteil का विधेय निश्चितार्थ (Positive) होता है। किन्तु Beurteilung का विधेय निर्णायक आत्मा का सन्तोष, अथवा असंतोष व्यक्त करता है। सन्तोष अथवा असन्तोष की भावनाओं में किसी ऐसे ध्येय के अस्तित्व में विश्वास अन्तर्हित है जिसके द्वारा विशिष्ट Beurtielung की प्रामाणिकता का विधान होता है। अतः दर्शन, जो कि Beurteilung से सम्बन्ध रखता है, की विंडेलबांड द्वारा इस प्रकार व्याख्या की गई है: "दर्शन *व्यापक मूल्यों का आलोचनात्मक विज्ञान है।* व्यापक मूल्यों का विज्ञान: यह बात विषयों का निदर्शन करती है; *आलोचनात्मक विज्ञान:* यह दर्शन की विधि बतलाती है।"[१९]

यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है। दर्शन की व्याख्या-व्यापक

Ding ist gut", obwohl die grammatische Form dieser beiden Sätze gang dieselbe ist. Einem Subjekte wird ... in beiden Fällen ein Prädikat zugesprochen: aber dies Prädikat ist in dem einen falle—als Urteilsprädikat—eine in sich fertige, dem Inhalt des objectiv Vorgestellten entnommene Bestimmung; es ist im anderen falle —als Beurteilungsprädikat—ein auf ein zwecksetzendes Bewustsien hinweisende Beziehung". (*Präludien,* II p. 52, 1907 Edition).

[१९] Philosophy "als die kritische Wissenschaft von den allgemeingiltigen Werten. Die Wissenschaft von den allgemeingiltigen Werten: das bezeichnet die Gegenstände; die kritische Wissenschaft: das bezeichnet die Methode der Philosophie." (*Präludien,* II, pp. 51—52, 1907 Edn.)

मूल्यों का आलोचनात्मक विज्ञान करने में, विंडेलबांड तत्त्व-ज्ञान को कर्म-मीमांसा से समीकरण करने की ओर एक निश्चित कदम आगे बढ़ाता है। अपने निबन्ध *Immanuel Kant* में विंडेल-बांड कहता है कि ध्येय अथवा मूल्य कांट के *a priori* से अभिन्न हैं। विंडेलबांड का कथन है:—

> "सत्य तो यह है कि कांट के अनुसार दर्शन की समस्या है, "बुद्धि के तत्त्वों पर" अर्थात् ध्येयों पर चिंतन करना और यह चिंतन विचार के नियमों द्वारा पूरा नहीं होता। और वह भावना और इच्छा के नियमों द्वारा ही पूरा किया जा सकता है। मूल्यों की अन्यतम विनिश्चितता पर चिंतन करने में, विज्ञान के ध्येय केवल अंश होते हैं; इनके अलावा उनसे स्वतन्त्र नैतिक चेतना और सौंदर्य-विषयक भावना के भी ध्येय होते हैं। हमारी नीति और कला की जड़ें हमारी बुद्धि में उतनी ही गहरी गड़ी हैं जितनी हमारे ज्ञान की। इन तीनों के संयोग से ही एक विश्व-चित्र तैयार होता है किन्तु साधारण चेतना ही अपनी "व्यापकता और नियति" के सह वर्तमान उसका मापदण्ड और हेतु बनकर वैयक्तिक जीवन कार्य के आकस्मिक प्रवाह के ऊपर स्थित रहती है।"[२०]

दूसरे शब्दों में हमारे समस्त अनुभव की चौखट चिंतन-विष-यक एवं भावना और इच्छा-विषयक ध्येयों से निर्मित है और वह लक्षण जो इन ध्येयों को प्रकृति के नियमों से पृथक् करता है विंडेलबांड के अनुसार उनकी *ऐकांतिक व्यापकता* (Allge-meinengiltichkeit) है।

---

२० *Präludien*, में 'Immanuel Kant' शीर्षक निबन्ध को देखिये। pp. 163—164.

अब ध्येयों को *a priori* और ऐकांतिक रूप से व्यापक मानकर विंडेलबांड ने उन्हें सत्तात्मक तत्त्व के पद पर आरूढ़ कर दिया है। क्योंकि ऐकांतिक व्यापकता तो उस सत्तात्मक तत्त्व में ही हो सकती है जिसे हम बाह्य जगत् की प्रत्येक वस्तु का आधार मानकर ही चलते हैं। अतः विंडेलबांड ने ध्येयों की व्यापकता पर ज़ोर देकर तत्त्व-ज्ञान का कर्म-मीमांसा से समीकरण करने की चेष्टा की है।

Normen und Naturgesetze शीर्षक निबन्ध में विंडेलबांड ध्येयों की एकदम दूसरी कल्पना देता है। यहाँ वह ध्येयों का कांट के *a priori* से समीकरण नहीं करता। उन्हें वह सम्भाव्य और वास्तविक अनुभव की बहुलता से समुद्धृत मानता है।

> "इस प्रकार सारे ध्येय, प्राकृतिक नियमों के आविर्भाव के *विशेष* रूप हैं। ध्येयों की पद्धति ऐसे मिश्रित रूपों की अनेकता में एक विशिष्ट *चनाव* की अपेक्षा करती है जिसके द्वारा वैयक्तिक सम्बन्धों के अनुसार मानसिक जीवन के प्राकृतिक नियम अपने आपको आविर्भूत कर सकते हैं।"[२१]

---

२१ "Alle Norman sind also besondere Formen der Verwirklichung von Naturgesetzen. Das System der Normen stellt ein *Auswahl* aus der unübersehbaren Mannigfaltigkeit der Kombinationsformen dar, unter denen, je. nach der individuellen Verhältnissen, die Naturgesetze des psychischen Lebens sich entfalten können." (*Präludien*, p. 291)

अब जैसा कि पिकार्ड कहता है : "दृष्टिकोण में यह अन्तर ध्येयों की कांटीय कल्पना को समस्त सम्भाव्य अनुभव के लिये चौखट की तरह न मानने पर विवश करता है और इस बात को भी मानने पर विवश करता है कि ध्येयों की इस कल्पना को बदलकर उन्हें प्राकृतिक नियमों की पार्श्व भूमि में क्रियमाण समझा जावे।"[२२]

विंडेलबांड के दृष्टिकोण में यह परिवर्तन उसके दर्शन की इस व्याख्या से कि वह ध्येयों का विज्ञान है, पूर्ण रूप से संगत है। क्योंकि ध्येय उस आत्मा की संकलन शक्ति की अपेक्षा करते हैं जो उन्हें प्राप्त करनी पड़ती है। किन्तु जब ध्येयों को अनुभव की बहुलता से समुद्धृत मान लिया गया, तब उनकी वह सत्तात्मक स्थिति, जिस पर वे आरूढ किये गये थे, नष्ट हो जाती है। ध्येय अब हमारे अनुभवों के वस्तुवृत्तों के आधारभूत तत्त्व नहीं हैं। क्योंकि ध्येयों के संकलन के पूर्व वस्तुवृत्तों का अस्तित्व मान लिया जाता है। इससे यह स्पष्ट है कि वस्तुवृत्तों का जगत् मूल्यों के जगत् से बाहर हो जाता है। और यद्यपि विंडेलबांड बार-बार कहता है कि दर्शन का कार्य वस्तुवृत्तों के जगत् और मूल्यों के जगत् को अथवा दूसरे शब्दों में विज्ञान के जगत् और इतिहास के जगत् को "एक सर्वोच्च आध्यात्मिक एकता में"[२३] संयुक्त कर

[२२] *Values, Immediate and Contributory*. pp. 130–131.

[२३] "...einer höchsten geistigen Einheit..." (*Präludien*, Essay on "Über die gegenwärtige Lage und Aufgabe der Philosophie," p. 23)

देना है; तथापि इन दोनों जगतों का द्वन्द्व विंडेलबांड की प्रणाली में इतना स्पष्ट है कि वह किसी भी ऐसे सर्वव्यापक समन्वय के लिये कोई अवकाश नहीं छोड़ता। डॉ० मैत्र इस सम्बन्ध में कहते हैं:—

"अपरंच, यह 'सर्वोच्च आध्यात्मिक एकता' क्या है? यह मूल्य है या नहीं? यदि है तो उसका समावेश मूल्यों के क्षेत्र में हो ही जाता है। यदि नहीं है तो वह कुछ तो भी ऐसी वस्तु है जो मूल्य न होते हुए अन्तिम सत्ता बन जाती है और इस प्रकार दर्शन की सारी इमारत जमीन पर खिसक पड़ती है। वस्तुतः यह मूल्य दर्शन की मुख्य अड़चन है; जब वह सर्व व्यापक प्रणाली बनना चाहता है, तब वह कुछ तो भी ऐसी वस्तु लाता है जो उसको जड़ से उखाड़ देती है।"[२४]

इसी प्रकार की द्वंद्वात्मिका प्रवृत्ति, जो विंडेलबांड की प्रणाली में दृष्टिगोचर होती है, हसर्ल के आभास विषयक (Phenomenological) चिंतन में भी पाई जाती है। उसकी पुस्तक Ideen zu einer reinen Phänomenologie und phänomenelogichen Philosophie में हसर्ल ने एक ऐसी दार्शनिक प्रणाली का निर्माण किया है जिसे वह शुद्ध आभास-शास्त्र (Phenomenology) कहता है। यह शुद्ध आभास-शास्त्र सार (Wesen) का विज्ञान है जिसे हसर्ल वस्तुवृत्तों (Tatsache) के विज्ञान के विरोध में उपस्थित करता है हसर्ल कहता है:

"शुद्ध अथवा अतीन्द्रिय आभासशास्त्र को वस्तुवृत्तों का विज्ञान (Tatsachenwissenschaft) नहीं समझ लेना चाहिये

[२४] *The Neo-Romantic Movement in Contemporary Philosophy*, pp. 153—154.

किन्तु वह सार का विज्ञान (Wesenwissenschaft) है; एक ऐसा विज्ञान है जिसका सम्बन्ध केवल "सार ज्ञान" से है और न कि वस्तुवृत्तों से।"[२५]

वस्तुतः हसर्ल सार के जगत् को वस्तुवृत्तों के जगत् से पृथक् करने के लिये बड़ा उत्सुक है। यह इस बात से प्रमाणित होता है कि हसर्ल ने अस्तित्व के जगत् के विरोध में, जिसे वह सत् (real) कहता है, सार के जगत् को असत् (unreal) माना है।

अतीन्द्रिय आभासशास्त्र के आभासों को असार कहना चाहिये। यह बतलाया जावेगा कि अतीन्द्रिय रूप से विशुद्ध 'अनुभव' असार होते हैं, और 'सार-जगत्' की सारी व्यवस्था से बाहर होते हैं।"[२६]

इस प्रकार हम देखते हैं कि सार का जगत् सत्ता की एक नई व्यवस्था है जिसका स्वभाव अस्तित्व के जगत् से बिलकुल भिन्न है। वस्तुतः मूल्य ही को हसर्ल सार कहता है। वह कहीं-कहीं सार-अनुभूति (Wesensanschavung) का जिक्र करता है जो शुद्ध सार को प्रकट करती है। जिस प्रकार अनुभव-अनुभूति (Experience-intuition) शुद्ध वस्तुवृत्त को प्रकट करती है। डॉ० मैत्र कहते हैं:

"यह सार अनुभूति की कल्पना बड़ी ही अनूठी है। देखने में तो यह आश्चर्यजनक मालूम पड़ता है कि उस सार का, जिसे Eidos कहते हैं, किसी स्वानुभूति से कभी सम्बन्ध होगा। किन्तु हसर्ल का

---

[२५] *Ideen* etc, p 3

[२६] *Ideen* etc, p. 4

उद्देश्य वस्तुवृत्तों के राज्य के समानान्तर एक राज्य को खड़ा करना है और अतः उसको उस सरंजाम से सम्पन्न करना आवश्यक है जो वस्तुवृत्तों के साम्राज्य में विद्यमान है।"[२७]

हसर्ल की प्रणाली में अस्तित्व और मूल्य का द्वन्द्व इतना स्पष्ट है कि उसके लिये कोई प्रमाण देने की आवश्यकता नहीं। 'वास्तविक' वस्तुओं के जगत् का 'अवास्तविक' सार के जगत् से कोई सम्बन्ध नहीं। उनमें से प्रत्येक सत्ता की भिन्न-भिन्न व्यवस्था प्रदर्शित करता है। इस प्रकार हसर्ल के शुद्ध आभास-शास्त्र का, जो सार अथवा मूल्यों का दर्शन है, अस्तित्व के जगत् से कोई सम्बन्ध नहीं। किन्तु हम एक सच्चे दर्शन से इस बात की आशा नहीं करते। सच्चे दर्शन का उद्देश्य हमें एक ऐसा सर्व-व्यापक उच्चतम तत्त्व देना है जो इस जगत् की प्रत्येक वस्तु की व्याख्या कर सके। फलतः हसर्ल के दर्शन जैसा दर्शन, जो अनुभव के एक ही पक्ष को मानकर दूसरे को छोड़ देता है, एकांगी और असन्तोषप्रद हुए बिना नहीं रह सकता।

रिकर्ट भी, दूसरे मूल्य-दार्शनिकों के समान, अस्तित्व (reality) और मूल्य के भेद से प्रारम्भ करता है। वह कहता है:

"अस्तित्व की कल्पना ही एक ऐसी नहीं है जिसके द्वारा हम किसी वस्तु का निर्णय कर सकते हैं किन्तु उसी की बाजू में, असत् के अतिरिक्त किसी अनस्तित्व के रूप में मूल्य की कल्पना विद्यमान है। हम अनस्तित्व का और साथ ही किसी वस्तु-विशेष का बोध कराने के

[२७] *Problem of Value*, I, pp. 15—16

लिये "मूल्य" का उपयोग करते हैं और हम ऐसी वस्तु के बोध की अभिव्यक्ति यह कहकर करते हैं कि वह प्रामाणिक है।"[२८]

अपरंच, रिकर्ट समसामयिक तत्त्वचिंता के सैद्धांतिक ज्ञान और मूल्यों के अन्तर पर इतना ज़ोर देने की प्रवृत्ति पर खेद व्यक्त करता है कि जिससे सैद्धांतिक ज्ञान मूल्यों का शत्रु बन जाय।[२९] इस प्रवृत्ति का मुख्य उन्नायक नीट्शे है। इसका परिणाम यह होता है कि ज्ञान का मूल्य नैतिक सौंदर्य-विषयक अथवा धार्मिक श्रद्धा के दृष्टिकोण से घट जाता है। इसके विपरीत, रिकर्ट का यह विश्वास है कि सैद्धांतिक ज्ञान में सत्य के उस ध्येय (norm) की अपेक्षा है जिसके द्वारा किसी निर्णय Judgment का सत्य-विषयक मूल्य निर्धारित हो सकता है। रिकर्ट कहता है कि "सैद्धांतिक मनुष्य भी मूल्यांकन करता है क्योंकि सत्य भी मूल्य है और चूँकि वह अपने आपको हेतुपुरस्सर उसकी सेवा में तत्पर करता है इसलिये उसे वह मूल्य मानता ही है।"[३०] वस्तुतः हमारे ज्ञान का विषय, रिकर्ट के अनुसार

---

[२८] *Gegenstand der Erkenntnis*, p. 260

[२९] "Bisweilen steigert sich der Gegensatz so, dasz die reine Erkenntnis geradezu als *Feind* dessen betractet wird, was wahrhaft wertvoll ist." (*System der Philosophie*, pt. I, p. 30)

[३०] "....auch der theoretische Menseh wertet, den die Wahrheit ist ein Wert und indem er sich erkennend in ihren Dienst stellt, erkennt er sie damit zugleich als Wert an." (*Ibid*., p. 27)

अस्तित्व (Sein) नहीं है। किन्तु असितव्य (Sollen) है। यह Sollen अथवा स्वयं मूल्य (Wert an sich) आधेय हीन (Contentless) शुद्ध रूप (Form) है। स्वयं-वस्तु क्या है यह नहीं बतलाया जा सकता। किन्तु इसका अर्थ यह है कि यहाँ हमारा सम्बन्ध एक ऐसी अन्तिम और अत्यन्त आधार-भूत परिकल्पना से है जिसके द्वारा हम जग का चिंतन कर सकें।" स्वयं-मूल्य (Wert an sich) ही अतींद्रिय दर्शन का विषय है। अतींद्रिय दर्शन विधि के अनुसार निर्णय का अतींद्रिय अर्थ ढूँढ़ता है। उसका सम्बन्ध जिसका अस्तित्व नहीं है उससे है। उसका सम्बन्ध न तो भौतिक अस्तित्व से है और न मानसिक अस्तित्व से, न वास्तविक से है और न काल्पनिक अस्तित्व से, न संवेद्य से है और न संवेदना-हीन वास्तविकता से, किन्तु उसका सम्बन्ध प्रमेयों के अर्थ (जिसका कोई अस्तित्व नहीं है) से है और उन रूपों से है जो मूल्यों की हैसियत से इस अर्थ का निर्माण करती है।[३१]

Wert an sich की कल्पना में, रिकर्ट ने वस्तुतः मूल्यों के आधारभूत तत्त्व को अर्थात् Sollen को एक सत्ता-विषयक तत्त्व में परिवर्तित कर दिया है। जैसा कि आलियोटा ने कहा है:[३२] "Wert an sich की कल्पना 'पुरानी स्वयं-वस्तु (Ding an sich) की कल्पना" से अभिन्न है, क्योंकि वह

---

[३१] *Gegenstand der Erkenntnis*, p. 238.
[३२] *The Idealistic Reaction against Science*, p. 212

स्वयं-वस्तु की तरह ही, अस्तित्व के सारे रूपों का सर्वथा अतिक्रमण करने के कारण अरूप है। किन्तु यह विचार-पद्धति रिकर्ट को ठीक उन्हीं कठिनाइयों के सामने खड़ा कर देती है जो स्वयं-वस्तु की कल्पना में हमें मिलती हैं। क्योंकि जब Sollen और Sein अथवा मूल्य-जगत् और अस्तित्व-जगत् एक दूसरे से बिलकुल पृथक् कर दिये जाते हैं, तब इसका अनिवार्य परिणाम द्वंद्ववाद (dualism) होता है।"

वस्तुतः रिकर्ट ने स्वयं इस बात को महसूस किया है। इसलिये उसने अपनी Allgemeine Grundlegung der Philosophie के उत्तर-भाग में अपने दृष्टिकोण में परमावधिक परिवर्तन किये हैं। सर्वप्रथम रिकर्ट ने मूल्य-जगत् और अस्तित्व-जगत् के बीच "निर्णायक आत्मा" (Wertende Subjekt) की कल्पना द्वारा सम्बन्ध स्थापित करने की चेष्टा की है। रिकर्ट कहता है कि "दर्शन का सम्बन्ध केवल अस्तित्व और मूल्य से ही नहीं अपितु निर्णायक आत्मा से भी है।"[33] और आत्मा ही अस्तित्व-जगत् का मूल्य-जगत् से संयोग (Zusammenhalt) करती है। क्योंकि ये दोनों जगत् आत्मा के लिये विषय के रूप में उपस्थित होते हैं और अतः दोनों ही उस आत्मा के एक जीवन अनुभव (Erlebniss) में संयुक्त हो जाते हैं जिसे रिकर्ट ने "जीवित्व में जीवित" कहा है।

किन्तु यद्यपि "निर्णायक आत्मा" अस्तित्व-जगत् और मूल्य-

---

[33] *Systemder Philosophie*, pt. I. p.313.

जगत् को हमारे अनुभव में संयुक्त करती है, तथापि यह सम्बन्ध ऐकांतिक अथवा अत्यन्त नहीं है। क्योंकि आत्मा अस्तित्व में जगत् तथा मूल्य जगत् को केवल अपने विषयों की तरह अनुभव करती है। अतः आत्मा और विषय को एक उच्च एकता में समन्वय करने का कार्य शेष रह जाता है। यह रिकर्ट ने अपनी World-whole की कल्पना द्वारा संपन्न किया है।

रिकर्ट अपनी प्रणाली के मूलभूत सिद्धान्तों के पारस्परिक सम्बन्ध की कल्पना इस प्रकार करवाता है : पूर्णविश्व (World-whole) में दो जगत् होते हैं—एक है Erlebte (अनुभूत) का, जिसके पुनः दो भाग—अस्तित्व और मूल्य—होते हैं। दूसरा जगत् है अनुभूयमान Erleben का जो अस्तित्व और अनस्तित्व (अर्थात् value) को संयुक्त करता है।[३४]

अब आत्मा और पूर्णविश्व की कल्पनाओं को निर्मित करके रिकर्ट ने अपने पूर्ववर्ती द्वन्द्ववादात्मक दृष्टिकोण से छुटकारा पा लिया है और अद्वैतवादी दृष्टिकोण को ग्रहण किया है। क्योंकि पूर्णविश्व अपने आप में अस्तित्व, मूल्य और निर्णायक आत्मा का

---

३४ "......das All zerfallt in das Reich des von unmittelbaren Erleben abgeruckten Erleben einerseits, das aus realen und irrealen oder werthaften Gegenstanden Besteht, und in das Reich unmittelbaren Erlebens anderseits, das Reales und Irreales zusammenhalt." (*System der Philosophie*, I. p. 213.)

ऐकांतिक समन्वय करता है। किन्तु अपनी प्रणाली को मजबूत बनाने के लिये रिकर्ट को उसकी पुरानी, अर्थात् मूल्य-दर्शन की स्थिति का परित्याग करना पड़ता है। पूर्णविश्व की कल्पना, यद्यपि वह रिकर्ट की प्रणाली में सर्वोच्च समन्वयकारी तत्त्व है, मूल्यों का कोई तत्त्व नहीं है। यह इस बात से स्पष्ट है कि मूल्यों का जगत् उन कई गौण कल्पनाओं में से एक है जो पूर्णविश्व की सर्वोच्च कल्पना पर आश्रित है। डॉ० मैत्र कहते हैं:— "इसलिये मूल्य उसके (अर्थात् रिकर्ट के) लिये अन्तिम नहीं है; वह उसके लिये उपधाभूत भी नहीं है, क्योंकि यह पद उसने आत्मा को दिया है, किन्तु वह उन दो जगतों में से एक है जिससे Erlebte अथवा जागतिक अनुभव, निर्मित होता है।"[३५] अब स्पष्ट है कि रिकर्ट की प्रणाली में तत्त्वज्ञान धीरे-धीरे कर्म-मीमांसा-विषयक दृष्टिकोण पर अपना प्रभुत्व जमाता है। पूर्णविश्व की कल्पना बुद्धिवादियों के परमात्मा के लिये ही पर्यायवाची शब्द है।

अब हम म्युन्स्टबर्ग की चिरंतन मूल्यों की प्रणाली का विवेचन करेंगे। मूल्यदार्शनिकों की साधारण प्रवृत्ति के अनुसार म्युन्स्टबर्ग वस्तुवृत्तों के जगत् और मूल्यों के जगत् में 'अन्तर' करता है। पहिला हमें प्रकृति देना है और दूसरा इतिहास। दर्शन का प्रधान कार्य यह जानना नहीं कि वस्तुवृत्त क्या है किन्तु यह जानना है कि वस्तुवृत्तों का अर्थ क्या है। म्युन्स्टबर्ग कहता है—

> वास्तविकता के विशिष्ट वस्तुवृत्तों को ढूँढ़ निकालने का काम दार्शनिक वैज्ञानिक एवं इतिहासज्ञ पद छोड़ देता है। वह अपने

---

[३५] *Problem of Value*, I. p. 9

लिए ज्ञान-मीमांसा की जटिल-समस्या का काम अर्थात् वस्तु-वृत्तों का सच्चा प्रयोजन क्या हो सकता है और जगत् के ज्ञान का प्रयोजन क्या है ? यह जानने का काम सुरक्षित रखता है।'[३६]

इस प्रकार सैद्धान्तिक और व्यावहारिक प्रयत्नों में हमारा सम्बन्ध शुद्ध वस्तुवृत्तों से नहीं किन्तु उनके 'अर्थ' से होता है।

अब म्युन्स्टबर्ग के अनुसार मूल्यों की व्याख्या है: इच्छा का अतिवैयक्तिक समाधान। इच्छा का केवल समाधान पर्याप्त नहीं है। शुद्ध वैयक्तिक समाधान, अर्थात् सुख का, म्युन्स्टबर्ग के अनुसार कोई मूल्य नहीं होता।

"इच्छा की पूर्ति सुख अथवा असुख से पृथक् है; इच्छा की पूर्ति तो संभाव्य उद्दीपन के साक्षात्कार से होती है। सुख अथवा दुःख स्वयं किसी प्रकार के सन्तोष अथवा असन्तोष के स्रोत हुए बिना व्यक्ति से उद्दीपन का सम्बन्ध व्यक्त करते हैं।'[३७]

अतः मूल्य को निर्माण करने के लिये इच्छा में अतिवैयक्तिक अंश होना चाहिये।

इच्छा-पूर्ति का क्या अर्थ है ? इस प्रश्न का म्युन्स्टबर्ग निम्नांकित उत्तर देता है:—

"हम कहते हैं कि हमारी इच्छा की पूर्ति हो गई जब कि उस विचार का साक्षात्कार हो जाता है जिसका हम निर्वाह करने की चेष्टा करते हैं। हमें इस स्थापना को अधिक विशद करना चाहिये। ऐसे साक्षात्कार का क्या अर्थ है ? सर्वप्रथम हम कह सकते हैं कि उसका

---

३६ *Eternal Values*, pp. 5–6

३७ *Ibid*, p. 70--71

अर्थ पूर्ववर्ती और अनुवर्ती अनुभव में आधेयाभिन्नता (identity of contents.) है।"[३८]

आधेय की एकता ही म्युन्स्टर्बर्ग के अनुसार इच्छा-पूर्ति का प्रधान लक्षण है। मूल्य-दर्शन का प्रधान कार्य उन अनेक मार्गों को ढूँढ़ना है जिनके द्वारा इच्छा आधेय की एकता व्यक्त करती है, अथवा, दूसरे शब्दों में इस बात को बतलाना है कि इच्छा अति-वैयक्तिक माँग बन जाती है। इस विचार के अनुसार म्युन्स्टर्बर्ग *Eternal Values* में हमें त्रिअष्ट मूल्यों की योजना देता है।

अब म्युन्स्टर्बर्ग की प्रणाली का मुख्य दोष यह है कि उसके अनुसार केवल इच्छा का कार्य, जैसा कि वह हमें वैयक्तिक आत्मा में मिलता है, मूल्य को उत्पन्न करने के लिये पर्याप्त नहीं है। इसके विपरीत उसको अपने अन्दर "अति-वैयक्तिक" अंश बतलाना पड़ता है। दूसरे शब्दों में, वैयक्तिक इच्छा को अपना तादात्म्य अतिवैयक्तिक इच्छा से करना चाहिये ताकि वह मूल्य से सम्पन्न हो सके। यह विचारधारा हमें सदोष प्रतीत होती है। प्रथमतः हमारा अनुभव क्वचित् उस अति-वैयक्तिक इच्छा की चेतना देता है जिसके सम्बन्ध में म्युन्स्टर्बर्ग बोलता है। हम तो केवल वैयक्तिक आत्मा में मिलनेवाली इच्छा को जानते हैं। हम यह भी जानते हैं कि केवल वैयक्तिक इच्छा ही मूल्यों की जननी है। क्योंकि मूल्य-निर्माण में निरंतर यह अपेक्षित है कि हम "असंतोष की स्थिति से अधिक सन्तोष की स्थिति की ओर, प्रथम क्षण से अन्तिम क्षण

---

३८ *Ibid.*

की ओर संक्रमण" करें। यह शर्त तो ऐसे सरूप ऐतिहासिक व्यक्ति की इच्छा द्वारा ही पूरी की जा सकती है, जिसे अपने ध्येय को प्राप्त करने के लिये समय की आवश्यकता होती है। उस अति-वैयक्तिक इच्छा को जो पूर्णतया सिद्ध है और काल-गति द्वारा अनवच्छिन्न है, इन्हीं लक्षणों से उपन्यस्त करना स्पष्टतया असंगति दोष का भागीदार बनना है। ये बातें पर्याप्त रूप से बतलाती हैं कि अतिवैयक्तिक ऐकांतिक इच्छा की कल्पना मूल्य-दर्शन की मूल भावना से असंगत और विरोधी है।

पुनः म्युन्स्टबर्ग के इस विश्वास में कि इच्छा का समाधान आधेय की एकता से उपलक्षित होना चाहिये, हेगेलीय सत्ता-विषयक परमात्मवाद का प्रत्यावर्तन है। जैसा कि डॉ० मैत्र कहते हैं—

> "यदि अभिन्नता का निर्वाह इच्छा-पूर्ति का प्रधान लक्षण हो और मूल्य की व्याख्या करता हो, तो मूल्य और सत्ता में क्या अन्तर? क्योंकि बुद्धिवादी द्वारा परिकल्पित सत्ता का प्रधान धर्म अभिन्नता का निर्वाह करना है।"[३९]

रिकर्ट और म्युन्स्टबर्ग की प्रणालियों का परमात्मवाद की ओर अनाशंकित झुकाव जोशुआ रॉइस की प्रणाली से बिलकुल स्पष्ट हो जाता है। रॉइस निःशंक होकर घोषित करता है कि हमारी सैद्धान्तिक और व्यावहारिक क्रियाओं को यथार्थ महत्त्व परमात्मा ही के द्वारा मिलता है। मूल्य दार्शनिका की साधारण

---

[३९] *Problem of Value*, I. p. 3.

परम्परा के अनुसार, रॉइस विचार को इच्छा का आश्रित मानता है। वह परमात्मा की कल्पनाओं को चार विभिन्न कोटियों में विभक्त करके इस कार्य को सम्पन्न करता है। परमात्मा की निम्नतर कल्पना अस्तित्व की सहज वास्तववादी कल्पना से अथवा उस कल्पना से मिलती-जुलती है जिसका हम अपने सैद्धांतिक प्रयत्नों में उपयोग करते हैं; जबकि चतुर्थ और सर्वोच्च कल्पना मूल्य और गुण ग्रहण से अभिन्न मानी गई है। अन्तिम कल्पना में तीन प्रधान लक्षण होते हैं।

(१) "उस अपूर्ण विचार के, जिससे कि हम आत्म-साक्षात्कार की शुरूवात करते हैं, आन्तरिक प्रयोजन की संपूर्ण अभिव्यक्ति; (२) इस विचार में अन्तर्हित हेतु अथवा इच्छा की इष्टपूर्ति; (३) एक ऐसा वैयक्तिक जीवन जो किसी अन्य से स्थानापन्न न किया जा सके।"[४०]

रॉइस के दर्शन का उपयोगितावाद और स्वातन्त्र्यवाद की ओर झुकाव परमात्मा की उपर्युक्त कल्पना में स्पष्ट झलकता है। वस्तुतः रॉइस कहता है :

"विचार तो औजारों की तरह हैं। वे किसी ध्येय के लिये नियत हैं। इस ध्येय के सन्निधान के कारण ही वे सत्य होते हैं, जिस प्रकार कोई औजार किसी कार्योपलब्धि के सिलसिले में अच्छा होता है।"[४१]

तथापि रॉइस का अन्य उपयोगितावादियों से इस बात में मतभेद है कि वह ध्येय को स्वात्म (Subjective) नहीं किन्तु उसे

---

[४०] *World and the Individual*, Vol. I, pp 340--341.
[४१] *Ibid.*, p. 308.

परमात्मा का ध्येय मानता है। पहिला तो अपने विचार के आंतरिक अर्थ की आंशिक पूर्ति करता है, किन्तु दूसरा अपूर्ण विचारों के आंतरिक अर्थ का, व्यक्तिगत रूप में और अन्तिम पूर्ति में संपूर्ण प्रत्यक्षीकरण है।"

रॉइस की परमात्मा की कल्पना की आलोचना करते हुए डॉ० मैत्र कहते हैं :

> "रॉइस की प्रणाली हेगेल के अध्यात्मवाद और स्वातन्त्र्यवादी मूल्य-दर्शन के संयोग से बनी है। तथापि उसमें हेगेल का प्रभाव अधिक प्रबल है और वह उसके उस परमात्मा की कल्पना में, जिसे वह सर्वव्यापी सत्ता मानता है, तथा उसकी सर्वसाधारण अनुभव-विषयक कल्पना में व्यक्त होता है।"[४२]

अब हम मूल्य-दर्शन के दोष अच्छी प्रकार समझ सकते हैं। जैसा कि हम पहिले बतला चुके हैं, मूल्य-दर्शन का प्रारम्भ वस्तु-वृत्तों के जगत् और मूल्य-जगत् के अन्तर से होता है। और विभिन्न दार्शनिक यह बतलाने का प्रयत्न करते हैं कि वस्तु-वृत्तों का जगत् मूल्य-जगत् का आश्रित है। इस प्रकार वे दर्शन के समस्त तन्त्रों में कर्म-मीमांसा ही को सर्वश्रेष्ठ स्थान देते हैं।

किन्तु मूल्य-दर्शन में कर्ममीमांसा का प्रभुत्व नाममात्र का है। क्योंकि, अधिकांश मूल्य-दर्शनों में वस्तु-वृत्तों के जगत् और मूल्य-जगत् का विरोध ज्यों का त्यों बना रहता है। जैसा कि हमने बतलाया है, स्टर्न में व्यक्ति और वस्तु का, विंडेलबांड में

---

[४२] *The Neo-Romantic Movement in Contemporary Philosophy*. p. 183.

इतिहास और प्रकृति का, हसर्ल में वस्तुवृत्त और सार का द्वैत ज्यों का त्यों ही बना हुआ है। रिकर्ट, म्युन्स्टबर्ग और रॉइस ने इस द्वैत को मिटाने की चेष्टा की है। किन्तु ऐसा करने में उनका हेगेलीय सत्तात्मक परमात्मवाद में प्रत्यावर्तन होता है। दूसरे शब्दों में, इन प्रणालियों में मूल्य-दर्शन का शुद्ध कर्ममीमांसा विषयक दृष्टिकोण सत्ता-विषयक दृष्टिकोण में परिवर्तित हो जाता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि जब मूल्य-दर्शन अपने सिद्धान्त से अपनी संगति बतलाता है, तब तो वह असंगत हो जाता है, और जब वह असंगत हो जाता है तब वह मूल्य-दर्शन नहीं रह जाता।

रचनात्मक खण्ड

आत्म-तंत्र दर्शन

रचनात्मक खण्ड

सत्ता का स्वरूप

जब हममें का दार्शनिक जाग्रत् होता है, तब वह अपने आप को रूपों के असीम, उर्मिमाली, सागर के किनारे खड़ा पाता है। मेरे आसपास रूप बदलनेवाले कितने असंख्य पदार्थ विद्यमान हैं? इन पदार्थों की रूपराशि की कितनी लहरें क्षण-क्षण, मेरे मानस पर आ-आकर टकराती हैं। मैं कभी इन रूपों को देखकर मुग्ध हो जाता हूँ, कभी आश्चर्यान्वित होता हूँ, कभी अभिभूत होता हूँ और कभी उनके सपाटे में आकर रूप-सागर में स्वयं गोता भी खाने लग जाता हूँ। मैंने आज बीज बोया। कल देखता हूँ तो उसमें अंकुर फूट आया। शनैः-शनैः वही पौदा बन गया। कोमल पल्लवों से परिवेष्टित सुन्दर फूल उसकी टहनियों पर झूमने लगे। फिर फलभार से टहनियाँ अवनत हो गईं।............थोड़े दिनों के बाद देखता हूँ तो वहाँ मुझे नीरस काष्ठ पड़ा हुआ मिलता है! एक ही वस्तु के कितने अनेक रूप! इस प्रकार जिधर मैं अपनी दृष्टि दौड़ाता हूँ उधर ही पदार्थों के क्षण-क्षण बदलनेवाले अनन्त रूप मुझे दृष्टिगोचर होते हैं।

तब सहज ही यह प्रश्न मन में उठता है; वह कौन-सी सत्ता है जिसकी तरंगें रूप-सागर पर आन्दोलित होती हैं ?

दार्शनिक का यह अनादि प्रश्न है। वह रूपों की विभिन्नता का मूल स्रोत ढूँढ़ना चाहता है। अथवा यों कहिये कि वह उस आधार को ढूँढ़ना चाहता है जहाँ से रूपों की सृष्टि होती है। बल्कि, इस प्रश्न को यों रखना अधिक स्वाभाविक होगा : क्या विभिन्न रूपों की सृष्टि करनेवाली कोई एकता है ? यदि है तो उसका स्वरूप क्या है ? ठीक यही सत्ता-विषयक समस्या है। इसे हल करना ही दार्शनिक का सर्वप्रधान और सर्वप्रथम कर्त्तव्य है।

सत्ता-विषयक समस्या में अन्तर्हित कल्पनाओं का सम्यक्-आकलन कर लेना हमारे लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। दार्शनिक जब क्षण-क्षण बदलनेवाले रूपों को देखकर आश्चर्यचकित होता है, तब उसमें विभिन्न रूपों की एकता जानने की इच्छा अवश्य होती है। किन्तु, दार्शनिक की जिज्ञासा रूपों की भिन्नता में एकता को ढूँढ़ने तक ही सीमित नहीं है। वह एक बात और भी जानना चाहता है। वह यह कि जिस अद्वैत तत्त्व को वह रूपों की भिन्नता का आधार मानता है, उसी से वह रूपों की उत्पत्ति की भी आशा करता है। दूसरे शब्दों में दार्शनिक की समस्या रूपों में एकता ढूँढ़ना मात्र नहीं है, अपितु रूपों को उत्पन्न करनेवाली एकता को ढूँढ़ना है।

जब हम मणियों को एक सूत्र पर पिरोते हैं, तब हम यह कह सकते हैं कि वे सब एक ही माला के, अर्थात् एक सूत्र पर पिरोये

गये, मणि हैं। यहाँ सूत्र यद्यपि मणियों की माला रूप में एकता का साधन है, किन्तु वह मणियों की उत्पादक एकता नहीं है।

इसके विपरीत, जब हम किसी पौदे को देखते हैं, तब हमें उसके विभिन्न रूपों में भी एकता का आभास होता है। जब एक बीज अंकुरित होकर उससे एक पौदा तैयार होता है और उसकी छोटी-छोटी शाखाओं पर सुकुमार पल्लव और प्रसून लगते हैं, तब हमें यह अवश्य अनुभव होता है, कि पौदे के विभिन्न अवयवों में एकता है। किन्तु यह एकता मालासूत्र में प्रोत मणियों की तरह अवयवों से पृथक् नहीं है। वह उनसे असंश्लिष्ट रूप में संनद्धहै—इतना कि यदि हम उस पौधे से एक पत्ता अथवा फूल तोड़ लेते हैं, तब वह छिन्नसूत्र माला के मणि जैसा अपना अस्तित्व अलग नहीं रख सकता। वह मुरझाकर नष्ट हो जाता है। क्यों? इसलिए, कि वह पौदे के विभिन्न रूपों में प्रवर्तमान एकता से उद्भूत है। वह एकता पर पिरोया गया अंश नहीं है। किन्तु, वह उस एकता से उत्पादित है। इसलिए, वह उससे सर्वथा अवियोज्य है। दार्शनिक को एक ऐसी ही उत्पादक एकता चाहिए, जो जगत् के रूपों में समान रूप से वर्तमान होते हुए उनकी विधात्री हो।

अब प्रश्न है: हमें जागतिक रूपों की उत्पादक एकता कहाँ ढूँढ़ना चाहिए?

प्रश्न पहिले पहल बड़ा सरल मालूम पड़ता है। कोई भी इसको सुनकर कह देगा कि 'अरे भाई! यदि सत्ता की एकता जग

के समस्त रूपों में विद्यमान है, तो उसे उन्हीं रूपों में क्यों नहीं ढूँढ़ लेते ?'

यदि क्षण भर हम इस कथन पर विचार करें तो हमें अवश्य मालूम होजायगा कि हमारे हितचिन्तक की सलाह पर चलना हमारे लिए अव्यवहार्य ही नहीं, असम्भव है। हमारे सामने बिछे हुए रूप-सागर को देखकर कौन साहस कर सकता है कि इन अपार रूपों को एक-एक उठाकर देखे और उन सबकी परीक्षा कर लेने पर फिर अपना सत्ता की एकता-विषयक निर्णय दे। कई पदार्थ तो हमसे इतने दूर हैं कि उनके रूप जानना हमारे लिए दुरूह हो जाता है। कई पदार्थ हमारे इतने समीप हैं कि उनके रूप अति-शक्तिशाली अणुवीक्षण यंत्र द्वारा भी मालूम नहीं होते। ऐसी अवस्था में कौन यह कहने का साहस कर सकता है कि वह जग के समस्त रूपों का आकलन कर लेगा।

फिर, इन जागतिक रूपों के पीछे पड़ने से हमको लाभ ही क्या ? मान लिया कि किसी व्यक्ति के जीवन में कोई ऐसा सुदिन भी आ सकता है कि जब वह जागतिक रूपों के विषय में अपनी सर्वज्ञता का परिचय दे सके, किन्तु क्या हम रूपों के संसार द्वारा उनकी एकता को जान सकेंगे ? एक सुभाषित है :

अब्धिर्लंघित एव वानरभटैः किंत्वस्य गंभीरता।
आपातालनिमग्न पीवरतनुर्जानाति मन्दाचलः॥

समुद्र को लाँघकर वानर वीरों ने उसके विस्तार को भले ही जान लिया हो, किन्तु उसकी गंभीरता कितनी है इसे वे नहीं जान

सकते। सागर की गम्भीरता को जाननेवाला तो मन्दाचल ही है जो पाताल तक डूबा हुआ होने के कारण पीला पड़ गया। वानर वीरों के समान ही कोई उद्भट वीर रूप-सागर को भले ही इस किनारे से उस किनारे तक लाँघ जाय। किन्तु इतने मात्र से रूपों की सत्तात्मक एकता थोड़े ही जानी जा सकती है। बाह्य जगत् में हम कहीं भी जायँ अथवा किधर भी दृष्टिपात करें, हमें केवल रूप ही रूप, हाँ रूप, रूप..........और अन्ततः रूप ही मिलेंगे।

राज्याभिषेक के समय, रामचन्द्र ने अपने अनन्य सेवक हनूमान् को अत्यन्त प्रसन्न होकर एक महार्ह रत्नों का हार उपहार स्वरूप किया। उस रत्नों के हार को हाथ में लेकर बड़ी देर तक हनूमान् ध्यानपूर्वक देखते रहे। किन्तु उनकी जिज्ञासा पूरी नहीं हुई। उन्होंने उस हार से एक-एक रत्न निकालकर उसे भी बड़े ध्यान से देखा। फिर भी सन्तोष नहीं हुआ। उन्होंने एक-एक करके उन्हें अपने दाँतों तले फोड़कर फिर देखा। फिर भी सन्तोष नहीं। संत्रस्त होकर रत्नों के फूटे हुए शकलों को ले जाकर हनूमान् ने रामचन्द्र के चरणों में अर्पित कर दिया। अपने दिए हुए बहुमूल्य रत्न-हार को इस अवस्था में देखकर, रामचन्द्र को बड़ा दुःख हुआ। उन्होंने हनूमान् से पूछा "तुमने यह क्या किया ?" हनूमान् बोले, "भगवन्, यह हार आपने भले ही मुझे बहुमूल्य समझकर दिया हो, किन्तु मुझे तो उसमें राम नहीं मिला।" ठीक इसी प्रकार जो केवल रूपों के पर्यवेक्षण मात्र ही से एकता प्राप्त करना चाहते हैं, उन्हें भी अन्ततः रूपों का राम मिलना कठिन है।

मैं एक वृक्ष की टहनी को तोड़कर अपनी प्रयोग-शाला में लाता हूँ। उसमें से एक पत्ता लेता हूँ। उसको चाकू से चीरता हूँ। फिर उसके छोटे से छोटे टुकड़े करता हूँ। एक टुकड़े को लेकर अणुवीक्षण यन्त्र के नीचे रखता हूँ। अणुवीक्षण यन्त्र में एक काँच पर दूसरा काँच चढ़ाता हूँ।······इसी प्रकार अनवस्था तक। इन सब क्रिया में मुझे क्या मिलता है? पत्ते के एक रूप के बाद दूसरा रूप, उसके बाद तीसरा रूप······इसी प्रकार अनवस्था तक। मुझे कहीं रूपविरहित किन्तु रूपोत्पादिका शुद्ध एकता उपलब्ध नहीं होती।

इस प्रकार, हम देखते हैं कि बाह्य जगत् के विस्तार में सत्ता-विषयक एकता को ढूँढ़ना व्यर्थ है।

तब हमें उसे कहाँ ढूँढ़ना चाहिये? इस पर हमारा उत्तर है: "अपने आप में।" रूपों की अखिल राशि में हम ही अपने आपको—ऐसा पाते हैं जहाँ हमें रूप-सागर की अतुल गम्भीरता की परीक्षा का अवसर मिल सकता है।

जब उपनिषत्कार ऋषियों ने कहा:—"अयमात्मा ब्रह्म" तब उनका मतलब यही था कि सत्ता का वास्तविक स्वरूप हमारी आत्मा में, अर्थात् हमारे अपने रूपों के अन्तरतम केन्द्र में मिल सकता है। यदि सब जग एक ही सत्ता से विस्फुरित है, तो हममें उस सत्ता का अन्तर्भाव होना आवश्यक है। इसके अतिरिक्त, हम अपने आप को जितना जान सकते हैं, उतना अन्य किसी विषय

को नहीं। दूसरे विषयों को हम ऊपर से देखते हैं। हमारी उनकी अन्तरात्मा तक पहुँच नहीं होती। किन्तु जब हम अपने आपको अन्दर से टटोलते हैं तब हमारा अनुभव प्रगाढ़ होता है। इस बात को समझकर ही उपनिषत्कारों ने अपनी आत्मा को सत्यान्वेषण में इतना महत्त्व दिया है।

यदि इस प्रकार सत्ता की अनुभूयमानता का एकमात्र केन्द्र हमारी आत्मा है, तब हमें देखना चाहिए कि हमारे अन्दर सत्ता किस प्रकार प्रवर्तमान है। किन्तु इसके पूर्व कि हम अपनी अनुभूति का प्रयोग करें, हमें यह जान लेना आवश्यक है कि रूप का स्वभाव क्या है। यह बात इसलिए इतनी महत्त्वपूर्ण है कि हम सत्ता-विषयक एकता का अन्वेषण करते हुए किसी ऐसी वस्तु ही को सत्ता न समझ बैठें, जो कई अन्य रूपों में से एक हो और जो स्वयं अपने अस्तित्व के लिये सत्ता-विषयक तत्त्व की अपेक्षा करता हो। अतः हमें रूप के स्वभाव से परिचित हो लेना सत्ता-विषयक समस्या से संलग्न अनेक उलझनों से बचने के लिये आवश्यक है।

सत्ता का कोई भी संवेद्य अंश रूप कहलाता है। हम प्रायः बाह्य पदार्थों के इन्द्रिय-गोचर आकार-विकारों ही को रूप के अंतर्गत समझते हैं। किन्तु, यह अनुचित है। रूप 'रचना' अथवा 'विन्यास' का पर्यायवाची शब्द है। 'रचना' अथवा 'विन्यास' शब्दों के अर्थ किसी असंवेद्य तत्त्व के संवेद्य अंश की ओर संकेत करते हैं। जो असंवेद्य है उसका कोई रूप नहीं। किन्तु जो संवेद्य

है उसे सरूप होना ही चाहिये। इस प्रकार, संवेदनीयता ही सरूपता का चरम लक्षण है।

हमारे यहाँ प्राय: रूप को चाक्षुष विषय मानने की प्रथा चली आई है। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्दों द्वारा हम बहिर्जगत् के पदार्थों को जानते हैं। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द पदार्थों के वे गुण हैं जो क्रमश: हमें अपने नेत्र, जिह्वा, नासिका, त्वचा और कर्ण की इन्द्रियों द्वारा संवेद्य हैं। यहाँ रूप केवल हमारे नेत्रों ही का विषय माना गया है। किन्तु, रूप का यह संकुचित अर्थ है। जब 'रूप' को हम उसकी उपर्युक्त व्यापकता में लेते हैं, तब हमें उसे केवल चाक्षुष विषयों तक ही सीमित रखने का कोई कारण नहीं जान पड़ता। रूप में समस्त संवेद्य विषयों का अन्तर्भाव होता है।

अब संवेद्य विषय दो प्रकार के होते हैं। बाह्य जगत् के सभी विषय इन्द्रियगोचर होते हैं। अत: उनकी संवेद्यता में किसी को शंका उत्पन्न नहीं हो सकती। किन्तु हम देखते हैं कि हमारे विचार, भावनाएँ और इच्छाएँ भी बाह्य पदार्थों की अपेक्षा किसी प्रकार कम संवेद्य नहीं हैं। मेरे विचार, भावनाएँ और इच्छाएँ भले ही दूसरे को संवेद्य न हों; किन्तु इतने मात्र से उन्हें असंवेद्य कहना अनुचित है। जब मुझे क्रोध आता है अथवा डर लगता है, जब मैं प्रसन्न होता हूँ अथवा दुखी, तब मैं अच्छी प्रकार जानता हूँ कि मुझमें कौन-सी भावना विद्यमान है। उसी प्रकार, जब मुझे कोई कल्पना आती है, और उसके परिणाम-स्वरूप मैं

अर्थ पूर्ववर्ती और अनुवर्ती अनुभव में आधेयाभिन्नता (identity of contents.) है।"[३८]

आधेय की एकता ही म्युन्स्टर्बर्ग के अनुसार इच्छा-पूर्ति का प्रधान लक्षण है। मूल्य-दर्शन का प्रधान कार्य उन अनेक मार्गों को ढूँढ़ना है जिनके द्वारा इच्छा आधेय की एकता व्यक्त करती है, अथवा, दूसरे शब्दों में इस बात को बतलाना है कि इच्छा अति-वैयक्तिक माँग बन जाती है। इस विचार के अनुसार म्युन्स्टर्बर्ग *Eternal Values* में हमें त्रिअष्ट मूल्यों की योजना देता है।

अब म्युन्स्टर्बर्ग की प्रणाली का मुख्य दोष यह है कि उसके अनुसार केवल इच्छा का कार्य, जैसा कि वह हमें वैयक्तिक आत्मा में मिलता है, मूल्य को उत्पन्न करने के लिये पर्याप्त नहीं है। इसके विपरीत उसको अपने अन्दर "अति-वैयक्तिक" अंश बतलाना पड़ता है। दूसरे शब्दों में, वैयक्तिक इच्छा को अपना तादात्म्य अतिवैयक्तिक इच्छा से करना चाहिये ताकि वह मूल्य से सम्पन्न हो सके। यह विचारधारा हमें सदोष प्रतीत होती है। प्रथमतः हमारा अनुभव कचित् उस अति-वैयक्तिक इच्छा की चेतना देता है जिसके सम्बन्ध में म्युन्स्टर्बर्ग बोलता है। हम तो केवल वैयक्तिक आत्मा में मिलनेवाली इच्छा को जानते हैं। हम यह भी जानते हैं कि केवल वैयक्तिक इच्छा ही मूल्यों की जननी है। क्योंकि मूल्य-निर्माण में निरंतर यह अपेक्षित है कि हम "असंतोष की स्थिति से अधिक सन्तोष की स्थिति की ओर, प्रथम क्षण से अन्तिम क्षण

---

३८ *Ibid.*

की ओर संक्रमण" करें। यह शर्त तो ऐसे सरूप ऐतिहासिक व्यक्ति की इच्छा द्वारा ही पूरी की जा सकती है, जिसे अपने ध्येय को प्राप्त करने के लिये समय की आवश्यकता होती है। उस अति-वैयक्तिक इच्छा को जो पूर्णतया सिद्ध है और काल-गति द्वारा अनवच्छिन्न है, इन्हीं लक्षणों से उपन्यस्त करना स्पष्टतया असंगति दोष का भागीदार बनना है। ये बातें पर्याप्त रूप से बतलाती हैं कि अतिवैयक्तिक ऐकांतिक इच्छा की कल्पना मूल्य-दर्शन की मूल भावना से असंगत और विरोधी है।

पुनः म्युन्स्टबर्ग के इस विश्वास में कि इच्छा का समाधान आधेय की एकता से उपलक्षित होना चाहिये, हेगेलीय सत्ता-विषयक परमात्मवाद का प्रत्यावर्तन है। जैसा कि डॉ० मैत्र कहते हैं—

> "यदि अभिन्नता का निर्वाह इच्छा-पूर्ति का प्रधान लक्षण हो और मूल्य की व्याख्या करता हो, तो मूल्य और सत्ता में क्या अन्तर? क्योंकि बुद्धिवादी द्वारा परिकल्पित सत्ता का प्रधान धर्म अभिन्नता का निर्वाह करना है।"[३९]

रिकर्ट और म्युन्स्टबर्ग की प्रणालियों का परमात्मवाद की ओर अनाशंकित झुकाव जोशुआ रॉइस की प्रणाली से बिलकुल स्पष्ट हो जाता है। रॉइस निःशंक होकर घोषित करता है कि हमारी सैद्धान्तिक और व्यावहारिक क्रियाओं को यथार्थ महत्त्व परमात्मा ही के द्वारा मिलता है। मूल्य दार्शनिकों की साधारण

---

[३९] *Problem of Value*, I, p. 3.

परम्परा के अनुसार, रॉइस विचार को इच्छा का आश्रित मानता है। वह परमात्मा की कल्पनाओं को चार विभिन्न कोटियों में विभक्त करके इस कार्य को सम्पन्न करता है। परमात्मा की निम्नतर कल्पना अस्तित्व की सहज वास्तववादी कल्पना से अथवा उस कल्पना से मिलती-जुलती है जिसका हम अपने सैद्धांतिक प्रयत्नों में उपयोग करते हैं; जबकि चतुर्थ और सर्वोच्च कल्पना मूल्य और गुण ग्रहण से अभिन्न मानी गई है। अन्तिम कल्पना में तीन प्रधान लक्षण होते हैं।

> (१) "उस अपूर्ण विचार के, जिससे कि हम आत्म-साक्षात्कार की शुरूवात करते हैं, आन्तरिक प्रयोजन की संपूर्ण अभिव्यक्ति; (२) इस विचार में अन्तर्हित हेतु अथवा इच्छा की इष्टपूर्ति; (३) एक ऐसा वैयक्तिक जीवन जो किसी अन्य से स्थानापन्न न किया जा सके।"[४०]

रॉइस के दर्शन का उपयोगितावाद और स्वातन्त्र्यवाद की ओर झुकाव परमात्मा की उपर्युक्त कल्पना में स्पष्ट झलकता है। वस्तुतः रॉइस कहता है :

> "विचार तो औजारों की तरह हैं। वे किसी ध्येय के लिये नियत हैं। इस ध्येय के सन्निधान के कारण ही वे सत्य होते हैं, जिस प्रकार कोई औजार किसी कार्योपलब्धि के सिलसिले में अच्छा होता है।"[४१]

तथापि रॉइस का अन्य उपयोगितावादियों से इस बात में मतभेद है कि वह ध्येय को स्वात्म (Subjective) नहीं किन्तु उसे

---

[४०] *World and the Individual*, Vol. I, pp 340--341.
[४१] *Ibid.*, p. 308.

परमात्मा का ध्येय मानता है। पहिला तो अपने विचार के आंतरिक अर्थ की आंशिक पूर्ति करता है, किन्तु दूसरा अपूर्ण विचारों के आंतरिक अर्थ का, व्यक्तिगत रूप में और अन्तिम पूर्ति में संपूर्ण प्रत्यक्षीकरण है।"

रॉइस की परमात्मा की कल्पना की आलोचना करते हुए डॉ० मैत्र कहते हैं :

> "रॉइस की प्रणाली हेगेल के अध्यात्मवाद और स्वातन्त्र्यवादी मूल्य-दर्शन के संयोग से बनी है। तथापि उसमें हेगेल का प्रभाव अधिक प्रबल है और वह उसके उस परमात्मा की कल्पना में, जिसे वह सर्वव्यापी सत्ता मानता है, तथा उसकी सर्वसाधारण अनुभव-विषयक कल्पना में व्यक्त होता है।"[४२]

अब हम मूल्य-दर्शन के दोष अच्छी प्रकार समझ सकते हैं। जैसा कि हम पहिले बतला चुके हैं, मूल्य-दर्शन का प्रारम्भ वस्तु-वृत्तों के जगत् और मूल्य-जगत् के अन्तर से होता है। और विभिन्न दार्शनिक यह बतलाने का प्रयत्न करते हैं कि वस्तु-वृत्तों का जगत् मूल्य-जगत् का आश्रित है। इस प्रकार वे दर्शन के समस्त तन्त्रों में कर्म-मीमांसा ही को सर्वश्रेष्ठ स्थान देते हैं।

किन्तु मूल्य-दर्शन में कर्ममीमांसा का प्रभुत्व नाममात्र का है। क्योंकि, अधिकांश मूल्य-दर्शनों में वस्तु-वृत्तों के जगत् और मूल्य-जगत् का विरोध ज्यों का त्यों बना रहता है। जैसा कि हमने बतलाया है, स्टर्न में व्यक्ति और वस्तु का, विंडेलबांड में

---

[४२] *The Neo-Romantic Movement in Contemporary Philosophy*. p. 183.

इतिहास और प्रकृति का, हसर्ल में वस्तुवृत्त और सार का द्वैत ज्यों का त्यों ही बना हुआ है। रिकर्ट, म्युन्स्टर्बर्ग और रॉइस ने इस द्वैत को मिटाने की चेष्टा की है। किन्तु ऐसा करने में उनका हेगेलीय सत्तात्मक परमात्मवाद में प्रत्यावर्तन होता है। दूसरे शब्दों में, इन प्रणालियों में मूल्य-दर्शन का शुद्ध कर्ममीमांसा विषयक दृष्टिकोण सत्ता-विषयक दृष्टिकोण में परिवर्तित हो जाता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि जब मूल्य-दर्शन अपने सिद्धान्त से अपनी संगति बतलाता है, तब तो वह असंगत हो जाता है है, और जब वह असंगत हो जाता है तब वह मूल्य-दर्शन नहीं रह जाता।

रचनात्मक खण्ड

आत्म-तंत्र दर्शन

रचनात्मक खण्ड

सत्ता का स्वरूप

जब हममें का दार्शनिक जाग्रत् होता है, तब वह अपने आप को रूपों के असीम, उर्मिमाली, सागर के किनारे खड़ा पाता है। मेरे आसपास रूप बदलनेवाले कितने असंख्य पदार्थ विद्यमान हैं? इन पदार्थों की रूपराशि की कितनी लहरें क्षण-क्षण, मेरे मानस पर आ-आकर टकराती हैं। मैं कभी इन रूपों को देखकर मुग्ध हो जाता हूँ, कभी आश्चर्यान्वित होता हूँ, कभी अभिभूत होता हूँ और कभी उनके सपाटे में आकर रूप-सागर में स्वयं गोता भी खाने लग जाता हूँ। मैंने आज बीज बोया। कल देखता हूँ तो उसमें अंकुर फूट आया। शनैः-शनैः वही पौदा बन गया। कोमल पल्लवों से परिवेष्टित सुन्दर फूल उसकी टहनियों पर झूमने लगे। फिर फलभार से टहनियाँ अवनत हो गईं।............थोड़े दिनों के बाद देखता हूँ तो वहाँ मुझे नीरस काष्ठ पड़ा हुआ मिलता है! एक ही वस्तु के कितने अनेक रूप! इस प्रकार जिधर मैं अपनी दृष्टि दौड़ाता हूँ उधर ही पदार्थों के क्षण-क्षण बदलनेवाले अनन्त रूप मुझे दृष्टिगोचर होते हैं।

तब सहज ही यह प्रश्न मन में उठता है; वह कौन-सी सत्ता है जिसकी तरंगें रूप-सागर पर आन्दोलित होती हैं?

दार्शनिक का यह अनादि प्रश्न है। वह रूपों की विभिन्नता का मूल स्रोत ढूँढ़ना चाहता है। अथवा यों कहिये कि वह उस आधार को ढूँढ़ना चाहता है जहाँ से रूपों की सृष्टि होती है। बल्कि, इस प्रश्न को यों रखना अधिक स्वाभाविक होगा : क्या विभिन्न रूपों की सृष्टि करनेवाली कोई एकता है? यदि है तो उसका स्वरूप क्या है? ठीक यही सत्ता-विषयक समस्या है। इसे हल करना ही दार्शनिक का सर्वप्रधान और सर्वप्रथम कर्त्तव्य है।

सत्ता-विषयक समस्या में अन्तर्हित कल्पनाओं का सम्यक्-आकलन कर लेना हमारे लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। दार्शनिक जब क्षण-क्षण बदलनेवाले रूपों को देखकर आश्चर्यचकित होता है, तब उसमें विभिन्न रूपों की एकता जानने की इच्छा अवश्य होती है। किन्तु, दार्शनिक की जिज्ञासा रूपों की भिन्नता में एकता को ढूँढ़ने तक ही सीमित नहीं है। वह एक बात और भी जानना चाहता है। वह यह कि जिस अद्वैत तत्त्व को वह रूपों की भिन्नता का आधार मानता है, उसी से वह रूपों की उत्पत्ति की भी आशा करता है। दूसरे शब्दों में दार्शनिक की समस्या रूपों में एकता ढूँढ़ना मात्र नहीं है, अपितु रूपों को उत्पन्न करनेवाली एकता को ढूँढ़ना है।

जब हम मणियों को एक सूत्र पर पिरोते हैं, तब हम यह कह सकते हैं कि वे सब एक ही माला के, अर्थात् एक सूत्र पर पिरोये

गये, मणि हैं। यहाँ सूत्र यद्यपि मणियों की माला रूप में एकता का साधन है, किन्तु वह मणियों की उत्पादक एकता नहीं है।

इसके विपरीत, जब हम किसी पौदे को देखते हैं, तब हमें उसके विभिन्न रूपों में भी एकता का आभास होता है। जब एक बीज अंकुरित होकर उससे एक पौदा तैयार होता है और उसकी छोटी-छोटी शाखाओं पर सुकुमार पल्लव और प्रसून लगते हैं, तब हमें यह अवश्य अनुभव होता है, कि पौदे के विभिन्न अवयवों में एकता है। किन्तु यह एकता मालासूत्र में प्रोत मणियों की तरह अवयवों से पृथक् नहीं है। वह उनसे असंश्लिष्ट रूप में संनद्ध है— इतनी कि यदि हम उस पौधे से एक पत्ता अथवा फूल तोड़ लेते हैं, तब वह छिन्नसूत्र माला के मणि जैसा अपना अस्तित्व अलग नहीं रख सकता। वह मुरझाकर नष्ट हो जाता है। क्यों ? इस-लिए, कि वह पौदे के विभिन्न रूपों में प्रवर्तमान एकता से उद्भूत है। वह एकता पर पिरोया गया अंश नहीं है। किन्तु, वह उस एकता से उत्पादित है। इसलिए, वह उससे सर्वथा अवियोज्य है। दार्शनिक को एक ऐसी ही उत्पादक एकता चाहिए, जो जगत् के रूपों में समान रूप से वर्तमान होते हुए उनकी विधात्री हो।

अब प्रश्न है : हमें जागतिक रूपों की उत्पादक एकता कहाँ ढूँढ़ना चाहिए ?

प्रश्न पहिले पहल बड़ा सरल मालूम पड़ता है। कोई भी इसको सुनकर कह देगा कि 'अरे भाई ! यदि सत्ता की एकता जग

के समस्त रूपों में विद्यमान है, तो उसे उन्हीं रूपों में क्यों नहीं ढूँढ़ लेते ?'

यदि क्षण भर हम इस कथन पर विचार करें तो हमें अवश्य मालूम हो जायगा कि हमारे हितचिन्तक की सलाह पर चलना हमारे लिए अव्यवहार्य ही नहीं, असम्भव है। हमारे सामने बिछे हुए रूप-सागर को देखकर कौन साहस कर सकता है कि इन अपार रूपों को एक-एक उठाकर देखे और उन सबकी परीक्षा कर लेने पर फिर अपना सत्ता की एकता-विषयक निर्णय दे। कई पदार्थ तो हमसे इतने दूर हैं कि उनके रूप जानना हमारे लिए दुरूह हो जाता है। कई पदार्थ हमारे इतने समीप हैं कि उनके रूप अति-शक्तिशाली अणुवीक्षण यंत्र द्वारा भी मालूम नहीं होते। ऐसी अवस्था में कौन यह कहने का साहस कर सकता है कि वह जग के समस्त रूपों का आकलन कर लेगा।

फिर, इन जागतिक रूपों के पीछे पड़ने से हमको लाभ ही क्या ? मान लिया कि किसी व्यक्ति के जीवन में कोई ऐसा सुदिन भी आ सकता है कि जब वह जागतिक रूपों के विषय में अपनी सर्वज्ञता का परिचय दे सके, किन्तु क्या हम रूपों के संसार द्वारा उनकी एकता को जान सकेंगे ? एक सुभाषित है :

अब्धिर्लंघित एव वानरभटैः किंत्वस्य गंभीरता।
आपातालनिमग्न पीवरतनुर्जानाति मन्दाचलः॥

समुद्र को लाँघकर वानर वीरों ने उसके विस्तार को भले ही जान लिया हो, किन्तु उसकी गंभीरता कितनी है इसे वे नहीं जान

सकते। सागर की गम्भीरता को जाननेवाला तो मन्दाचल ही है जो पाताल तक डूबा हुआ होने के कारण पीला पड़ गया। वानर वीरों के समान ही कोई उद्‌भट वीर रूप-सागर को भले ही इस किनारे से उस किनारे तक लाँघ जाय। किन्तु इतने मात्र से रूपों की सत्तात्मक एकता थोड़े ही जानी जा सकती है। बाह्य जगत् में हम कहीं भी जायँ अथवा किधर भी दृष्टिपात करें, हमें केवल रूप ही रूप, हाँ रूप, रूप..........और अन्ततः रूप ही मिलेंगे।

राज्याभिषेक के समय, रामचन्द्र ने अपने अनन्य सेवक हनूमान् को अत्यन्त प्रसन्न होकर एक महार्ह रत्नों का हार उपहार स्वरूप किया। उस रत्नों के हार को हाथ में लेकर बड़ी देर तक हनूमान् ध्यानपूर्वक देखते रहे। किन्तु उनकी जिज्ञासा पूरी नहीं हुई। उन्होंने उस हार से एक-एक रत्न निकालकर उसे भी बड़े ध्यान से देखा। फिर भी सन्तोष नहीं हुआ। उन्होंने एक-एक करके उन्हें अपने दाँतों तले फोड़कर फिर देखा। फिर भी सन्तोष नहीं। संत्रस्त होकर रत्नों के फूटे हुए शकलों को ले जाकर हनूमान् ने रामचन्द्र के चरणों में अर्पित कर दिया। अपने दिए हुए बहुमूल्य रत्न-हार को इस अवस्था में देखकर, रामचन्द्र को बड़ा दुःख हुआ। उन्होंने हनूमान् से पूछा "तुमने यह क्या किया?" हनूमान् बोले, "भगवन्, यह हार आपने भले ही मुझे बहुमूल्य समझकर दिया हो, किन्तु मुझे तो उसमें राम नहीं मिला।" ठीक इसी प्रकार जो केवल रूपों के पर्यवेक्षण मात्र ही से एकता प्राप्त करना चाहते हैं, उन्हें भी अन्ततः रूपों का राम मिलना कठिन है।

मैं एक वृक्ष की टहनी को तोड़कर अपनी प्रयोग-शाला में लाता हूँ। उसमें से एक पत्ता लेता हूँ। उसको चाकू से चीरता हूँ। फिर उसके छोटे से छोटे टुकड़े करता हूँ। एक टुकड़े को लेकर अणुवीक्षण यन्त्र के नीचे रखता हूँ। अणुवीक्षण यन्त्र में एक काँच पर दूसरा काँच चढ़ाता हूँ।......इसी प्रकार अनवस्था तक। इन सब क्रिया में मुझे क्या मिलता है? पत्ते के एक रूप के बाद दूसरा रूप, उसके बाद तीसरा रूप......इसी प्रकार अनवस्था तक। मुझे कहीं रूपविरहित किन्तु रूपोत्पादिका शुद्ध एकता उपलब्ध नहीं होती।

इस प्रकार, हम देखते हैं कि बाह्य जगत् के विस्तार में सत्ता-विषयक एकता को ढूँढ़ना व्यर्थ है।

तब हमें उसे कहाँ ढूँढ़ना चाहिये? इस पर हमारा उत्तर है: "अपने आप में।" रूपों की अखिल राशि में हम ही अपने आपको—ऐसा पाते हैं जहाँ हमें रूप-सागर की अतुल गम्भीरता की परीक्षा का अवसर मिल सकता है।

जब उपनिषत्कार ऋषियों ने कहा:—"अयमात्मा ब्रह्म" तब उनका मतलब यही था कि सत्ता का वास्तविक स्वरूप हमारी आत्मा में, अर्थात् हमारे अपने रूपों के अन्तरतम केन्द्र में मिल सकता है। यदि सब जग एक ही सत्ता से विस्फुरित है, तो हममें उस सत्ता का अन्तर्भाव होना आवश्यक है। इसके अतिरिक्त, हम अपने आप को जितना जान सकते हैं, उतना अन्य किसी विषय

को नहीं। दूसरे विषयों को हम ऊपर से देखते हैं। हमारी उनकी अन्तरात्मा तक पहुँच नहीं होती। किन्तु जब हम अपने आपको अन्दर से टटोलते हैं तब हमारा अनुभव प्रगाढ़ होता है। इस बात को समझकर ही उपनिषत्कारों ने अपनी आत्मा को सत्यान्वेषण में इतना महत्त्व दिया है।

यदि इस प्रकार सत्ता की अनुभूयमानता का एकमात्र केन्द्र हमारी आत्मा है, तब हमें देखना चाहिए कि हमारे अन्दर सत्ता किस प्रकार प्रवर्तमान है। किन्तु इसके पूर्व कि हम अपनी अनुभूति का प्रयोग करें, हमें यह जान लेना आवश्यक है कि रूप का स्वभाव क्या है। यह बात इसलिए इतनी महत्त्वपूर्ण है कि हम सत्ता-विषयक एकता का अन्वेषण करते हुए किसी ऐसी वस्तु ही को सत्ता न समझ बैठें, जो कई अन्य रूपों में से एक हो और जो स्वयं अपने अस्तित्व के लिये सत्ता-विषयक तत्त्व की अपेक्षा करता हो। अतः हमें रूप के स्वभाव से परिचित हो लेना सत्ता-विषयक समस्या से संलग्न अनेक उलझनों से बचने के लिये आवश्यक है।

सत्ता का कोई भी संवेद्य अंश रूप कहलाता है। हम प्रायः बाह्य पदार्थों के इन्द्रिय-गोचर आकार-विकारों ही को रूप के अंतर्गत समझते हैं। किन्तु, यह अनुचित है। रूप 'रचना' अथवा 'विन्यास' का पर्यायवाची शब्द है। 'रचना' अथवा 'विन्यास' शब्दों के अर्थ किसी असंवेद्य तत्त्व के संवेद्य अंश की ओर संकेत करते हैं। जो असंवेद्य है उसका कोई रूप नहीं। किन्तु जो संवेद्य

है उसे सरूप होना ही चाहिये। इस प्रकार, संवेदनीयता ही सरूपता का चरम लक्षण है।

हमारे यहाँ प्रायः रूप को चाक्षुष विषय मानने की प्रथा चली आई है। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्दों द्वारा हम बहिर्जगत् के पदार्थों को जानते हैं। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द पदार्थों के वे गुण हैं जो क्रमशः हमें अपने नेत्र, जिह्वा, नासिका, त्वचा और कर्ण की इन्द्रियों द्वारा संवेद्य हैं। यहाँ रूप केवल हमारे नेत्रों ही का विषय माना गया है। किन्तु, रूप का यह संकुचित अर्थ है। जब 'रूप' को हम उसकी उपर्युक्त व्यापकता में लेते हैं, तब हमें उसे केवल चाक्षुष विषयों तक ही सीमित रखने का कोई कारण नहीं जान पड़ता। रूप में समस्त संवेद्य विषयों का अन्तर्भाव होता है।

अब संवेद्य विषय दो प्रकार के होते हैं। बाह्य जगत् के सभी विषय इन्द्रियगोचर होते हैं। अतः उनकी संवेद्यता में किसी को शंका उत्पन्न नहीं हो सकती। किन्तु हम देखते हैं कि हमारे विचार, भावनाएँ और इच्छाएँ भी बाह्य पदार्थों की अपेक्षा किसी प्रकार कम संवेद्य नहीं हैं। मेरे विचार, भावनाएँ और इच्छाएँ भले ही दूसरे को संवेद्य न हों; किन्तु इतने मात्र से उन्हें असंवेद्य कहना अनुचित है। जब मुझे क्रोध आता है अथवा डर लगता है, जब मैं प्रसन्न होता हूँ अथवा दुखी, तब मैं अच्छी प्रकार जानता हूँ कि मुझमें कौन-सी भावना विद्यमान है। उसी प्रकार, जब मुझे कोई कल्पना आती है, और उसके परिणाम-स्वरूप मैं

किसी कार्य में प्रवृत्त होता हूँ, तब मुझे अपने विचार और इच्छाएँ किसी भी प्रकार असंवेद्य प्रतीत नहीं होतीं। अतः रूप में केवल चाक्षुष विषय ही नहीं अथवा केवल बाह्य इन्द्रिय-गोचर विषय ही अन्तर्भूत नहीं होते। अपितु हमारे विचार, भावना और इच्छाओं का भी अन्तर्भाव होता है।

संवेदनीयता के अतिरिक्त, रूप का एक और भी परिचायक लक्षण है। वह है सृजनशीलता का अभाव। प्रत्येक रूप एक दूसरे से पृथक् होता है। जब तक उसका अस्तित्व होता है, तब तक उसमें अपना अलग व्यक्तित्व भी होता है। इस व्यक्तित्व के कारण एक रूप दूसरे से बाह्य रहता है और उससे सर्वांशेन तादात्म्यहीन होता है। इसका अर्थ यह नहीं कि रूपों में संबद्धता नहीं होती। वे एक दूसरे पर क्रिया और प्रतिक्रिया करते हैं, किन्तु अपना व्यक्तित्व अलग कायम रखते हैं। रूप की यह व्यक्तित्व कायम रखने की प्रवृत्ति उसके आसपास एक प्रकार की सीमा खींच देती है। दूसरे शब्दों में, रूप का व्यक्तित्व ही उसे विशिष्ट देश, काल से अवच्छिन्न बनाकर जड़ बना देता है। उसमें उस स्वतःस्फूर्ति, चलता (dynamism) का अभाव होता है जिसके कारण, वह सृजनशील बनकर अपना रूपान्तर कर सके।

इस बात को कुछ और स्पष्ट करने की आवश्यकता है। बाह्य-जगत् में हम देखते हैं कि प्रत्येक रूप का व्यक्तित्व अलग-अलग होता है। हम यह भी देखते हैं कि कोई रूप स्वेच्छानुसार किसी भी रूप में परिवर्तित नहीं होता। निरिन्द्रिय जग की अपेक्षा

सौन्दर्य जग में प्रजनन-क्रिया हमें अधिक स्पष्ट रूप से दृष्टि-गोचर होती है। हम जानते हैं कि बीज से वृक्ष की उत्पत्ति होती है, एक सेल अपने आपको अनेक सेल्स में विभक्त करके नयी सेल्स बनाती है, एक प्राणी से अनेक सन्तानें उत्पन्न होती हैं। इन दृश्यों को देखकर सम्भवतः हमारे मन में रूपों की सृजनशीलता के विषय में विश्वास जम जाय।

किन्तु कुछ विचार करने के पश्चात् हमें प्रतीत होगा कि जब एक रूप दूसरे में रूपांतरित होता है, तब वह अपने बल पर नहीं होता, किन्तु उसके अन्दर छिपी हुई किसी अरूप शक्ति द्वारा। प्रायः हम पिता को पुत्र का जनक कहते हैं। और माता को उसकी जननी। दो प्राणियों के संयोग से तीसरे प्राणी की उत्पत्ति होती है। अब, जनन-क्रिया का वास्तविक रूप क्या है? इसका अभी ठीक-ठीक अनुसन्धान नहीं हो सका है। प्राणि-शास्त्र में प्रजनन-शास्त्र (Science of Heredity) का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। विकासवाद के सिद्धांत के कारण पिछली शताब्दी में इस शास्त्र ने बड़ी उन्नति की। उसके द्वारा कई अज्ञात बातें प्रकाश में आईं। किन्तु इतना होने पर भी, प्रजनन-शास्त्रवेत्ता अभी यथार्थ रूप से किसी एक निष्कर्ष पर नहीं पहुँच पाये हैं। प्रयोगों द्वारा इतना अवश्य मालूम हो सका है कि सन्तान की उत्पत्ति के लिये जनक के शरीर में से Spermatozoön जैसे germ plasms (कीटाणुओं) का जननी के गर्भ में संक्रमण होता है। यही कीटाणु विशिष्ट परिस्थिति में डिंभ बनता है और तत्पश्चात् एक शिशु के रूप में हमारे सामने आता है।

अब, प्रश्न यह उठता है कि क्या germ-plasm जनक का पुत्र में रूपान्तर है या केवल जनक कहलाये जानेवाले व्यक्ति का अपने अन्दर स्थित शक्ति का संक्रमण है ? हमारे लिये इस प्रश्न का वैज्ञानिक उत्तर देना अनधिकार चेष्टा होगी। क्योंकि इसके लिये हमें प्रजनन-शास्त्र की उन बारीकियों में घुसना होगा जहाँ अब भी उपर्युक्त प्रश्न विवादास्पद है। हम उपर्युक्त प्रश्न का केवल साधारण तर्क द्वारा यह उत्तर दे सकते हैं कि यदि जनक अपने आपको पुत्र के रूप में रूपांतरित कर सकता होता तो पिता, पिता न रहकर पुत्र बन जाता । रूपान्तर के लिये यह अपेक्षित है कि रूप को बदलनेवाली सत्ता अपने एक व्यक्तित्व को विनष्ट करके उसके स्थान में अपना दूसरा व्यक्तित्व बतलावे। एक रूप अपना व्यक्तित्व ज्यों का त्यों कायम रखकर, दूसरे रूप का स्रष्टा नहीं बन सकता। किन्तु पिता-पुत्र के सम्बन्ध में हम इस प्रकार के रूपान्तर की अपेक्षा करें तो अनर्थ हो जाय। ऐसी परिस्थिति में भाषा-विषयक व्यवहार को आघात न पहुँचाते हुए यदि हम विवेक का आश्रय लें, तो यही कहना होगा कि जनक पुत्रोत्पत्ति का निमित्त कारण है। उपादान कारण तो वह सत्ता है जो उसके रूप में प्रवर्तमान है। Spermatozoön द्वारा जननी के गर्भ में संक्रमित होने के कारण जनक की अरूप सत्ता ही अपने आपको डिंभ के रूप में, तत्पश्चात्, शिशु, कुमार, युवा, प्रौढ़ और अन्त में वृद्ध के रूप में रूपांतरित करती रहती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि एक रूप दूसरे रूप में सत्ता-संक्रमण का साधन बन सकता है, किन्तु वह अपने आप से दूसरे रूप की सृष्टि नहीं कर सकता।

अब हम समझ सकते हैं कि रूप क्या है? वह सत्ता का संवेद्य अंश है जो सृजनशील नहीं है।

इस स्थापना से हम एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष पर पहुँचते हैं। दार्शनिक का कार्य जैसा कि हम अभी कह चुके हैं एक ऐसी एकता को ढूँढ़ना है जो रूपों की सृष्टि कर सके। अब रूप में सृजनशीलता का अभाव होने के कारण सत्ता की इस प्रकार की एकता को रूपों की राशि में प्राप्त करने की चेष्टा व्यर्थ है। किन्तु, सत्ता-विषयक तत्त्व को तो सृजनशील होना आवश्यक है। जो नये-नये रूप प्रतिक्षण हमें दृष्टि-गोचर होते हैं, उनका अस्तित्व ही न रहता, यदि उन रूपों के परदे के अन्दर कोई ऐसा तत्त्व न होता, जो उनकी सृष्टि करता हो। अब ऐसी सृजनशीलता रूपों में तो उपलब्ध नहीं हो सकती; क्योंकि रूप स्वयं जड़ है और जड़ में सृजनशीलता कहाँ से आ सकती है। अतः यदि हम वास्तविक सृजनशीलता चाहते हों तो हमें रूपों की सीमा का अतिक्रमण करना होगा और रूप के परे किसी ऐसे सत्ता-विषयक तत्त्व को ढूँढ़ना होगा जो रूप के लक्षणों से सर्वथा विरहित हो।

यह बात किसी को मान्यतामूलक (Dogmatic) प्रतीत हो। किन्तु दार्शनिक की समस्या को मद्देनज़र रखते हुए, रूपों का जो स्वरूप हमारे प्रत्यक्ष अनुभव में आता है, उसका उस समस्या से क्या सम्बन्ध हो सकता है 'इस बात का दिग्दर्शन कराने के सिलसिले में ही हम उपर्युक्त निष्कर्ष पर पहुँचते हैं। सीधी-सी बात है; दार्शनिक वस्तु जगत् का उत्पादक तत्त्व चाहता है।

किन्तु वस्तुओं में वह सृजनशीलता नहीं जिसके कारण वे अपने आपको अन्य वस्तुओं में रूपांतरित कर सकें। अतः, यह अनुमान किसी प्रकार भी तथ्यहीन नहीं कहा जा सकता कि सत्ता-विषयक तत्त्व वस्तु नहीं हो सकता अथवा वस्तु के गुणों से उपन्यस्त नहीं माना जा सकता।

किन्तु, यदि इस अनुमान पर हमारा विश्वास नहीं जमता हो, तो हमें प्रत्यक्ष अनुभूति द्वारा उसकी प्रामाणिकता की जाँच करनी होगी। इसके लिए हमें अपने अन्तरानुभव की तह में अपने आपको ले जाना होगा और वहाँ देखना होगा कि हमारे अस्तित्व की जड़ में किस सत्ता की प्रवृत्ति है।

किन्तु इसके पूर्व कि हम अपने अन्तरानुभव की गहराई में उतरें, हमें यह भली भाँति जान लेना आवश्यक है कि हम एक दार्शनिक के नाते अन्तरानुभव की जाँच करने चले हैं। हमें रूपों का उत्पादक कारण ढूँढ़ना है ? हम ऊपर बतला चुके हैं कि रूप बाह्य जगत् के पदार्थों ही का नाम नहीं है, अपितु हमारे विचार, भावना, इच्छाएँ भी रूपात्मक होती हैं। वे भी बाह्य पदार्थों जैसी संवेद्य हैं, यद्यपि वे केवल स्वसंवेद्य हैं। अन्तरानुभव में प्रवेश करते समय, हमें ऐसे अनेक आध्यात्मिक रूप मिलेंगे। किन्तु हमें इनसे बचकर आगे बढ़ना है। किसी एक विशिष्ट रूप को, फिर चाहे वह कितना ही आध्यात्मिक क्यों न हो, सत्ता मान लेना अपने उद्देश्य को भूल जाना है।

इस प्रकार सावधान हो जाने पर, अब हम निशंक अपने अन्तरानुभव की गहराई में उतर सकते हैं।

सबसे पहिले, मैं अपने मन का अवधान बाँध कर बाह्य जगत् के सन्निकर्ष में लानेवाली इन्द्रियों को बन्द करता हूँ। मैं अब बाह्य जगत् के आघातों से विचलित नहीं होता। तब मुझे क्या मालूम पड़ता है ?

मुझे मालूम पड़ता है कि मैं एक भयंकर ज्वालामुखी के मुख (Crater) में उतर रहा हूँ। सर्वत्र भीषण अन्धकार, उसी में प्रतिक्षण इतस्तः बड़े वेग से विकीर्ण आध्यात्मिक वृत्तियों के संघर्ष के कारण उद्भूत एक तुमुल कोलाहल। स्थिरता का नाम नहीं। सर्वत्र क्रिया और प्रतिक्रिया। किन्तु ये सब वृत्तियाँ सरूप हैं। विचार, भावना, कल्पना आदि आध्यात्मिकता के जितने रूप मुझे मिलते हैं सब में अपना-अपना व्यक्तित्व होता है। इसी व्यक्तित्व के कारण वे एक दूसरे से टकराते हैं और संघर्ष उत्पन्न करते हैं। अतः मैं आध्यात्मिकता की इस ऊपरी सरूप सतह को छोड़कर और भी निचली सतह में प्रवेश करता हूँ। तब मुझे क्या मिलता है ?

अब मैं पाता हूँ कि जिस स्तर पर मैं पहिले खड़ा था उसकी अपेक्षा मैं ज्यों-ज्यों नीचे की ओर जाता हूँ त्यों-त्यों मेरी आध्यात्मिकता शनैः-शनैः मानों घनत्व से द्रवत्व में परिणत होती हुई प्रतीत होती है। यहाँ मुझे वस्तुएँ नहीं मिलतीं किन्तु उनकी जड़ें मिलती हैं। यहाँ उनका व्यक्तित्व बना-बनाया नहीं मिलता, किन्तु

वह अपनी निर्मिति की क्रिया में मिलता है। यही कारण है कि मैं अब खड़ा नहीं रह सकता किन्तु फिसलता जाता हूँ। ऊपरी स्तर में मुझे आध्यात्मिकता के रूपों में जो बहुत्व का आभास मिलता था, वह अब धीरे-धीरे नष्ट होकर एकरूपता धारण कर रहा है। मैं बहुतेरा चाहता हूँ कि मेरी आध्यात्मिकता के निर्मिमाण रूप को पकड़ लूँ। किन्तु वह इतना अस्फुट, अपरिकल्पनीय, इतना गतिमान और चंचल है कि वह मेरी पकड़ अपने पर जमने ही नहीं देता। मुझे आश्चर्य होता है, उसमें इतनी गति कहाँ से आई। किन्तु वह कहीं अन्दर से आती ही चली जाती है, बिना रुके अविरत, निरंतर। वहाँ यह पहचानना दुरूह हो जाता है कि वास्तव में हमें कोई रूप मिलता है अथवा गति। वहाँ रूप का गति ही में विलय हो जाता है। संवेदना शून्यप्राय हो जाती है। एकमात्र गति, चपलता, सृजनशीलता ही का बोध होता है। किसी अविज्ञात विधि से कोई स्वतःस्फूर्त शक्ति आकर, न जाने किस जादू से एकदम ऐसे व्यक्तित्व में रूपांतरित हो जाती है जो शनैः शनैः एंजिन से निकली हुई भाफ़ की तरह शुद्ध क्रिया से बदलकर घनत्व से उपन्यस्त हो जाती है।

हमें सत्ता की इस रूप-प्रणयन-क्रिया का इच्छा-शक्ति से तादात्म्य नहीं करना चाहिये। एक तो इच्छा-शक्ति सरूप है। अर्थात् हम अपनी इच्छा द्वारा क्या करना चाहते हैं, यह हमें अच्छी प्रकार मालूम रहता है। अन्यथा, हम अपनी एक इच्छा को अपनी दूसरी इच्छा से पृथक् ही कैसे कर सकते? 'मैं' भोजन

करना चाहता हूँ यह इच्छा "मैं विद्वान् बनना चाहता हूँ" इस इच्छा से सर्वथा भिन्न है। इसकी भिन्नता के लिए अवश्य यह कारण दिया जा सकता है कि हमारी इच्छाओं के प्राप्य विषय विभिन्न होने के कारण उनमें भी भिन्नता आ जाती है। किन्तु, यह बात सर्वांशेन ठीक नहीं है। यदि इच्छा एक है और उसके विषय भिन्न तो एक ही इच्छा को भिन्न विषयों की ओर प्रवृत्त होने का कोई कारण नहीं। यदि इच्छा एक है तो उसका विषय भी एक ही होना चाहिये। किन्तु हम अनुभव द्वारा पाते हैं कि हम अनेक विषयों की संप्राप्ति की ओर आकर्षित रहते हैं। अतः हमारी प्रत्येक विषय के प्रति इच्छा इसलिए है कि उसका व्यक्तित्व अथवा रूप दूसरी इच्छा से अलग है। इस प्रकार, हमारी समस्त इच्छाएँ सरूप हैं।

दूसरे, इच्छा का उद्देश्य यद्यपि उसके द्वारा विनिश्चित रहता है किन्तु उसका उसमें अन्तर्भाव नहीं होता। जब मैं यह कहता हूँ कि "मुझे १००) प्राप्त करने की इच्छा है" तब मैं अनन्त विषयों में से १००) को ही अपनी इच्छा का विषय बनाता हूँ। दूसरे शब्दों में, मेरी इच्छा का विषय, मेरे द्वारा विनिश्चित रहता है। कोई भी विषय मेरी इच्छा को अपनी ओर प्रवृत्त होने के लिए विवश नहीं करा सकता। किन्तु इसके साथ यह भी बात है कि इच्छित विषय सदा-सर्वदा इच्छा के बाहर होगा। यदि इच्छा और विषय एक ही होते तो या तो इच्छा इच्छा नहीं रहती अथवा विषय ही इच्छा बन जाता। जब तक १००) मुझे मिल

नहीं जाते, तभी तक मेरी इच्छा इच्छा रहती है। किन्तु ज्यों ही मैं १००) प्राप्त कर लेता हूँ, त्यों ही मेरी इच्छा का अन्त हो जाता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि इच्छा *एक ऐसी स-रूप आध्यात्मिक प्रवृत्ति है जो अपने से बाह्य किन्तु स्वनिश्चित विषय की ओर अग्रसर होती है।*

इस बात को मद्देनज़र रखते हुए, हम कह सकते हैं कि सत्तात्मक क्रिया इच्छा की क्रिया नहीं है। वह व्यक्तित्वहीन होने के कारण सरूप नहीं है। दूसरे वह सर्वथा ध्येयहीन, निरुद्दिष्ट है। अर्थात् सत्ता स्वयं किसी बाह्य विषय की ओर प्रवृत्त नहीं होती। उसका एकमात्र व्यवसाय है अपने आपको रूपों में व्यक्त करना। रूप सत्ता से बाह्य नहीं किन्तु सत्ता ही के रूपान्तर हैं। अतः सत्ता इच्छा नहीं है। यह बात हमें अभिनव-स्वातन्त्र्यवादियों की तरह सत्ता को कर्मतन्त्र बनाने के दोष से बचायेगी।

जब हम यह कहते हैं कि सत्ता अपने आपको रूपों में व्यक्त करती है तब कुछ लोग सम्भवतः यह समझ बैठेंगे कि सत्ता अलग है और उसका रूप अलग है। किन्तु सत्ता और रूप का इस प्रकार का पार्थक्य केवल काल्पनिक है। अनुभव में हमें वे कभी एक दूसरे से वियुक्त नहीं मिलते। सत्ता रूप से अलग नहीं रह सकती और न रूप ही सत्ता से अलग रह सकता है। यदि रूप सत्ता ही का रूपांतर है तो उसमें सत्ता का समस्त सार अन्तर्हित होना ही चाहिये। और यह बात है भी। हम किसी भी रूप को उठाकर इस बात की सत्यता को देख सकते हैं। चूँकि

हमें अपने ही मन से प्रगाढ़ परिचय है अतः हम उपर्युक्त बात का प्रमाण वहीं ढूँढेंगे।

मनोवैज्ञानिक हमारी आध्यात्मिक वृत्तियों का वर्गीकरण विचार, भावना और इच्छाओं में करते हैं। किन्तु आजकल वे इस निष्कर्ष पर पहुँच रहे हैं कि विचार, भावना अथवा इच्छाएँ. हमारी आध्यात्मिकता के अलग-अलग खाने नहीं हैं, जिनमें हमारी मन की वृत्तियाँ डाकखाने के 'सॉर्टिंग बाक्स' में फेंके गये पत्रों की तरह, अपनी अलग-अलग ढेरियाँ बना लेती हैं। इसके विपरीत, आधुनिक मनोविश्लेषण ने यह साधार प्रमाणित कर दिया है कि हमारे मन की प्रत्येक वृत्ति सरूप होते हुए भी शक्ति-सम्पन्न होती है। वह एक प्रकार की इच्छातृप्ति (wish fulfilment) है। दूसरे शब्दों में, हमारे मन में जब भी कभी कोई विचार उत्पन्न होता है तब वह किसी आन्तरिक किन्तु अज्ञात अभिव्यक्ति की प्रेरणा को लेकर आता है। उसको अभीप्सित मार्ग मिला तो ठीक है, अन्यथा किसी बाधा के उपस्थित हो जाने के कारण या तो वह हमारे मन के (Subconscious) प्रदेश में कुछ देर ठहरकर स्वप्न में अपनी अभिव्यक्ति करता है अथवा वह मन के (Unconscious) प्रदेश में जाकर वहाँ बहुत काल पड़ा रहता है। परन्तु ऊपरी चैतन्य के दबाव के जरा ही ढीला पड़ने पर, Hysteria, Double Personality, mania जैसी विकृत मनःस्थितियों द्वारा अपनी अभिव्यक्ति की चेष्टा करता है। इसके अतिरिक्त, मनोवैज्ञानिक यह भी कहते हैं कि हमारी समस्त

आध्यात्मिक वृत्तियाँ किसी विशिष्ट शक्ति-स्रोत से प्रादुर्भूत होती हैं।

हमें मनोवैज्ञानिकों की उपर्युक्त बातें स्पष्ट रूप से यह बतलाती हैं कि हमारे मन के समस्त रूपों में उनके अन्दर स्थित किसी शक्ति की अभिव्यक्ति की प्रेरणा छिपी होती है। मनोवैज्ञानिक हमारे मन के रूपों में प्रच्छन्नशक्ति को Libido अथवा Complex कहकर छोड़ देते हैं। किन्तु, उपर्युक्त विवेचन के द्वारा हम इस शक्ति का तादात्म्य सत्ता-विषयक तत्त्व से कर सकते हैं। हमारे मन के रूपों में और कोई भी शक्ति काम नहीं करती किन्तु हमारे अन्दर अरूप सत्ता ही अपनी अभिव्यक्ति की ओर अग्रसर होती है। उत्पत्ति के समय कोई भी वृत्ति किसी विशिष्ट व्यक्तित्व से उपन्यस्त नहीं होती। किन्तु ज्यों-ज्यों उसमें सरूपता का अंश बढ़ने लगता है, त्यों-त्यों वह परिस्थित्यनुरूप विचारात्मक भाव-नात्मक अथवा इच्छात्मक बन जाती है। मूलतः कोई भी वृत्ति केवल विचारात्मक, केवल भावनात्मक, केवल इच्छात्मक नहीं होती। ये रूप तो हमारी वृत्ति बहुत बाद धारण करती है तब जब कि अरूप सत्ता की शक्ति ग्रहण करके वह अपने व्यक्तित्व द्वारा उसका रूपान्तर करती जाती है।

यदि ऐसा है तो विचार, भावना और इच्छा मूल सत्ता में अलग-अलग न रहते हुए, अपने सारभूत अंश में विद्यमान रहते हैं। "नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः" इस न्याय से जो बात रूप में अभिव्यक्त होती है, उसका सार सत्ता में होना ही

चाहिये। इस बात की पुष्टि एक तो इस बात से होती है कि हमारा विचार सर्वथा निष्क्रिय नहीं होता और न हमारी इच्छा ही सर्वथा विचारशून्य ज्ञान निष्क्रिय होकर ही संपादित किया जा सकता होता, तो वैज्ञानिक व्यर्थ ही *प्रयत्न* करते हैं। इसके विपरीत, यदि इच्छा सर्वथा विचार-शून्य हो तो महात्मा गांधी ही को इतना महत्त्व क्यों दिया जाता, पागल को क्यों नहीं ? ये बातें स्पष्टतया बतलाती हैं कि ज्ञान में भी क्रिया होती है और इच्छा में भी विचार होता है। इस प्रकार प्रत्येक रूप में, मन की विचार, भावना, इच्छा जैसी वृत्तियाँ न्यूनाधिक प्रमाण में एकत्र ही मिलती हैं। अब प्रत्येक रूप में इन प्रवृत्तियों का एक समय ही अंतर्भाव होना यह बतलाता है कि रूप जिस सत्ता से अपना अस्तित्व ग्रहण करता है उसी से वह अपनी विचार-भावना-इच्छात्मिका वृत्ति भी प्राप्त करता है। किन्तु सत्ता में वे अनभिव्यक्त सार अंश में विद्यमान रहती हैं। उनका पृथक्त्व तो सत्ता के रूपान्तरित होने के पश्चात् विशिष्ट परिस्थिति में विचार-भावना-इच्छा में से किसी एक को अधिक महत्त्व मिल जाने से होता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि रूप और सत्ता ये दो भिन्न अस्तित्व नहीं हैं। किन्तु वे अन्ततोगत्वा अनन्य हैं। सत्ता रूप ही है किन्तु अनभिव्यक्त, और रूप ही सत्ता है, किन्तु अभिव्यक्त।

अब जो सत्ता ज्ञान-भावना-इच्छा की जननी है वह सदैव चैतन्य और जीवंत है। हम अनुभव करते हैं कि हमारी ज्ञान-भावना-इच्छा-विषयक वृत्तियों में निरन्तर हा स्वतःस्फूर्त, सृजन-

शील शक्ति का अन्तर्भाव होता है। ऐसी शक्ति के अभाव में इन वृत्तियों में से एक भी अपना अस्तित्व नहीं रख सकती। इच्छा में तो स्वतःस्फूर्ति के हमें पद-पद पर दर्शन होते हैं। स्वतःस्फूर्त क्रिया के बिना हम अपने इच्छित ध्येय की ओर ही किस प्रकार बढ़ सकते होते? अब चूँकि ज्ञान और भावना, जैसा कि हमने ऊपर बतलाया है, इच्छा से पृथक् नहीं रहते, अतः उनमें भी ऐसी ही स्वतःस्फूर्त क्रिया का अन्तर्भाव होना क्रम प्राप्त है। उदाहरणार्थ ज्ञान और भावना दोनों में हमारी आत्मा को क्रमशः सत्य और सौन्दर्य-विषयक ध्येयों की ओर अपनी प्रवृत्ति बतलानी पड़ती है। यह प्रवृत्ति तब तक साध्य नहीं है जब तक आत्मा में आत्मनिश्चय की, अथवा दूसरे शब्दों में, अपने बल पर ही सत्य और सुन्दर को प्राप्त करने की शक्ति न हो। इस प्रकार हमारी समस्त आध्यात्मिक वृत्तियाँ स्वतःस्फूर्त शक्ति की अपेक्षा रखती हैं।

अब हमारे आध्यात्मिक रूपों के अन्दर इस प्रकार की स्वतः-स्फूर्त शक्ति का अन्तर्भाव उस सत्ता ही के कारण है जो अपने आप क्षण-क्षण नव-नव रूपों की सृष्टि करती है। सत्ता में सृष्टि की संभावना किसी बाह्य प्रेरणा से नहीं हो सकती। यदि सत्ता किसी बाह्य प्रेरणा से प्रवर्तमान होती, तो उसकी क्रिया का धर्म परिगण-नीय हो जाता। गगन-मण्डल में जो तारे घूमते हैं उनकी गति परिगणनीय है। क्यों? इसलिए कि वे स्वतःस्फूर्त क्रिया से प्रवृत्त नहीं बल्कि बाह्य जड़ शक्तियों द्वारा परिचालित हैं। उदाहरणार्थ,

हम एक पत्थर को विशिष्ट दिशा में, विशिष्ट काल के अन्दर, किसी परिगणनीय गति द्वारा फेंक सकते हैं। यह बात इसलिए साध्य होती है, कि पत्थर की जड़ता में सृजनशीलता का सर्वथा अभाव है। अतः वह बाह्य शक्ति का अपने अस्तित्व द्वारा विरोध करने में अक्षम है। इसीलिए, उसकी गति परिगणनीय हो जाती है। किन्तु सत्ता की गति अपरिगणनीय है। हम यह नहीं कह सकते कि सत्ता दूसरे क्षण में कौन-सा रूप धारण करेगी। एक गायक जब गाना शुरू करता है, तब हमारे लिए यह कहना असंभव हो जाता है कि एक तान के पश्चात् वह कौनसी तान मारेगा। संगीत-शास्त्र-वेत्ता गायक के भाव में प्रविष्ट होकर जरूर कभी-कभी यह अन्दाज लगा सकते हैं कि विशिष्ट संदर्भ में तान को रूपरेखा अमुक होगी। किन्तु वे यह निश्चित नहीं कह सकते कि अमुक समय अमुक गायक अमुक तान मारेगा ही। यदि ऐसा होता तो गायन का रस ही चला जाता। क्योंकि गायक विवक्षित स्वरों के आरोहावरोह में रचना-विषयक जो नव-नवोन्मेष बतलाता है वह अपरिगणनीय है। कभी-कभी तो कलाकार की स्फूर्ति उसे स्वयं उसके द्वारा परिकल्पित योजना के विरुद्ध नये-नये रूपों की रचना की ओर ले जाती है। इस प्रकार सत्ता की क्रिया निरन्तर अपरि-गणनीय, निरन्तर अननुभूतपूर्व, स्वतःस्फूर्त सृजन है। इसको ही दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि सत्ता चिरजाग्रत् चैतन्य है।

इस अध्याय में हमने सर्वप्रथम यह बतलाने का प्रयत्न किया

है कि दार्शनिक की समस्या रूपों की विविधता में एक ऐसे सत्ता-विषयक तत्त्व को खोजना है जो रूपों को एकता प्रदान करने के साथ-साथ ही उनकी सृष्टि भी कर सके। ऐसा तत्त्व हमें रूपराशि में नहीं मिल सकता। क्योंकि, रूप जड़ होते हैं। अतः उनमें सृजनशीलता का अभाव होता है।

इसके पश्चात् हमने बतलाया कि सत्ता का प्रगाढ़ परिचय प्राप्त करने का केन्द्र है हमारा अपना अस्तित्व। अन्तर्वीक्षण द्वारा हम अनुभव करते हैं कि हमारे सरूप विचार, भावना और इच्छाओं की जड़ में हमें एक ऐसी क्रिया का आभास मिलता है जो अरूप, असंवेद्य, सृजनशील, स्वतःस्फूर्त और चेतन है। यह क्रिया इच्छा नहीं है। क्योंकि इच्छा बाह्य ध्येयानुवर्तिनी होती है। इसके विपरीत, सत्ता सर्वथा ध्येयहीन है। उसका व्यवसाय तो निरन्तर अपने आपको नये-नये रूपों में अभिव्यक्त करना है।

अब अगले अध्याय में, हम स्पिनोझा, शंकर और बेर्गसों द्वारा पुरस्कृत सत्ता के स्वरूपों का विवेचन करेंगे और यह देखेंगे कि प्रस्तुत अध्याय में पुरस्कृत सत्ता का स्वरूप उपर्युक्त दार्शनिकों द्वारा दिये गए सत्ता के स्वरूपों की तुलना में दार्शनिक समस्या को सुलझाने में कहाँ तक हमारी सहायता कर सकता है?

अरूप का रूप-प्रणयन

पिछले अध्याय में हमने यह बतलाने का प्रयत्न किया है कि सत्ता स्वयं अरूप है। किन्तु वह जीवंत और चेतन है। अर्थात् उसमें स्वतःस्फूर्त शक्ति है जिसके द्वारा वह निरन्तर अपने आपको नव-नव रूपों में अभिव्यक्त करती है। सत्ता की इसी क्रिया को हम रूप-प्रणयन कहेंगे।

हमारे मत में, सत्ता की रूप-प्रणयन की क्रिया कार्य-कारण की कल्पना से बिलकुल भिन्न है। रूप-प्रणयन में अरूप सत्ता अपना रूपान्तर करके रूपों की सृष्टि करती है। कार्य-कारण सम्बन्ध में हम प्रायः यह मानते हैं कि कारण कार्य की सृष्टि करता है। किन्तु यदि हम कार्य-कारण-सम्बन्ध को अधिक विश्लेषण करके देखें, तो हम संभवतः इस निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि कार्य-कारण में उत्पादन की भावना न होते हुए रूपों का पारस्परिक क्रिया और प्रतिक्रिया द्वारा सन्निधान (adjustment) लक्षित रहता है।

ह्यूम ने अपने *Treatise on Human Nature* में कार्य-कारण-सम्बन्ध की बहुत ही स्पष्ट मीमांसा की है। कार्य-कारण-सम्बन्ध में कौन-सी भावनाएँ अपेक्षित होती हैं यह बात ह्यूम के निम्नलिखित उद्धरण को पढ़कर हम अच्छी तरह समझ सकेंगेः—

> "The idea then of causation must be derived from some *relation* among objects; and that relation

we must now endeavour to discover. I find in the first place, that whatever objects are considered as causes or effects, are contiguous; and that nothing can co-operate in a time or place, which is ever so little removed from those of its existence. Though distant objects may sometimes seem productive of each other, they are commonly found upon examination to be linked by a chain of causes, which are contiguous among themselves, and to the distant objects; and when in particular instance we cannot discover this connection, we still presume it to exist. We may therefore consider the relation of *contiguity* as essential to that of causation."

"The second relation I shall observe as essential to causes and effects, is not so universally acknowledged, but is liable to some controversy. It is that of priority of time in the cause before the effect........ It is an established maxim, both in natural and moral philosophy, that an object, which exists for any time in its full perfection without producing another, is not its sole cause; but is assisted by some other principle which pushes it from its state of inactivity and makes it exert that energy, of which it was secretly possessed".......

"Shall we then rest contented with these two relations of contiguity and succession as affording a complete idea of causation ? By no means. An object may be contiguous and prior to another, without being considered as its cause. There is a *necessary connexion* to be taken into consideration and that relation is

of much greater importance than any of the other two above mentioned."[1]

उपर्युक्त उद्धरण से पता लगता है कि कार्य-कारण-सम्बन्ध में तीन भावनाएँ अंतर्हित रहती हैं। पहिली है कार्य-कारण-विषयक पदार्थों का सन्निकर्ष; दूसरी है उनका अनुक्रम; और तीसरी है उनकी नियति। सन्निकर्ष द्वारा यह अपेक्षित है कि जिन वस्तुओं में कार्य-कारण का सीधा सम्बन्ध होता है वे एक दूसरे के पास हों। जो वस्तुएँ जितनी ही दूर होंगी उनमें परस्पर क्रिया और प्रतिक्रिया की संभावना घटती जायगी। अब क्रिया और प्रतिक्रिया की तीव्रता अधिक से अधिक मात्रा में उन्हीं पदार्थों में मिल सकती है, जो एक दूसरे के बिलकुल पास हों।

इसके बाद कार्य-कारण-सम्बन्ध में संबद्ध वस्तुओं का अनुक्रम भी अनिवार्य है। इसका कारण यह है कि जब दो पदार्थों में किसी प्रकार की प्रतिक्रिया प्रारम्भ होती है, तब उस क्रिया के परिणाम-स्वरूप पदार्थों में जो परिवर्तन होता है वह उस प्रतिक्रिया के पहिले नहीं हो सकता जिसके कारण उसकी शुरूवात हुई। अतः कार्य-कारण-सम्बन्ध में प्रतिक्रिया के पश्चात् ही संबद्ध पदार्थों में परिवर्तन अथवा कार्य-परिणति का होना स्वाभाविक है।

कार्य-कारण-सम्बन्ध-विषयक तीसरी बात बड़ी महत्त्वपूर्ण है। वह यह कि जिन पदार्थों में कार्य-कारण-सम्बन्ध की संभावना पाई जाती है उनमें एक बार विशिष्ट प्रतिक्रिया प्रारंभ होने पर उसका

---

[1] *Treatise of Human Nature*, (III, ii)

परिणाम किन्हीं प्रतिरोधी शक्तियों के अभाव में विशिष्ट कार्यरूप में व्यक्त होना अनिवार्य है। इस नियम के लिये कोई अपवाद हो नहीं सकता। दूसरे शब्दों में विशिष्ट प्रतिक्रिया के लिये विशिष्ट कार्य नियत है। भौतिक विज्ञान का आधारभूत नियम *Law of Conservation of Energy* कार्य-कारण-सम्बन्ध की नियति पर अधिष्ठित है। इस नियम द्वारा यह माना जाता है कि जब दो पदार्थों में प्रतिक्रिया होने लगती है तब वे दोनों अपनी-अपनी शक्ति का उपयोग करते हैं। कोई भी पदार्थ अपने व्यक्तित्व को आसानी से नहीं छोड़ता। यथासंभव वह उसके अस्तित्व पर आघात पहुँचानेवाली शक्ति का प्रतिरोध करता है। आक्रामक शक्ति जितनी तीव्र होगी उतनी ही तीव्रता आक्रान्त पदार्थ उसके प्रतिरोध करने में लाता है। अब, इस प्रकार की प्रतिक्रिया से जो-जो परिवर्तन घटित होते हैं, उनमें क्रिया और प्रतिक्रिया परस्पर विरोधी किन्तु तुल्यबल होती हैं। यहाँ तक कि हम वैज्ञानिक पद्धति द्वारा इन क्रिया और प्रतिक्रिया के परिणामों को गणितीय सूत्रों में व्यक्त कर सकते हैं। विज्ञान की समस्त भित्ति कार्य-कारण के इस समीकरण (Equrivalence of cause and effect) पर अधिष्ठित।

कई दार्शनिकों ने विज्ञान के कार्य-कारण-तत्त्व की बड़ी कड़ी आलोचना की है। ह्यूम ने उसे मन की एक कल्पना बतलाकर निरर्थक सिद्ध किया है। समसामयिक अभिनव-स्वातन्त्र्यवाद ने कार्य-कारण की कल्पना पर जबर्दस्त कुठाराघात किया है। मार्क्स

ने तो अपनी अनुभवालोचना द्वारा यह बतलाने का बीड़ा ही उठाया था कि विज्ञान के सारे तत्त्व प्रतीकमात्र हैं। उनमें किसी प्रकार की वास्तविकता नहीं है। अभिनव-स्वातन्त्र्यवाद के सारे दार्शनिक इस बात का मुक्तकंठ से समर्थन करते हैं।

वस्तुत:, कार्य-कारण-तत्त्व तो हमारे दैनंदिन अनुभव का विषय है। बाह्य जगत् में पदार्थों की पारस्परिक प्रतिक्रिया के परिणाम-स्वरूप संप्राप्त परिवर्तन अथवा कार्य-कारण-तत्त्व को लेकर विज्ञान ने भौतिक जगत्-विषयक जितने भी अनुसंधान किये हैं, उनकी सत्यता को नज़रंदाज़ करने की चेष्टा करना इस युग में मूढ़ता होगी। विज्ञान ने हमारे जीवन में अत्यधिक स्थान पा लिया है। जिन उपकरणों द्वारा वर्तमान सभ्य समाज जी रहा है, उन्हें अवास्तविक कदापि नहीं माना जा सकता।

आगे चलकर हम यह बतलायेंगे कि विज्ञान का जगत् सत्ता का ही एक रूप-विन्यास है। उसमें किसी प्रकार की असंगति अथवा अवास्तविकता नहीं है। अपने जगत् में विज्ञान सर्वश्रेष्ठ है। अत: उस जगत् में, उसके समस्त तत्त्वों का जिनमें कार्य-कारण-तत्त्व भी समाविष्ट है—उपयोग सर्वथा न्याय्य और अपरिहार्य है।

किन्तु यहाँ यह बात समझ लेना महत्त्वपूर्ण है कि अपने क्षेत्र के बाहर विज्ञान के तत्त्वों का प्रयोग अनर्थकारी होगा। जहाँ तक रूपों के बाह्य कलेवर का सम्बन्ध है, वहाँ तक विज्ञान के सारे तत्त्व उपयुक्त हैं। किन्तु ज्योंही हम उन्हीं तत्त्वों

से अन्तर्जगत् एवं सत्ता-विषयक समस्याओं को हल करने की चेष्टा करते हैं, त्योंही हमारी उलझनें अधिकाधिक बढ़ती ही जायेंगी। चूँकि हमारा प्रस्तुत अ याय में सत्ताविषयक समस्या से सम्बन्ध है, अतः कार्य-कारण-तत्त्व द्वारा इस समस्या को हल करने के समस्त प्रयत्न किस प्रकार विफल हुए यह बतलाना अनु-पयुक्त न होगा।

सत्ता-विषयक समस्या के हल में स्पिनोझा ने कार्य-कारण-सम्बन्ध का बड़ी प्रचुरता के साथ उपयोग किया है। स्पिनोझा अपने सत्ता-विषयक तत्त्व Substance की व्याख्या करते हुए कहता है कि वह तत्त्व ऐसा है कि "जो अपने ही बल पर स्थित हो सके और जो अपने ही द्वारा परिकल्पित हो; दूसरे शब्दों में, उसकी कल्पना करने के लिये हमें किसी अन्य कल्पना की आव-श्यकता नहीं होती।"[२] यह परमात्माधिष्ठान अनन्त, अविभाज्य, चिरंतन, मुक्त, स्वयंभू (Causa suin) एवं जगत् की वस्तुजात का कारण (Causa omnium rerum) है। उसके अनन्त-धर्म, अनन्त गुण होते हैं, जिनमें से दो, विचार और विस्तार, मानव बुद्धि के द्वारा जाने जा सकते हैं।

यहाँ तक तो कोई कठिनाई नहीं है। स्पिनोझा के दर्शन में कठिनाई तब मालूम पड़ती है जब वह परमाधिष्ठान से वस्तुजात की ओर संक्रमण करता है। इस सम्बन्ध में सर्वप्रथम स्पिनोझा परमाधिष्ठान को "अनन्त गुणों से" उपन्यस्त करता है। स्पिनोझा

---

[२] *Ethics*, i. Def. 3. Eng. Tr, by W. Hale White.

कहता है कि "गुणों से मेरा आशय उस वस्तु से है जिसे बुद्धि परमाधिष्ठान का सार मानती है।"[3] अब यहाँ मनोरंजक बात यह है कि यद्यपि अनन्त गुणों में से प्रत्येक परमाधिष्ठान का चिरंतन और अविकल सार व्यक्त करता है, तथापि ये गुण स्वयं परमाधिष्ठान द्वारा विनिश्चित नहीं हैं। इसके विपरीत वे *मानव-बुद्धि* द्वारा विनिश्चित हैं। यह सत्य है कि परमाधिष्ठान के अनन्त गुणों में से हम दो को—यानी विचार और विस्तार ही को जान सकते हैं, तथापि इससे यह बात अप्रमाणित नहीं होती कि गुण बुद्धि द्वारा विनिश्चित होते हैं।

अब जैसा कि केयर्ड ने बतलाया है, गुणों के लिये मानव बुद्धि का सहारा लेना हमें आत्माश्रय हेत्वाभास (Petitio principii) की ओर ले जाता है। "स्पिनोझा के गुण सिद्धान्त की एक स्पष्ट आलोचना तो यह है कि जिसे वह सिद्ध करना चाहता है उसे ही वह मान लेता है। गुण की व्याख्या है 'वह जिसे बुद्धि उसका (अर्थात् परमाधिष्ठान का) सार समझती है।' किन्तु मानव-बुद्धि तो अपने आप में एक 'वस्तु' (mode) अथवा परमाधिष्ठान के गुणों का परिवर्तन मात्र है। अतः गुणों का अस्तित्व केवल उसी के द्वारा परिकल्पनीय है जो उनमें से किसी एक का परिवर्तन है।"[४]

इससे हम आसानी से समझ सकते हैं कि स्पिनोझा का परमाधिष्ठान से वस्तुजात की ओर संक्रमण करने का प्रथम प्रयास

---

३ *Ethics*, i, Def. 4

४ *Spinoza*. Blackwood's Philosophical Classics, p. 151

असंगतियों से भरा है। विनिश्चित गुण परमाधिष्ठान की स्वतः-स्फूर्ति के परिणाम नहीं हैं। किन्तु वे परमाधिष्ठान में बाहर से अर्थात् मानव-बुद्धि द्वारा लाकर उपन्यस्त किये गये हैं।

तथापि, हमारे मत में, गुण सिद्धान्त की कमज़ोरी ही को स्पिनोझा के दर्शन का प्रत्याख्यान समझना अनुचित है। क्योंकि गुणों का सिद्धान्त तब भी हमें "अनन्तता" के जगत् में रखता है, यद्यपि इस विश्वास के लिये काफ़ी प्रमाण हैं कि गुणों की अनन्तता परमाधिष्ठान की अनन्तता जैसी नहीं है। परमाधिष्ठान की अनन्तता वास्तविक है, किन्तु गुणों की अनन्तता संख्या अथवा परिमाणवाचक है। इतना होने पर भी स्पिनोझा के दर्शन की हमारी मीमांसा तब तक अपूर्ण रहेगी, जब तक हम परमाधिष्ठान से "विकल वस्तुओं" (finite things) की ओर संक्रमण करने की दूसरी युक्ति की जाँच न कर लें।

स्पिनोझा कहता है कि "वस्तु से मेरा आशय परमाधिष्ठान के उन परिणामों से है अथवा उससे है जो किसी अन्य वस्तु द्वारा पहिचाना जा सके।"[५] जग की "वैयक्तिक वस्तुएँ" (res particulares) और कुछ नहीं किन्तु ईश्वर के गुणों के परिणाम अथवा परिवर्तन हैं, जो उन्हीं गुणों को विशिष्ट और विनिश्चित प्रकार से व्यक्त करती हैं।"[६] यहाँ स्पिनोझा वस्तुओं को स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं देता किन्तु उन्हें पूर्णतया परमाधिष्ठान

---

५ *Ethics*, I. 5

६ *Ethics* II. 25 corrolary.

पर आश्रित मानता है। अब प्रश्न है कि परमाधिष्ठान पर वस्तुएँ किस प्रकार आश्रित हैं ? इसको बतलाने के लिये, स्पिनोझा कार्य-कारण-सम्बन्ध का सहारा लेता है। स्पिनोझा का कथन है, "ईश्वर वस्तुओं के अस्तित्व का ही नहीं किन्तु उनके सार का (essence) भी निमित्त कारण (efficient cause) है।"[७]

अब कार्य-कारण-सम्बन्ध जैसा कि केअर्ड कहता है, "केवल वस्तुओं से सम्बन्ध रखनेवाला तत्त्व है।" वह सम्बन्ध दो ऐसे पदार्थों में ही हो सकता है जो सजातीय होते हैं। इन दोनों पदार्थों को जड़ अथवा सरूप होने की आवश्यकता है। अन्यथा, उनमें पारस्परिक प्रतिक्रिया नहीं हो सकती। अब उस प्रकार का सम्बन्ध परमाधिष्ठान एवं वस्तुओं में नहीं हो सकता। यदि परमाधिष्ठान वस्तुओं को उनसे प्रतिक्रिया द्वारा उत्पन्न करता है तो हम वस्तुओं के अस्तित्व की कोई व्याख्या न देते हुए उसको पहले ही मान लेते हैं।

पुनश्च, इस प्रकार के सम्बन्ध में प्रतिक्रियमाण पदार्थों का व्यक्तित्व भी स्वतन्त्र होना चाहिये। व्यक्त और अव्यक्त में किसी प्रकार की प्रतिक्रिया होना असम्भव है। अब स्पिनोझा वस्तु की उपर्युक्त व्याख्या में अवश्य यह कहता है कि वस्तुएँ परमाधिष्ठान से पृथक् नहीं रह सकतीं। वे सर्वथा उस पर आश्रित हैं। किन्तु स्पिनोझा के *Ethics* में हमें ऐसे भी कई अंश मिलते हैं जिनमें यह स्पष्ट ध्वनित है कि प्रत्येक वस्तु में अपना स्वतन्त्र अस्तित्व

---

७ *Ethics*, I, 25

कायम रखने की शक्ति है। उसका कथन है कि वस्तु, "अंशतः निषेधात्मक है (expartenegatio)।" अथवा, दूसरे शब्दों में, वह परमाधिष्ठान पर अवलंबित होकर अपना अस्तित्व सर्वथा खो नहीं देती। उसमें अस्तित्व का कुछ तो भी अंश ऐसा है जिसका सर्वथा निषेध नहीं किया जा सकता। किन्तु जब हम अपनी जाँच को और भी आगे बढ़ाते हैं और यह देखने का प्रयत्न करते हैं कि वस्तु में कौनसा स्वतन्त्र अस्तित्व है, तब उस पर स्पिनोझा का यह उत्तर मिलता है : "प्रत्येक वस्तु में एक ऐसा प्रयत्न अंतर्हित है जिसके द्वारा वह अपने अस्तित्व की रक्षा करती है।" और यह आत्म-निर्वाहक-प्रवृत्ति "स्वयं वस्तु के वास्तविक सार के अतिरिक्त और कुछ नहीं।" किन्तु यदि, स्पिनोझा के अनुसार हम वस्तुओं को अपने अस्तित्व के लिये ईश्वर पर अवलंबित मानें, तो उनमें ईश्वर के द्वारा अविनिश्चित अपने अस्तित्व को सुरक्षित रखने की प्रवृत्ति कहाँ से आती है? इस प्रश्न का स्पिनोझा कोई उत्तर नहीं देता।

किन्तु स्पिनोझा के दर्शन में वस्तुएँ स्वतन्त्र अस्तित्व रखती हैं : इस बात को प्रमाणित करने के लिये एक और भी दलील दी जा सकती है। हमें स्मरण रखना चाहिये कि स्पिनोझा का दर्शन नीति की एक प्रस्तावना मात्र है। वस्तुतः उसकी पुस्तक का नाम भी *Ethics* ही है। नीति ही वह चरम ध्येय था जिसकी ओर स्पिनोझा का सारा ध्यान लगा हुआ था। दर्शन तो उसकी नीति-विषयक धारणा के लिये सहायक मात्र था। अतः हमें उपर्युक्त

रहस्यमयी समस्याओं को उसकी नीति विषयक धारणा ही से हल करना चाहिये।

अब हम यदि स्पिनोझा के दर्शन को सर्वेश्वरवाद Pantheism कहें तो हम वैयक्तिक वस्तुओं को किसी प्रकार की स्वतन्त्र सत्ता नहीं दे सकते। किन्तु सत्ता के अपहार के पश्चात् सारी वस्तुएँ एक ही जैसी हो जाती हैं। उनमें किसी प्रकार का तारतम्यात्मक (qualitative) अंतर नहीं रह सकता। उनमें उच्च-नीचता का अच्छे-बुरेपन का सर्वथा अभाव हो जायगा। किन्तु ऐसा करने से नीति का आधार ही नष्ट हो जाता है। नीति में तो तारतम्यात्मक अन्तर अपेक्षित है। यदि संसार में अच्छाई और बुराई न हो तो नीति की सारी इमारत ही फिसल जायगी। तब यह कहना निरर्थक होगा कि मनुष्य मुक्ति (freedom), मोक्ष (Salvation) अथवा परमानन्द (Blessedness) की सर्वोच्च स्थिति निम्न परिस्थितियों को पार करके ही प्राप्त कर सकता है। इस प्रकार सर्वेश्वरवाद नीति के लिये विघातक है।

इन सब बातों से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि स्पिनोझा सर्वेश्वरवादी नहीं है। दूसरे शब्दों में वह वस्तुओं को परमाधिष्ठान के व्यतिरिक्त स्वतन्त्र अस्तित्व प्रदान करता है। किन्तु यह बात उसकी वस्तु की (उस) व्याख्या से असंगत है जिसमें वह वस्तु को ईश्वराश्रित मानता है।

स्पिनोझा की असंगति का मुख्य कारण यह है कि वह परमाधिष्ठान और वस्तुओं के बीच कार्य-कारण-सम्बन्ध का अस्तित्व

मानता है। कार्य-कारण-सम्बन्ध में, जैसा कि हम ऊपर बतला चुके हैं, संबद्ध पदार्थों की सजातीयता अपेक्षित है। दो विजातीय पदार्थों में, जैसे जड़ और चेतन, सरूप और अरूप में कार्य-कारण-सम्बन्ध की सम्भावना नहीं हो सकती। अब स्पिनोभा का परमाधिष्ठान, जैसा कि स्पिनोभा स्वयं कहता है, गुणों से उपन्यस्त है। और ये गुण हमारी बुद्धि द्वारा अधिगम्य हैं। ऐसी अवस्था में, परिमाधिष्ठान सरूप (concrete) बन जाता है। किन्तु, जैसा कि हम पिछले अध्याय में बतला चुके हैं, जो सरूप है उसमें सृजनशीलता का सर्वथा अभाव होता है। उसका प्रत्यक्ष निदर्शन हमें स्पिनोभा की परमाधिष्ठान के सिद्धान्त में मिलता है। परमाधिष्ठान वस्तुओं से सजातीय है। अतः उनमें कार्य-कारण सम्बन्ध की स्थापना हो सकी। किन्तु इस सम्बन्ध से सत्ता-विषयक समस्या में उलझन पड़ गई। यह समस्या तब तक हल नहीं हो सकती जब तक सत्ता-विषयक तत्त्व को वस्तुजात का उत्पादक न बतलाया जाय। स्पिनोभा का परमाधिष्ठान सरूप होने के कारण वस्तुओं से प्रतिक्रिया कर सकता है, उन्हें उत्पन्न नहीं कर सकता। स्वयं स्पिनोभा ने इस बात का अनुभव किया है। अतः वह कहता है, ईश्वर वस्तुजात का अंतरस्थ (immanent) कारण है, न कि बाह्य (transitive) कारण।" इस कथन द्वारा स्पिनोभा हमें बतलाता है कि सत्ता और जगत् में जो सम्बन्ध है वह साधारण कार्य-कारण के क्रिया के कारण सरूप पदार्थों के बीच होनेवाले प्रतिक्रियात्मक सम्बन्ध के अनुसार बाह्य नहीं है।

इसके विपरीत उनका सम्बन्ध immanent अथवा अंतरस्थ है।

अब परमाधिष्ठान एवं वस्तुओं के बीच अंतरस्थ सम्बन्ध की कल्पना द्वारा, स्पिनोझा सत्य के बिलकुल निकट पहुँचा है। वस्तुतः रूप-प्रणयन की कल्पना द्वारा हम भी सत्ता और वस्तुओं में ऐसे ही एक आन्तरिक सम्बन्ध की स्थापना करना चाहते हैं। किन्तु कार्य-कारण-सम्बन्ध द्वारा परिकल्पित परमाधिष्ठान की सरूपता का स्पिनोझा के मस्तिष्क पर इतना अधिक प्रभुत्व था कि वह परमाधिष्ठान एवं वस्तुओं में किसी प्रकार के आन्तरिक सम्बन्ध की स्थापना करने में सफल न हो सका।

इस प्रकार हम देखते हैं कि परमाधिष्ठान से वस्तुजात की ओर संक्रमण करने की स्पिनोझा की दूसरी युक्ति भी असन्तोष-प्रद रही। इसका कारण यही है कि स्पिनोझा परमाधिष्ठान को सरूप, अतः अचल मानता है। परमाधिष्ठान में सबका *समावेश* होता है, किन्तु वह अपने से किसी को भी *निर्माण* नहीं कर सकता। फलतः एकत्व बहुत्व को निगल जाता है और एकत्व भी बहुत्व को निगलकर अपने आपको नष्ट कर देता है।

तत्त्व-चिन्ता के इतिहास में भारतीय वेदान्त-दर्शन ही ने सत्ता की अरूपता का बड़ी दृढ़ता के साथ प्रतिपादन किया है। किन्तु इस दर्शन में भी सत्ता और जगत् के सम्बन्ध को कार्य-कारण-तत्त्व द्वारा ही समझाने की कोशिश की गई है। अब कार्य-कारण-सम्बन्ध तो सरूप पदार्थों तक ही सीमित है। यह बात वेदांत के

दार्शनिक अच्छी प्रकार समझते थे। अरूप ब्रह्म और सरूप जगत् में कार्य-कारण सम्बन्ध स्थापित करना असंभव है। अतः वेदान्तियों ने कार्य-कारण-सम्बन्ध की कल्पना को बदलकर ब्रह्म और जगत् के सम्बन्ध की व्याख्या करने का उपक्रम किया। किन्तु उसका परिणाम यह हुआ कि कार्य का कारण से अत्यंत विच्छेद हुआ। फलतः वेदांत के ब्रह्म और जगत् इन दोनों के बीच एक ऐसी गहरी खाई पड़ गई कि जिसे पार करना अत्यंत दुरूह समस्या हो गई। हम नीचे उसी बात को ब्रह्म-सूत्र शांकर-भाष्य द्वारा अधिक विशद करने की चेष्टा करेंगे।

ब्रह्मसूत्र की चतुस्सूत्री का दूसरा सूत्र यह है :

जन्माद्यस्य यतः।

इस सूत्र का अर्थ विशद करते हुए शंकराचार्य अपने भाष्य में लिखते हैं :—

> अस्य जगतो नामरूपाभ्यां व्याकृतस्यानेककर्तृभोक्तृसंयुक्तस्य प्रतिनियतदेशकालनिमित्तक्रियाफलाश्रयस्य मनसाप्यचिन्त्यरचना रूपस्य जन्मस्थितिभङ्गं यतः सर्वज्ञात्सर्वशक्तेः कारणाद्भवति तद्ब्रह्मेति······।

इस भाष्य में शंकराचार्य स्पष्ट रूप से ब्रह्म को जगत् का कारण मानते हैं। जगत् को शंकराचार्य सरूप मानते हैं। क्योंकि वह नाम-रूप से उपन्यस्त है और देश, काल, निमित्त, क्रिया एवं फल इनका आश्रय है। किन्तु ब्रह्म जो जगत् का कारण है वह उसके विपरीत है। ब्रह्म का स्वरूप बतलाते हुए शंकराचार्य कहते हैं:—

वाङ्मनसातीतं अविषयान्तःपाति प्रत्यगात्मभूतं नित्यशुद्धबुद्ध-मुक्तस्वभावं ब्रह्मेति[८]।

ब्रह्म का वाङ्मनसातीतत्व उसके अभाव का सूचक नहीं है किन्तु उसकी अरूपता का[९]।

अब प्रश्न है अरूप ब्रह्म सरूप जगत् का कारण किस प्रकार होता है ?

इस प्रश्न का उत्तर देते हुए शंकराचार्य सर्वप्रथम कार्य-कारण की प्रचलित कल्पना का स्वीकार करने से इंकार करते हैं। भारतीय दर्शन में कार्य-कारण-सम्बन्ध की दो कल्पनाएँ मुख्य हैं। न्यायदर्शन का असत्कार्यवाद और सांख्यदर्शन का सत्कार्यवाद। शंकराचार्य के अनुसार ये दोनों कल्पनाएँ सदोष हैं।

असत्कार्यवाद का शाब्दिक अर्थ है, वह वाद जो कारण में कार्य की प्रागवस्था का निषेध करता है। नैयायिक इस कल्पना से केवल यह अर्थ लेते हैं कि जब कोई कारण किसी कार्य को उत्पन्न करता है, तब जो उत्पन्न होता है वह सर्वथा अभूतपूर्व और नवीन होता है। दूसरे शब्दों में कार्य, सूक्ष्मरूप में भी, कारण में नहीं रहता। यहाँ यह समझ लेना आवश्यक है कि नैयायिक, बौद्धों की तरह, यह नहीं मानते कि कार्य किसी शून्य से उत्पन्न होता है (असतो सज्जायेत)। यह तो असम्भव-सी बात है।

---

[८] *शारीरक भाष्य* ३। २। २२

[९] वाङ्मनसातीतत्वमपि ब्रह्मणो नाभावाभि प्रायेणाभिधीयते। *शारीरक भाष्य* ३। २। २२

न्याय का कथन केवल इतना ही है कि हमें अनुभव द्वारा प्रतीत होता है कि जब कोई कार्य उत्पन्न होता है तब उसके लिये उससे भिन्न कोई कारण होना आवश्यक है।

शंकराचार्य इस वाद का उन्हीं दलीलों को पेश करके खंडन करते हैं जिनके द्वारा सांख्य ने अपने सत्कार्यवाद को प्रतिपादित किया है। शंकराचार्य कहते हैं कि व्यक्त होने से पूर्व कार्य अव्यक्त रूप से कारण में उपस्थित रहता है। क्योंकि केवल समान वस्तुओं से ही समान वस्तुओं का प्रादुर्भाव होता है[१०]। पुनः कोई भी वस्तु उस कार्य को उत्पन्न नहीं कर सकती जो उसमें पहिले ही से विद्यमान नहीं होती। बालू से तेल नहीं निकाला जा सकता[११]। अतः न्यायदर्शन का यह कथन कि कार्य सर्वथा नवीन होता है, निरर्थक है।

तत्पश्चात् शंकराचार्य सांख्य के सत्कार्यवाद का भी खंडन करते हैं। 'सत्कार्यवाद' का अर्थ है कि अपनी अभिव्यक्ति के पूर्व कार्य कारण में सूक्ष्मरूप से विद्यमान रहता है। सांख्य के अनुसार कारण वह क्रिया है जो इस प्रकार अपना रूपान्तर

---

[१०] इतश्च कारणादनन्यत्वं कार्यस्य, यत्कारणं भाव एव कारणस्य कार्यमुपलभ्यते, नाभावे। तद्यथा सत्यां मृदि घट उपलभ्यते। सत्सु च सन्तुषु पटः। न च नियमे नान्यभावेऽन्यस्योपलब्धिर्दृष्टा। न ह्यश्वो गोरन्यः सन् गोर्भाव एवोपलभ्यते॥ — शा० भा० २। १। १५॥

[११] यच्च यदात्मना यत्र न वर्तते न तत्तत् उत्पद्यते, यथा सिकताभ्यस्तैलम्। तस्मात्प्रागुत्पत्तेरनन्यत्वादुत्पन्नमप्यनन्यदेव कारणात्कार्यमित्यवगम्यते॥ शा० भा० २। १। १६॥

करती है कि जिसके द्वारा कारण में अन्तर्हित कार्य व्यक्त हो जाय।

सत्कार्यवाद की कमजोरी बतलाते हुए शंकराचार्य हमारा ध्यान निम्न बातों की ओर खींचते हैं। सर्व प्रथम, कार्य, जो कि अवयवों से निर्मित एक अवयवी है, कारण में किस प्रकार रहता है? उसे या तो कारण में अपने सारे अवयवों के साथ रहना होगा अथवा विशिष्ट अवयवों के साथ। यदि कार्य अपने सारे अवयवों के साथ कारण में र्‌ता है, तो अवयवी की उपलब्धि नहीं होती, क्योंकि सारे अवयवों का इन्द्रिय-सन्निकर्ष अशक्य है। यदि कार्य अवयवशः कारण में विद्यमान रहता है तो हमें आरम्भिक अवयवों के अतिरिक्त अन्य अवयवों की कल्पना करनी होगी ताकि अवयवी आरम्भकावयवों में अपने समस्त अवयवों के साथ रह सके। किन्तु यह हमें अनवस्था की ओर ले जायगा। क्योंकि हमें निरन्तर ऐसे अवयवों की कल्पना करनी पड़ेगी जो कि अवयवी के उन-उन अवयवों के साथ समरस हो सकें।[12]

---

[12] कथं च कार्यमवयविद्रव्यं कारणेष्ववयवद्रव्येषु वर्तमानं वर्तते। किं समस्तेष्ववयवेषु वर्तेतोत प्रत्यवयवम्। यदि तावत्समस्तेषु वर्तेत ततोऽवयव्यनुपलब्धिः प्रसज्येत समस्तावयवसंनिकर्षस्याशक्यत्वात्। नहि बहुत्वं समस्तेष्वाश्रयेषु वर्तमानं व्यस्ताश्रयग्रहणेन गृह्यते। अथावयवशः समस्तेषु वर्तेत तदाप्यारंभकावयवव्यतिरेकेणावयविनोऽवयवाः कल्प्येरन् यैरारंभकेष्ववयवेष्ववयवशोऽवयवी वर्तेत कोशावयवव्यतिरिक्तैर्ह्यवयवैरसिः कोशं व्याप्नोति। अनवस्था चैवं प्रसज्येत। तेषु तेष्ववयवेषु वर्तयितुमन्येषामवयवानां कल्पनीयत्वात्॥ *शा० भा०* २।१।१८॥

इस प्रकार कार्य-कारण-सम्बन्ध सदोष है। क्योंकि न तो कार्य-कारण से एकदम ही भिन्न समझा जा सकता है और न वह उससे एकदम अभिन्न। ऐसी अवस्था में कार्यकारण की प्रचलित कल्पना द्वारा ब्रह्म और जगत् के सम्बन्ध की व्याख्या नहीं की जा सकती। क्योंकि ब्रह्म अरूप है और जगत् सरूप। अतः ब्रह्म और जगत् के स्वभावों में अत्यन्त भिन्नता है। इसीलिये वे कदापि अभिन्न नहीं हो सकते। अतः उन दोनों में कार्यकारण सम्बन्धी प्रचलित कल्पना का उपयोग नहीं किया जा सकता।

किन्तु शंकराचार्य ने ब्रह्म को, जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है, जगत् का कारण माना है। यह कैसे संभव है? इसके लिये शंकराचार्य हमें कार्यकारण की एक नई कल्पना देते हैं। यह कल्पना है विवर्तवाद। विवर्त किसी वस्तु की मिथ्या प्रतीति को कहते हैं। जब हम रज्जु के स्थान पर सर्प को देखते हैं, तब सर्प की मिथ्या प्रतीति रज्जु का विवर्त कहलाती है। अब किसी भी विवर्त के लिये अधिष्ठान अथवा आधार की आवश्यकता होती है। आधार के अभाव में प्रतीति का होना ही असम्भव है। यदि रज्जु ही न हो तो सर्प के आभास का कोई प्रयोजन ही नहीं रह जाता। अतः हम अधिष्ठान को उसकी मिथ्या प्रतीति का कारण कह सकते हैं।

किन्तु अधिष्ठान में और अन्य कारणों में अन्तर है। जब दूध से दही बन जाता है तब दूध का रूपांतर हो जाता है और वह दूध न रहकर दही बन जाता है। किन्तु विवर्त के अधिष्ठान

में किसी प्रकार का विकार उत्पन्न न होते हुए, हमें उसकी मिथ्या प्रतीति हो सकती है। सदानन्द ने अपने *वेदांतसार* में विकार और विवर्त के भेद को इस प्रकार विशद किया है:—

सतत्त्वतोऽन्यथाप्रथा विकार इत्युदीरितः ।
अतत्त्वतोऽन्यथाप्रथा विवर्त इत्युदीरितः ॥[13]

शंकराचार्य ने विवर्तवाद द्वारा कार्यकारण की कल्पना को एकदम बदल डाला। हम साधारणतया यह मानते हैं कि कारण अपना रूपांतर करके कार्य की उत्पत्ति करता है। किन्तु शंकराचार्य के अनुसार, कारण अपने स्वरूप का परित्याग किये बिना ही मिथ्या प्रतीति का कारण बन सकता है। उसी प्रकार, ब्रह्म भी अपने स्वरूप को ज्यों का त्यों कायम रखकर जगत् के मिथ्याभास का कारण बनता है। इस बात को शंकराचार्य कई दृष्टांतों द्वारा समझाते हैं। उनमें से कुछ यहाँ उद्धृत किये जाते हैं:

यथा स्वयंप्रसारितया मायया मायावी त्रिष्वपि कालेषु न संस्पृश्यते, अवस्तुत्वात्, एवं परमात्मापि संसारमायया न संस्पृश्यत इति। प्रबोध संप्रसारयोरनन्वागतत्वात्। एवमवस्थात्रयसाक्ष्येकोऽव्यभि-

---

[13] इस पर नृसिंह सरस्वती अपनी सुबोधिनी टीका में लिखते हैं:— "तत्र परिणामभावो नाम वस्तुनो यथार्थतः स्वस्वरूपं परित्यज्य स्वरूपान्तरापत्तिर्यथा दुग्धमेव स्वस्वरूपं परित्यज्य दध्याकारेण परिणमते। विवर्तभावस्तु वस्तुतः स्वरूपापरित्यागेन स्वरूपान्तरेण मिथ्याप्रतीतिर्यथा रज्जुः स्वस्वरूपापरित्यागेन सर्पाकारेण मिथ्या प्रतिभासते॥

चार्यैरवस्थात्रयेण व्यभिचारिणा न संस्पृश्यते। मायामात्रं ह्येतत्परमात्मनोऽवस्थात्रयात्मनावभासनं रज्ज्वा इव सर्पादिभावेनेति ॥[14]

अब, प्रश्न यह उठता है, यदि ब्रह्म एक है तो वह किसकी मिथ्या प्रतीति के कारण जगत् के बहुत्व में प्रतिभासित होता है ? इस पर शंकराचार्य का उत्तर है:—

न ह्यविद्याकल्पितेन रूपभेदेन सावयवं वस्तु सम्पद्यते। नहि तिमिरोपहतनयनानेक इव चन्द्रमा दृश्यमानोऽनेक एव भवति। अविद्याकल्पितेन च नामरूपलक्षणेन रूपभेदेन व्याकृताव्याकृतात्मकेन तत्त्वान्यत्वाभ्यामनिर्वचनीयेन ब्रह्म परिणामादिसर्वव्यवहारास्पदत्वं प्रतिपद्यते। पारमार्थिकेन च रूपेण सर्वव्यवहारातीतमपरिणतमवतिष्ठते। वाचारम्भणमात्रत्वाच्चाविद्याकल्पितस्य नामरूपभेदस्येति न निरवयवत्वं ब्रह्मणः कुप्यति ॥[15]

अविद्या जीव के अन्तःकरण में स्थित अज्ञान को कहते हैं। उसकी दो शक्तियाँ होती हैं: आवरण और विक्षेप।[16] आवरण शक्ति द्वारा अज्ञान सत्य वस्तु के स्वरूप को ढँक देता है। विक्षेप

---

[14] *शा० भा०* २।१।६॥

[15] *शा० भा०* २।१।२७॥

[16] "अस्याज्ञानस्यावरणविक्षेपकनामास्ति शक्तिद्वयम्। आवरणशक्तिस्तावदल्पोऽपि मेघोऽनेकयोजनायतमादित्यमण्डलमवलोकयितृनयनपथपिधायकतया यथाच्छादयतीव तथा ज्ञानं परिच्छिन्नमप्यात्मानमपरिच्छिन्नमसंसारिणमवलोकयितृबुद्धिपिधायकतयाच्छादयतीव तादृशं सामर्थ्यम्।...... विक्षेपशक्तिस्तु यथा रज्ज्वज्ञानं स्वावृतरज्जौ स्वशक्त्या सर्पादिमुद्भावयत्येवमज्ञानमपि स्वावृतात्मनि विक्षेपशक्त्याकाशादिप्रपंचमुद्भावयति तादृशं सामर्थ्यम्॥ *वेदांतसार* १०॥

शक्ति द्वारा वह आवृत्त अधिष्ठान के स्थान में उसकी किसी मिथ्या प्रतीति की सृष्टि करता है। हमारे अन्तःकरण में स्थित ब्रह्म-विषयक अज्ञान पहिले तो ब्रह्म को ढँक देता है। इसके फलस्वरूप हमें ब्रह्म के सत्स्वरूप की प्रतीति नहीं हो पाती। किन्तु अज्ञान का कार्य यहीं पर खत्म नहीं होता। वह ब्रह्म के स्थान में जगत् के नानात्व का सृजन करता है। कहना नहीं होगा कि अविद्या द्वारा प्रत्युपस्थापित यह जगत् कदापि सत् नहीं हो सकता। न वह असत् ही है। क्योंकि वह हमें प्रतीत होता है। वह तो सद्सदाभ्यामनिर्वचनीय कुछ तो भी है। उसको हम मिथ्या कह सकते हैं।

अब इस मिथ्या ज्ञान विजृंभित जगत् का तभी अंत हो सकता है जब कि हम सत्यज्ञान द्वारा हमारे अज्ञान का निरसन करें। यह तभी साध्य है जब कि हम साधना द्वारा पहिले ब्रह्मज्ञान के अधि-कारी बन जायँ।[17] एक बार ब्रह्मज्ञान हो जाने के बाद जगत् का मिथ्या अध्यास उसी प्रकार नष्ट हो जाता है जिस प्रकार रज्जु का ज्ञान होने पर सर्प का अध्यास। ब्रह्मज्ञान होने पर ही मनुष्य को मुक्ति प्राप्त होती है।[18]

---

[17] अधिकारी के लक्षण बतलाते हुए सदानन्द कहते हैं:—"अधि-कारी तु विधिवदधीत वेदवेदांगत्वेनापाततोऽधिगताखिलवेदार्थोऽस्मिन् जन्मनि जन्मान्तरे वा काम्यनिषिद्धवर्जनपुरःसरं नित्यनैमित्तिकप्रायश्चित्तोपासना-नुष्ठानेन निर्गतनिखिलकल्मषतया नितान्तनिर्मलस्वान्तः साधनचतुष्टय-सम्पन्नः प्रमाता ॥ *वेदांतसार* ४ ॥

[18] ब्रह्मावगतिर्हि पुरुषार्थः, निःशेषसंसारबीजाविद्याद्यनर्थनिबर्हणात् । तस्माद्ब्रह्म विजिज्ञासितव्यम् ॥ *शा० भा०* १ । १ । १ ॥

अब समस्त तत्त्व-चिंता में वेदान्त-दर्शन का यही सर्वोच्च महत्त्व है कि वह ब्रह्म को अरूप मानता है। उसका यह निश्चित मत है कि सत्तात्मक तत्त्व किन्हीं भी गुणों से उपन्यस्त नहीं किया जा सकता। गुणवान् पदार्थ सरूप हो जाता है और सरूप निरंतर अवच्छिन्न (finite) होता है। किन्तु सत्तात्मक तत्त्व निरवच्छिन्न होना चाहिये। इसके बिना वह जगत् का कारण नहीं बन सकता। इस बात को ध्यान में रखकर वेदांत-तत्त्वज्ञ ब्रह्म को किसी गुण से उपन्यस्त करने की क्रिया को सर्वथा हेय समझते हैं। और इसीलिये जब-जब उन्हें ब्रह्म के स्वरूप का बोध कराना होता है तब-तब प्रायः वे निषेधात्मक पद्धति का प्रयोग करते हैं। ब्रह्म को वे एक न कहते हुए अद्वैत कहते हैं। जब वे ब्रह्म को नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त सच्चिदानन्द रूप मानते हैं तब वे इन शब्दों को इसलिये उपयोग में लाते हैं कि ब्रह्म का स्वभाव असत्, अचित् , अनानंद रूप नहीं है। इस प्रकार अद्वैतवादियों का ब्रह्म सर्वथा अरूप है।

अब इस अरूप ब्रह्म से सरूप जगत् की सृष्टि किस प्रकार होती है ? इस प्रश्न का उत्तर अद्वैतवादी, जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है, अपने विवर्तवाद द्वारा देते हैं। विवर्तवाद के अनुसार अरूपब्रह्म जगत् का अधिष्ठान है। वह कूटस्थ, नित्य, विज्ञान धातु है। अर्थात् ब्रह्म स्वयं अविचल और निर्विकार रहता है। किन्तु जीव के अन्तःकरण में स्थित अज्ञान के कारण ब्रह्म का वास्तविक स्वरूप ढँक जाता है और उसके स्थान में, रज्जु के स्थान

में जिस प्रकार कभी-कभी सर्प का मिथ्या आभास दृष्टिगोचर होता है, उसी प्रकार जगत् का मिथ्या आभास प्रतीत होने लगता है। किन्तु इस मिथ्या आभास का कारण ब्रह्म ही है। क्योंकि उसके बिना इस प्रकार के आभास की प्रतीति का कोई प्रयोजन ही नहीं रह जाता।

उपर्युक्त विचारधारा हमें सदोष प्रतीत होती है। सबसे पहिले, जैसा कि हम बतला चुके हैं, अद्वैतवादी विवर्तवाद का आश्रय इसलिए लेते हैं कि वे अरूप का सरूप के साथ साधारण कार्यकारण-तत्त्व द्वारा सम्बन्ध-स्थापन नहीं कर सकते। शंकराचार्य ने स्पष्ट कहा है कि "सतोर्हि द्वयोः सम्बन्धः स्यान्न सदसतोरसतोर्वा" इससे यह स्पष्ट ध्वनि निकलती है कि कार्य-कारण-सम्बन्ध के लिए संबद्ध पदार्थ सजातीय होने चाहिये। हमने ऊपर कार्यकारण की मीमांसा करते हुए यह बतलाने का प्रयत्न किया है कि कार्य-कारण केवल सरूप पदार्थों ही में स्थापित हो सकता है। क्योंकि कार्य-कारण-सम्बन्ध में पदार्थों की परस्पर क्रिया तथा प्रतिक्रिया अपेक्षित रहती है। अब अरूप और सरूप में प्रतिक्रिया की सम्भावना कदापि नहीं हो सकती। अतः, कार्य-कारण सम्बन्ध, जैसा कि हमारा अनुभव भी प्रमाणित करता है, दो सरूप पदार्थों के बीच ही स्थापित हो सकता है।

अब विवर्तवाद में अधिष्ठान और अध्यास के बीच जो संबंध होता है, उसको कार्य-कारण-सम्बन्ध कहना अनुचित है। क्योंकि, सर्वप्रथम अधिष्ठान और जगत् में उस प्रतिक्रिया का सर्वथा

अभाव है, जो कार्य-कारण-सम्बन्ध में अपेक्षित है। दूसरे, जगत् तो ब्रह्म पर अध्यस्त है, वह उससे उद्भूत नहीं। स्वयं ब्रह्म में किसी प्रकार के विकार की सम्भावना नहीं है। इसलिए ब्रह्म सर्वथा निष्क्रिय है और जगत् का उत्पादक तत्त्व बनने में सर्वथा असमर्थ है। तीसरे, जगत् को अविद्या द्वारा प्रत्युपस्थापित्त माना गया है। अविद्या जीव के अन्तःकरण का एक धर्म है। अब प्रश्न है कि क्या अविद्योपहित अन्तःकरण ब्रह्म से उद्भूत है? यह सम्भव नहीं, ब्रह्म के अकर्तृत्व के कारण। यदि अन्तःकरण ब्रह्म से उद्भूत नहीं है तो वह पहिले ही से विद्यमान है। इस पक्ष को स्वीकार करने पर हम आत्माश्रय के दोषी होते हैं। क्योंकि अन्तःकरण स्वयं जगत् का एक अंश है। अतः जगत् की उत्पत्ति में अन्तःकरण को उत्पादकत्व का श्रेय नहीं दिया जा सकता।

इस प्रकार हम देखते हैं कि विवतवाद के अनुसार ब्रह्म और जगत् के बीच किसी प्रकार की प्रतिक्रिया की सम्भावना का निषेध है। अतः इन दोनों में कार्य-कारण-सम्बन्ध नहीं हो सकता। दूसरे, ब्रह्म को निष्क्रिय मानने के कारण वह सत्तात्मक तत्त्व होते हुए भी जगदुत्पत्ति करने में असमर्थ है।

अब इनमें से पहिली बात को तो हम भी स्वीकार करते हैं। सत्तात्मक तत्त्व अरूप है और जगत् के पदार्थ सरूप। अतः इन दोनों में कार्य-कारण-सम्बन्ध जैसे बाह्य सम्बन्ध का होना सर्वथा असम्भव है।

किन्तु साथ ही हम सत्तात्मक तत्त्व को अचल एवं निष्क्रिय मानने की पद्धति का घोर विरोध करते हैं। जो सत्तात्मक तत्त्व अचल है, उससे जगत् की सृष्टि किस प्रकार हो सकती है? अतः सत्तात्मक तत्त्व की अचलता तो आत्मविरोधी कल्पना है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि वेदान्तियों ने ब्रह्म को अरूप मानकर सत्ता-विषयक समस्या को स्पिनोझा की अपेक्षा तो अधिक अच्छी प्रकार आकलन करने की चेष्टा की है। किन्तु उन्होंने ब्रह्म को अचल मानकर उस समस्या का अधूरा ही हल दिया है।

सत्ताविषयक तत्त्व को अचल मानने के कारण तत्त्व-चिन्ता में जो एक प्रकार का गति-अवरोध उत्पन्न हो गया था उसे हमारे समय में स्व० बेर्गसों ने अपनी 'सृजनशील उत्क्रान्ति' की कल्पना द्वारा दूर करने की चेष्टा की है। अतः हमारे लिये बेर्गसों द्वारा पुरस्कृत सत्ता-विषयक समस्या के हल की मीमांसा करना क्रम-प्राप्त है।

सारे दार्शनिकों में बेर्गसों ही सत्ता की चलता को बड़ी दृढ़ता के साथ प्रतिपादित करता है। बेर्गसों के दर्शन का आधारभूत तत्त्व, अर्थात् élan vital, (जीवनोत्सव) सत्ता की सृजनशील प्रवृत्ति ही का दूसरा नाम है। बेर्गसों ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ *L'Evolution Creatrice* में सत्ता की कल्पना की रूपरेखा यों दी है:—

"वह अस्तित्व जिसका हमें पूरा-पूरा विश्वास है और जिसे हम उत्तमता से जानते हैं वह निस्संशय हमारा अपना ही है। कारण अन्य

सारे विषयों के सम्बन्ध में हमारे विचार ऊपरी और बहिरंगस्पर्शी माने जा सकते हैं किन्तु अपने सम्बन्ध में हमारा अनुभव आभ्यंतर एवं प्रगाढ़ होता है। तब हमें क्या मिलता है? इस विशिष्ट बात में "अस्तित्व" शब्द का ठीक-ठीक अर्थ क्या है?.......

सर्वप्रथम, मैं अपने आपको एक स्थिति से दूसरी स्थिति में संक्रमण करता हुआ पाता हूँ। मुझे गर्मी लगती है अथवा सर्दी, मैं प्रसन्न हूँ अथवा व्यथित, मैं काम करता हूँ अथवा कुछ नहीं करता, मैं अपने आसपास की बातों पर ध्यान देता हूँ अथवा अन्य किसी वस्तु पर विचार करता हूँ। संवेदना, भावना, इच्छा, कल्पना—ये हैं वे परिवर्तन जिनमें मेरा अस्तित्व विभक्त है और जो बारी-बारी से उसे रँग देते हैं। अतः मैं अविराम बदलता जाता हूँ।[१९]"

कुछ आगे चलकर बेर्गसों यों कहता है:—

"इस प्रकार हमारा व्यक्तित्व निरन्तर अंकुरित होता है, बढ़ता है और परिपक्व होता है। उसके उन क्षणों में प्रत्येक में कुछ नवीनता होती ही है जो पूर्ववर्ती क्षणों में कुछ अधिक जोड़कर बनती है। अपरंच, वह केवल नवीन ही नहीं होता, किन्तु अपूर्वदृष्ट भी होता है। निस्संशय, मेरी वर्तमान स्थिति का स्पष्टीकरण मुझमें जो कुछ विद्यमान है तथा एक क्षण के पूर्व मुझ पर जिसकी प्रतिक्रिया हो रही थी उससे ही हो सकता है। उसके विश्लेषण में मुझे कोई अन्य अवयव नहीं मिलना चाहिये। किन्तु अमानुषी बुद्धि भी उस साधारण अविभाज्य रूप का पूर्वदर्शन नहीं कर सकती जो इन शुद्ध पृथक्कृत अवयवों को सुगठित व्यवस्था प्रदान करता है। क्योंकि पूर्वदर्शन के लिए आवश्यक है कि भविष्य में उन वस्तुओं की कल्पना की जाय जो भूत में अनुभूत हैं अथवा यह आवश्यक है कि भविष्य में अनुभूत अवयवों की नये ढंग से एक नये संघात में कल्पना की जाय। किन्तु

---

[१९] *Creation Evolution*, Eng. Tr. p. 1

जो अननुभूतपूर्व है और साथ ही जो साधारण है वह अवश्य अपूर्व-दृश्य भी है। विकासमान इतिहास में एक क्षण के समान मानी जाने-वाली हमारी प्रत्येक स्थिति की भी यही बात है। वह साधारण है और वह पूर्वदृष्ट नहीं हो सकती, क्योंकि अपनी अविभाज्यता में जो अनुभूत है तथा वर्तमान उसमें जो कुछ बढ़ा देता है उस सबको वह एकत्र कर लेती है। वह एक मौलिक इतिहास का एक मौलिक क्षण है।"[२०]

ऊपर के उद्धरणों से हम समझ सकते हैं कि बेर्गसों आत्मा को प्रगमनशील, विकस्वर और सृजनशील मानता है। आत्मा की गति स्वतःस्फूर्त है। उसका प्रत्येक क्षण नवीन है, अपूर्वदृष्ट है, इसलिए कि वह नवसृष्ट है। इसके अतिरिक्त बेर्गसों आत्मा को पूर्णतया स्वतंत्र मानता है। क्योंकि यदि आत्मा की गति स्वतः-स्फूर्त है तो उसकी गति की प्रेरणा भी उसी के अन्दर है। इसी का अर्थ है कि आत्मा स्वतंत्र है। अर्थात् आत्मा सदैव अपनी इच्छा से निश्चित उद्देश्य का अनुसरण करती है। यहाँ बेर्गसों वैज्ञानिकों की बाह्य परिस्थिति द्वारा परिचालित विकास की, एवं दार्शिनिकों की किसी भी ध्येय की ओर प्रवर्तमान आध्यात्मिक विकास की कल्पनाओं का एक साथ यह कहकर खण्डन करता है कि ये दोनों कल्पनाएँ विकास की प्रेरणा को आत्मा से बाहर मानती हैं। किन्तु यदि आत्मा अपने से बाहरवाली किसी प्रेरक शक्ति से परिचालित हो तो वह स्वतंत्र नहीं अपितु परतंत्र, विनिश्चित हो

---

[२०] *Creative Evolution*, Eng. tr. pp. 6—7

जायगी। डारविन और स्पेंसर आदि द्वारा पुरस्कृत वैज्ञानिक विकासवाद के सम्बन्ध में बेर्गसों ने लिखा है:—

"जडवाद की व्याख्याओं का सार वस्तुतः यह है कि वे भूत और भविष्य को वर्तमान का परिगणनीय धर्म समझती हैं और इस बात का दावा करती हैं कि *अखिल प्रत्यक्ष है।* इस कल्पना के अनुसार परिगणना करने में समर्थ अमानुषी बुद्धि भूत, वर्तमान और भविष्य को एकदम ही आकलन कर लेगी।"[२१]

विकास की विज्ञान द्वारा दी गई जडवादात्मक व्याख्या की तरह, हेगेल आदि दार्शनिकों द्वारा पुरस्कृत आध्यात्मिक व्याख्या का भी बेर्गसों इन शब्दों द्वारा प्रत्याख्यान करता है—

"किन्तु परमावधिक ध्येयवाद भी हमें अस्वीकार्य है और उसी कारण से। अपने परमावधिक रूप में...... ध्येयवाद के सिद्धान्त में यह अन्तर्हित है कि वस्तुजात पूर्वकल्पित योजना मात्र को कार्यान्वित करता है। किन्तु यदि संसार में कुछ भी, रचना या सृजन, अपूर्व-दृष्ट न हो, तो काल पुनः निरर्थक हो जाता है। जडवाद की कल्पना के अनुसार यहाँ भी हम यही सोचते हैं कि *अखिल प्रत्यक्ष है।* इस प्रकार समझने पर ध्येयवाद केवल परावर्तित जडवाद ही है। वह उन्हीं मान्यताओं से उद्भूत है, भिन्नता केवल इतनी ही है कि हमारी परिमित बुद्धियों की, जिनकी परम्परा आभासमात्र होती है, उन क्रमागत वस्तुओं के साथ संचरणशील गति में वह (अर्थात् ध्येयवाद) प्रकाश को हमारे पीछे न रखते हुए, हमारे सामने रखता है। वह अतीत के स्थान में भविष्य के आकर्षण को सन्निविष्ट करता है।"[२२]

---

[२१] *Ibid.*, p. 40

[२२] *Cr. Evo.*, pp. 41-42

विकास की उपर्युक्त वैज्ञानिक एवं आध्यात्मिक कल्पनाओं के स्थान में बेर्गसों हमें 'सृजनशील विकास' की कल्पना देता है। आत्मा अपनी स्वतःस्फूर्त शक्ति द्वारा, जिसे बेर्गसों जीवनोत्सव (élan vital) कहता है, स्वेच्छानुसार सृजन करती जाती है। विकास की अन्य कल्पनाओं की तरह सृजनशील विकास आत्मा को एकरेखानुवर्ती नहीं मानता, क्योंकि आत्मा स्वतंत्र होने के कारण किसी एक निश्चित बाहरी ध्येय की ओर जाने को बाध्य नहीं है। वह स्वेच्छानुसार किसी भी दिशा में प्रवृत्त होती है। अतः सृजनशील विकास बहुरेखानुवर्ती है। कहते हैं कि बेर्गसों की इस कल्पना को कई प्राणिशास्त्रज्ञों ने प्रामाणिक माना है।

अब बेर्गसों का कथन है कि विकस्वर और सृजनशील सत्य को जानने में बुद्धि सर्वथा असमर्थ है। सिनेमेटोग्राफ़ की तरह बुद्धि साधारण एवं अविभाज्य गति के अनेक अचल-चित्र लेती है और उनको अनुक्रम संख्या से रखकर वह समझती है कि उसने गति को पा लिया। किन्तु बुद्धि की धारणा गलत है। किसी गति के अचल चित्रों को लेकर हम उस गति की गतिमानता को सर्वथा छोड़ देते हैं, उसकी अविभाज्यता को नष्ट करके उसको हम खंड-खंड कर देते हैं और इन अचलखंडों को एकत्रित रखकर हम यह समझते हैं कि हमने गति को पा लिया। यह भूल नहीं तो क्या ?

"अपने आपको वस्तुओं की आन्तरिक भूयमानता में अधिष्ठित न करते हुए, हम अपने आपको उनके बाहर रखते हैं ताकि हम कृत्रिमता से उनकी भूयमानता का पुनर्निर्माण कर लें। हम मानों प्रवहमान

वास्तविकता के चलचित्र लेते हैं और चूँकि ये वास्तविकता के लक्षण से उपहित हैं, इसलिए हमें उन्हें ज्ञान-यन्त्र के पीछे स्थित अमूर्त, एकरस और अदृश्य भूयमानता पर पिरोना मात्र रह जाता है ताकि इस व्यवस्था द्वारा हम स्वयं इस भूयमानता की जो विशिष्टता है उसका अनुकरण कर लें। अवलोकन, चिंतन, भाषा ये साधारणतः इसी प्रकार आगे बढ़ते हैं। हम चाहे भूयमानता को सोचें अथवा व्यक्त करें अथवा उसको देख ही लें तथापि इन सब क्रियाओं में अपने अन्दर एक प्रकार के चलचित्र यन्त्र को चलाने की अपेक्षा हम क्वचित् और कोई बात करते हों। अतः हम अन्त में जो कुछ कह रहे हैं उसका सारांश यह है कि हमारे साधारण ज्ञान का ढाँचा चल-चित्र के जैसा है।"[२३]

सत्य की अविभाज्य एवं चिर प्रवह्मान गति को अचल खंडों में विभक्त करने में बुद्धि का उद्देश्य हमें सत्य का परिज्ञान कराना नहीं है। हम अपने दैनंदिन व्यवहार में जो गतिमान् है उसका सम्यक् आकलन नहीं कर पाते। अतः बुद्धि जगत् की गतिमानता के उन क्षणों को पकड़ लेती है जिन्हें हम अपने व्यव-हार की सुविधा के लिए एक जैसे मान लेते हैं। सत्य के इन खंडों को एकत्रित कर हम उनसे साधारण कल्पनाओं एवं व्याप्तियों को प्राप्त करते हैं। विज्ञान की सारी कल्पनाएँ, व्याप्तियाँ तथा साधा-रण नियम इसी क्रिया के परिणाम हैं। किन्तु ये सब सत्य को अपनी वास्तविकता में व्यक्त नहीं करते। वे तो उस गति के प्रतीकमात्र हैं जो अपनी चंचलता के कारण बुद्धि की पकड़ के

---

[२३] *Creative Evolution*, pp. 322--323

बाहर हैं। इन प्रतीकों द्वारा बुद्धि हमारे दैनंदिन व्यवहार में सुविधा अवश्य पहुँचाती है। किन्तु बुद्धि के इस कार्य से यह समझ लेना कि उसके द्वारा हम सत्य के सन्निकट आते हैं, ग़लत है।

"वस्तुतः साधारण परिकल्पनाएँ दिक् में स्थित पदार्थों के समान एक दूसरे से बाह्य हैं; और उनमें वही अचलता है जो उन पदार्थों में होती है जिनसे वे अनुकृत हैं। एक साथ लेने पर वे एक ऐसे "बुद्धिगम्य जगत्" का निर्माण करती हैं जो जड़ जगत् का उसके सारभूत लक्षणों में अनुहार करता है, किन्तु जिसके अवयव लघु, अधिक प्रसरणशील, बुद्धि के लिये मूर्त वस्तुओं की अपेक्षा व्यवहार में लाने के लिये अधिक सुलभ हैं; वे वस्तुतः वस्तुओं के स्वयं अवलोकन नहीं हैं किन्तु उस क्रिया के प्रतीक हैं जिसके द्वारा बुद्धि उन पर स्थिर की जाती है। अतः वे कल्पना-चित्र नहीं अपितु प्रतीक मात्र हैं।"[२४]

बुद्धि का जडता से घनिष्ट सम्बन्ध है। बल्कि यों कहना चाहिए कि बुद्धि और जडता अन्योन्याश्रित हैं। अपनी आत्मस्थता में बुद्धि जडता से आक्रांत रहती है और अपनी व्यवस्था में उसी अचलता और निस्पन्दता को बतलाती है जो जडता के मुख्य लक्षण हैं।

"जब हम गणित की आश्चर्यजनक व्यवस्था पर, उसके द्वारा व्यवहार में लाये गये पदार्थों की सम्पूर्ण संगति पर अंकों और आकृतियों में अन्तर्हित तर्क पर, एक ही विषय पर हमारी विचार-पद्धति कितनी ही भिन्न और संमिश्र होते हुए भी, एक ही निष्कर्ष पर

---

२४ *Creative Evolution*, p. 169.

पहुँचने की हमारी निश्चितता पर विचार करते हैं, तब हम स्पष्ट रूप से इतने भावात्मक धर्मों में अभाव की व्यवस्था को, सत्य वास्तविकता की विद्यमानता की अपेक्षा उसके अभाव को, देखने में हिचकिचाते हैं। किन्तु हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि हमारी बुद्धि जो उस व्यवस्था को ढूँढ़ती है और उस पर आश्चर्य प्रकट करती है गति की उसी दिशा में प्रवृत्त है जो हमें उसके पदार्थ की जडता और दिगत्व की ओर ले जाती है।"[२५]

अब प्रश्न यह उठता है कि यदि सत्य चिर प्रवहमान स्वतः-स्फूर्त गति है, तो उससे अचल और निस्पन्द जडता का प्रादुर्भाव किस प्रकार हुआ ? इस प्रश्न का उत्तर बेर्गसों ने कटी-मँजी स्पष्ट भाषा में न देते हुए कई रूपकों द्वारा दिया है। सांकेतिक रूप से कभी बेर्गसों कहता है कि जडता प्रवहमान गति की शिथिलता के परिणाम-स्वरूप उद्भूत होती है। कभी वह कहता है कि जडता आरुह्यमाण सत्य का अवरोह है। इस बात को बेर्गसों ने एक उदाहरण द्वारा भी स्पष्ट किया है:—

"एक पात्र की कल्पना कीजिये जिसमें भाफ़ पूरे दबाव पर भरी हुई हो और जिसकी बाजुओं में यत्र-तत्र दरारें हों जो भाफ़ को फव्वारों के रूप में निकलने देती हों। हवा में फेंकी गई भाफ़ तो सारी ऐसे बिन्दुओं में घनीभूत हो जाती है जो वापिस गिरते हैं और यह घनीकरण और यह पतन केवल किसी बात की हानि, बाधा, अभाव बतलाते हैं। किन्तु भाफ़ के फव्वारे का एक छोटा-सा अंश कुछ क्षण घनीभूत न होते हुए वैसे ही कायम रहता है; वह उन बिन्दुओं को उठाने में प्रयत्नशील है जो गिर रहे हैं; अधिक से अधिक

[२५] *Ibid.*, p. 220.

वह उनके पतन को रोकने में सफल होता है। इसी प्रकार एक विशाल जीवनाशय से अविराम ऐसे फव्वारे उड़ते होने चाहिये जिनमें से प्रत्येक, गिरने, पर, एक जगत हो जाता है।.........

हम हाथ उठाने जैसे कार्य के बारे में सोचें फिर यह भी कल्पना करें कि हाथ, ज्यों का त्यों छोड़ देने पर, वापिस गिर पड़ता है और तो भी उसके वापिस उठाने की कोशिश करने पर उसको अनुप्राणित करनेवाली इच्छा का अंश कायम रहता है। विकासमान *सृजन-शील कार्य* के इस चित्र में जडता की अत्यन्त यथार्थ कल्पना हमें मिलती है। तब जीवन की गतिमानता में हमें परावर्तित गति में सरल गति का जो कुछ अंश स्थिर रहता है वही दृष्टिगोचर होता है, एक ऐसी वास्तविकता मिलती है, जो विघटनमान वास्तविकता में अपने आपको संगठित करती है।"[२६]

उपर्युक्त उद्धरणों से हम समझ सकते हैं कि बेर्गसों के अनुसार जडता की उत्पत्ति जीवनोत्सव में रुकावट पैदा होने से, अथवा जो प्रहवमान सत्य अपने आपको स्वतःस्फूर्त रूप से निर्माण कर रहा है उसमें आत्मविद्रोही प्रतिगामी गति के होने से होती है। जडता की उत्पत्ति की यह कल्पना कहाँ तक ठीक है इसकी चर्चा हम कुछ आगे चलकर करेंगे। यहाँ हम उसे ज्यों की त्यों मानकर आगे बढ़ते हैं।

ऊपर हम कह आये हैं कि बेर्गसों के अनुसार बुद्धि और जडता का परस्पर सम्बन्ध है। बुद्धि का वास्तविक निकेतन जडता ही है। बुद्धि प्रगमनशील सत्य को जानने में सर्वथा

---

[२६] *Creative Evolution*, p. 260-261

असमर्थ है। ऐसी अवस्था में हमारे लिए सत्ता को जानने का कौनसा साधन है ? इसके उत्तर में बेर्गसों कहता है कि स्वानुभूति (Intuition) द्वारा हम अपने आपको सत्ता की विकस्वर, चिर प्रवहमान उत्क्रम्यमाण गति में अधिष्ठित कर सकते हैं। इस स्वानुभव का उद्‌गम सहज वृत्तियों (instincts) से है जो प्राणिमात्र के जीवन की अभिव्यक्ति के मूल साधन हैं। मानव में बुद्धि के प्राबल्य के कारण सहजावबोधात्मक प्रवृत्ति बहुत कुछ दब गई है। क्योंकि सहजावबोध और बुद्धि ये दोनों परस्पर विरोधी हैं। यदि एक हमें अन्तर्जगत् की अतल गहराइयों की ओर ले जाती है तो दूसरी हमें बाह्य जगत् की सतह की ओर ले जाती है।

"सहजवृत्ति सहानुभूति है। यदि यह सहानुभूति अपने विषय का विस्तार कर सकती होती और अपने विषय पर मनन कर सकती होती तो वह हमें जीवन की क्रियाओं की चाभी दे देती—जिस प्रकार, विकसित और अनुशासित बुद्धि हमें जडता की ओर ले जाती है। क्योंकि—हम इसे कई बार दुहरा चुके हैं—बुद्धि और सहजवृत्ति विरुद्ध दिशाओं में मुड़ी हैं, पहिली जडता की ओर और दूसरी जीवन की ओर। बुद्धि उस विज्ञान के द्वारा, जो उसका कार्य है, अधिकाधिक पूर्णता से हमारे सामने भौतिक क्रियाओं के रहस्य का उद्‌घाटन करेगी; जीवन का वह जडता की भाषा में अनुवाद देती है और उसे केवल देने का दावा करती है। वह जीवन के आसपास घूमकर बाहर से उसके जितने हो सकें अधिक से अधिक दृश्य लेती है, उसके भीतर प्रवेश करने के बजाय वह उसे अपने अन्दर खींचती है। किन्तु स्वानुभूति हमें जीवन की ठेठ आन्तरिकता तक ले जाती है—स्वानुभव

से मेरा मतलब है उस सहजवृत्ति से जो अनासक्त, आत्मचेतन, अपने विषय पर मनन करने में और उसका अनिश्चित रूप से विस्तार करने में समर्थ हो गई हो।"[२७]

यदि हम निम्नकोटि के प्राणियों में आविर्भूत सहजावबोध की प्रवृत्तियों का अध्ययन करें तो हम निर्बुद्ध प्राणियों की उस कुशलता को देखकर आश्चर्यान्वित हो जायँगे जिसके द्वारा वे अपने विषयों से सामंजस्य प्राप्त करते हैं। उदाहरणार्थ, अमोफिला हिर्सुटा "अपने लक्ष्य (caterpillar) के नौ ज्ञानतन्तु केन्द्रों पर अनुक्रम से नौ डंक मारता है और फिर उसका सिर अपनी भुजाओं में पकड़कर इस प्रकार दबाता है ताकि उसका भक्ष्य बिना मरे ही संज्ञाहीन हो जाय।"[२८]

इसी प्रकार के अन्य उदाहरण हमको निम्नकोटि के प्राणियों में अनेक मिल सकेंगे।

सारांश यह कि हमें बुद्धि के समकक्ष स्वानुभव को भी ज्ञान का एक साधन मानना होगा। क्योंकि जो प्राणी सर्वथा निर्बुद्ध होते हैं वे भी स्वानुभव के बल पर अपने जीवन से सम्बन्ध रखने-वाले पदार्थों से आन्तरिक और प्रगाढ़ सहानुभूति द्वारा सामंजस्य प्राप्त करते हैं। मानव-जीवन में बौद्धिकता का प्राबल्य होने के कारण वह अपने आसपास के पदार्थों से इस आन्तरिक और प्रगाढ़ सहानुभूति का अनुभव कम करता है। किन्तु जीवन के

---

[२७] *Creative Evolution*, p. 186

[२८] *Creative Evolution*, p. 182

विशेष क्षणों में, विशेषतः जब-जब हम जीवन-मरण के किनारे पर अपने आपको संतुलित पाते हैं तब एक स्वतःस्फूर्त आवेश से हम अतीव गंभीर गुत्थियों में से अपना मार्ग निकाल लेते हैं। अपने जीवन के एक अत्यन्त "आवेशपूर्ण प्रयास" (violent effort) द्वारा हम कुछ क्षणों के लिए अपनी परिस्थिति की उलझन को अपने अन्दर से सुलझाते हुए पाते हैं। अपनी परिस्थिति से यही आन्तरिक एवं प्रगाढ़ सहानुभूति का अनुभव दार्शनिक सत्यों को प्राप्त करने का साधन है।

यह है बेर्गसों के दर्शन की रूपरेखा। अब हम उसके दार्शनिक विचारों पर आलोचनात्मक प्रकाश डालेंगे।

मॅककेलर स्त्यूअर्ट (M'Kellar Stewart) अपनी *Critical Exposition of Bergson's Philosophy* में बेर्गसों द्वारा प्रतिपादित जडता की कल्पना पर आलोचना करते हुए लिखता है :—

"इस प्रारम्भिक शुद्ध सृजनशील क्रिया में कभी बाधा उपस्थित होने का कोई कारण ही दिखलाई नहीं पड़ता और यद्यपि उसमें से इतने फव्वारे उड़ते हैं, तो भी इस बात पर विश्वास करने के लिये क्या कारण है कि वे एकदम ही "गिरना" शुरू करें ? उनकी स्वतन्त्र क्रिया के उसी प्रकार जारी रहने के लिये सभी कारण दिखलाई पड़ते हैं क्योंकि उनका मुख्य स्वभाव, उनका समूचा स्वभाव ही वस्तुतः स्वतन्त्रता है। हमारे जगत् में मिलनेवाले सृजन की तुलना यहाँ किसी काम की नहीं है, क्योंकि जिस प्रकार स्वयं बेर्गसों ने कहा है, जीवन-धारा में जड़ता के विरोध के कारण ही विभाजन होते हैं और जड़ता के

अस्तित्व को, उसकी उत्पत्ति में अवयव नहीं माना जाना चाहिये। अपरंच जब बेर्गसों यह कहता है कि जडता वह गति है जिसकी दिशा जीवन की गति से विपरीत है, तब उसका क्या मतलब है? क्या उसका यह मतलब है कि जीवन और जडता एक साधारण बिन्दु से ही विनिर्गत हैं और यह कि यदि जीवन उस बिन्दु से आरोहण करता है तो जडता वहाँ से अवरोहण करती है? यदि ऐसा है तो यह समझना मुश्किल है कि वे एक दूसरे के विरोध में क्यों उपस्थित होती हैं। क्या उसका यह मतलब है कि एक गति यदि विकेन्द्रीकरण की ओर बढ़ती है तो दूसरी गति अधिक सम्पूर्ण व्यवस्था की ओर जाती है? तब कोई भी दो स्थितियों में केवल तारतम्य का अन्तर होगा और इस बात को निश्चित रूप से इंकार करना असम्भव होगा कि वह गति केवल *एक ही* है जो कि या तो एक सिरे की ओर अथवा दूसरे सिरे की ओर मुड़ी हुई है, किस सिरे की ओर यह हम नहीं बतला सकते। सत्य तो यह है कि यह कल्पना मनोरंजक है किन्तु ईश्वरीय मन में प्रवेश करने के और ईश्वर के साथ अपने आपको जग की सृष्टि का अनुभव करने के बहुत पूर्व हम स्वयं को जिस गहराई पर पाते हैं उसको मालूम करने के लिये हमारी डोरी छोटी पड़ जाती है।"[२९]

प्रो० मॅक्केलर स्ट्यूअर्ट की बेर्गसों द्वारा प्रतिपादित जडता की कल्पना की उपर्युक्त आलोचना अधिक अंशों में ठीक है। हमें बेर्गसों की कृतियों में अनेक ऐसे अंश मिलेंगे जहाँ बेर्गसों जीवनोत्सव से जडता को एकदम अलग समझता है। बेर्गसों की

---

[२९] M'Kellar Stewart, *Critical Exposition of Bergson's Philosophy*, p. 181.

जो प्रणालीकरण (canalisation) की कल्पना है वह तो इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है। बेर्गसों के अनुसार जीवन की सृजनशील उत्क्रान्ति की भिन्न-भिन्न अटखेलियों (Sinuosities) का मूल कारण यह है कि जीवनोत्सव को दी हुई जडता की रुकावट का सामना करना पड़ता है। जीवनोत्सव का इस जडता के बीच से अपना मार्ग ढूँढ़ना पड़ता है। जीवनोत्प्लव में जडता का यही प्रणालीकरण उत्क्रान्ति की अटखेलियों का मूल कारण है। नीचे दिये हुए उद्धरण इस बात को प्रमाणित करेंगे।

"अन्त में, चैतन्य मुख्यतः स्वतन्त्र है; वह स्वयं स्वतन्त्रता है; किन्तु वह जडता में से उस पर स्थिर हुए बगैर, अपने आपको उसका अनुवर्तन कराये बगैर, नहीं गुजर सकता। इसी अनुवर्तन को हम बौद्धिकता कहते हैं और बुद्धि अपने आपको गतिमान की ओर अर्थात् स्वतन्त्र चेतना की ओर झुकाकर उसे स्वभावतः ऐसे काल्पनिक रूपों में प्रवेश कराती है जिनमें वह जडता को जमते (Fit) हुए देखने की आदी हो गई है।"[30]

अपरंच,

"जीवन का उत्प्लव, जिसके बारे में हम बोल रहे हैं, सृजन की एक आवश्यकता है। वह आत्यन्तिक रूप से कुछ भी सृजन नहीं कर सकता क्योंकि उसको जडता से अर्थात् उस गति से जो उसके विपरीत है, मुकाबला करना पड़ता है।"[31]

इस प्रकार के कई उद्धरण हमें बेर्गसों की कृतियों में मिलते हैं जिनमें बेर्गसों स्पष्ट रूप से मानता है कि जडता का अस्तित्व

[30] *Creative Evolution*, p. 285.
[31] *Ibid.*, p. 285.

जीवन से पृथक् है। किन्तु इतना होते हुए भी एक बात है। बेर्गसों ने जडता का जीवन से स्वाभाविक एवं आत्यन्तिक विरोध कभी नहीं बतलाया है। क्योंकि, जैसा कि हम ऊपर बतला चुके हैं, बेर्गसों ने जडता का कारण जीवनोत्सव की शिथिलता, प्रत्यावर्तन, अवरोह, प्रतिगामिता बतलाया है। अर्थात् मूलतः जीवन और जड़ता में स्वाभाविक विरोध नहीं। उनमें केवल रूप की भिन्नता है। एक ही सत् शक्ति अपनी सृजनशीलता में जीवन है और अपनी निष्क्रियता में जडता बन जाती है। किन्तु तब भी यह प्रश्न शेष रह ही जाता है कि आखिरकार उत्क्रम्यमाण शक्ति में शिथिलता आने का कारण क्या ? एक ही गति जब आरोहणशील है तो उसे अवरोह की ओर मुड़ने की आवश्यकता ही क्यों पड़ी ? इन प्रश्नों के उत्तर बेर्गसों की कृतियों में पाने की हम व्यर्थ चेष्टा करते हैं।

× × ×

बेर्गसों के दर्शन के उपर्युक्त दोष का एक मुख्य कारण है। उसे यहाँ स्पष्ट कर देना उचित है।

हम बतला ही चुके हैं (हमारे आलोचनात्मक खण्ड में) कि बेर्गसों का दर्शन अभिनव-स्वातन्त्र्यवाद के दर्शनों में से एक है। बेर्गसों के समकालीन दार्शनिक स्वातन्त्र्यवाद की उत्पत्ति उस विचारधारा से होती है जिसका प्रारम्भ लाप्लासे और डूबाई रेमाँ में पर्यवसित वैज्ञानिक बुद्धिवाद तथा हेगेल में पर्यवसित दार्शनिक बुद्धिवाद (intellectualism) के प्रति प्रतिक्रिया से होता है। हमने

यह भी बतला दिया है कि बुद्धिवाद के पुरस्कर्ता स्वयं ह्यूम और तत्पश्चात् कांट ने बुद्धिवादी दर्शन के प्रति अपना अविश्वास व्यक्त किया था। बुद्धिवाद से छुटकारा पाने के लिये कांट ने आखिरकार अपने *Critique of Practical Reason* और *Critique of Judgment* की सृष्टि की।

यद्यपि, जैसा कि हम ऊपर बतला चुके हैं, कांट स्वयं इन कर्मबुद्धि तथा भावना की मीमांसाओं से सन्तुष्ट नहीं था क्योंकि इन दोनों मीमांसाओं में कांट ने सत्य को कर्म-बुद्धि तथा भावना के क्षेत्र से परे माना है; तथापि जो दार्शनिक बुद्धिवाद की अचलता, कठोरता और रूक्षता से ऊब गये थे, उन्होंने कांट के द्वारा दी गई खतरे की सूचना पर ध्यान न देते हुए कर्मबुद्धि और भावना को दर्शन का अधिष्ठान मान ही लिया। उदाहरणार्थ, शोपेनहार अंधेच्छा तत्त्व को, हार्टमान विचेतन गति को, आल्फ्रे फुइये शक्ति और विचार के समन्वय को, मूल्य-दर्शन के उन्नायक मानवता के चिरंतन मूल्यों का आविर्भाव करनेवाली स्वतःस्फूर्त आध्यात्मिक शक्ति को, राव्हेसां, सेक्रेतां सौंदर्योपासना में अभिव्यक्त भावना को सृष्टि का आधारभूत तत्त्व मानते हैं। उसी प्रकार बेर्गसों का जीवनोत्प्लव भी एक बुद्धि-विरोधी तत्त्व है जो हमारी नैतिक चेष्टाओं का मूल स्रोत कर्मबुद्धि की कल्पना से बहुत कुछ मिलता-जुलता है।

अब प्रश्न है; क्या हमारा शुद्धबुद्धि की अपेक्षा कर्मबुद्धि को सत्ता के साक्षात्कार के विषय में अधिक महत्त्व देना उचित है?

समीक्षा के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि ज्ञान, कर्म और भावना इनमें रूप की भिन्नता होते हुए भी तीनों की अभिव्यक्ति का प्रकार एक-सा है। उत्कट बुद्धिवादी हेगेल का दोष बतलाते हुए हम यह कहते हैं कि उसने ज्ञाता और ज्ञेय के आत्यन्तिक ऐक्य जो परमात्मा है उसे अचल माना है। अर्थात् हेगेल के अनुसार परमात्मा शुद्धबुद्धि का वह चरम ध्येय है जिसको ससीम आत्मा अपनी ज्ञानशक्ति द्वारा निरन्तर प्राप्त करने की चेष्टा करती है। ज्ञान का यह ध्येय अचल होना ही चाहिये। क्योंकि यदि वह भी चल हुआ तो उसमें अपूर्णता आ जायगी और इसीलिये वह ज्ञान का चरम आधार नहीं बन सकता।

किन्तु यही बात हम कर्म और भावना के विषय में भी तो कह सकते हैं। वस्तुतः कर्म की आवश्यकता ही इसलिये होती है कि कर्त्ता बाह्य जगत् को अपने विरोध में उपस्थित पाता है। अर्थात् वह यह महसूस करता है कि किसी प्रकार उसमें और बाह्य जगत् में सामंजस्य का अभाव है। कर्ता और बाह्य जगत् का यही असामंजस्य कर्ता को बाह्य जगत् को अपनी इच्छानुसार ढालने की चेष्टा के लिये प्रेरित करता है। ज्यों-ज्यों कर्ता अपने कर्म द्वारा बाह्य जगत् को स्वेच्छानुसार ढालता जाता है, त्यों-त्यों इसके कार्य में नैतिक प्रगति का अन्तर्भाव होने लगता है। इस नैतिक प्रगति का अन्तिम ध्येय है कर्ता और बाह्य जगत् में पूर्ण सामंजस्य। यह ध्येय ज्ञान के ध्येय के समान ही अचल और पूर्ण है। जब तक कर्ता इस ध्येय को नहीं प्राप्त कर लेता तब तक तो नैतिक

प्रगति कायम रहती है। ध्येय प्राप्त हो जाने पर नैतिक प्रगति की आवश्यकता ही शेष नहीं रह जाती।

इस प्रकार हम देखते हैं कि कर्मबुद्धि के लिये संघर्ष की आवश्यकता होती है। किन्तु यह संघर्ष अंधा नहीं है। वह नीति के एक अचल और पूर्ण ध्येय की अपेक्षा रखता है। कांट ने इसी बात को अपनी *कर्मबुद्धि की मीमांसा* में यह कहकर व्यक्त किया कि आत्म-स्वातन्त्र्य, अमरता तथा ईश्वर नैतिकता की अनिवार्य मान्यताएँ हैं। आत्म-स्वातन्त्र्य इसलिये कि जब तक आत्मा-स्वनिश्चित ध्येय की ओर बढ़ने में स्वतन्त्र न हो तब तक उसके किसी कर्म को नैतिकता के गुण नहीं लगाये जा सकते। उसी प्रकार इस बात की भी आवश्यकता है कि आत्मा को बाह्य जगत् के संघर्ष के कारण कुछ क्षणिक रुकावट हुई तो आत्मा पुनः स्वचेष्टा से उस व्यवधान को दूर कर सकती है। इसी भावना से अमरता की मान्यता की उत्पत्ति होती है। अन्त में प्रत्येक कर्ता की यह विशिष्ट भावना होती है—और वस्तुतः इस भावना पर का विश्वास ही नैतिक प्रगति का आदि से अन्त तक निर्वाह करता है--कि कभी-न-कभी कर्ता और बाह्य जगत् का विरोध नष्ट हो जायगा और ऐसी स्थिति उत्पन्न होगी कि व्यक्ति को अपने सद्गुण के तारतम्य में कम या अधिक सुख की उपलब्धि हो। नैतिक कर्ता के इसी विश्वास से ईश्वर की कल्पना की सृष्टि होती है। कर्ता यह मानता है कि ईश्वर में आत्मा और बाह्य जगत् के बीच स्थित संघर्ष का अन्त हो जायगा। वही उसको स्वर्ग अथवा

गोलोक अथवा बहिश्त में स्थान देगा जहाँ उसको चिरसुख और ऐकान्तिक आनन्द की प्राप्ति होगी।

इस प्रकार कांट ने आत्मस्वातन्त्र्य, अमरता और ईश्वर को नैतिकता की तीन अनिवार्य मान्यताएँ माना है। साथ में उसने यह भी कहा है कि ये मान्यताएँ नैतिकता की नियामक शक्तियाँ हैं, उसकी विधायक शक्तियाँ नहीं। अर्थात् कांट के अनुसार नीति इन तीन सत्यों का स्वयं साक्षात्कार नहीं करा सकती। क्योंकि यदि नैतिकता द्वारा हम ईश्वर को प्राप्त कर सकें तो संघर्ष की भावना नष्ट हो जायगी और फलतः नैतिकता की आवश्यकता ही शेष नहीं रह जायगी।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो गया होगा कि शुद्ध बुद्धि के समान ही कर्मबुद्धि में भी संघर्ष की भावना तथा अचल आदर्शों की कल्पना का अन्तर्भाव होता है। इस स्थापना के अनुसार यदि बुद्धितन्त्र दर्शन का पर्यवसान अचलता में होता है, तो उसी प्रकार कर्मतन्त्र दर्शन का पर्यवसान भी अचल आदर्श की स्थापना में होना ही चाहिये। और वास्तव में यह बात है भी। यदि हम नव-स्वातन्त्र्यवाद के दर्शनों का अध्ययन करेंगे तो हमें उपर्युक्त स्थापना की प्रामाणिकता में विश्वास हो जायगा। Philosophy of Values में जो कि नवस्वातन्त्र्यवाद की एक बड़ी गम्भीर धारा है, यह बात बड़ी स्पष्टता से दृष्टिगोचर होती है। म्युन्स्टबर्ग की Over-Personal Self की कल्पना, रिकर्ट की Sollen की

कल्पना आदि सभी चिरंतन मूल्यों के अचलायतन की याद दिलाती हैं।

ठीक इसी तरह बेर्गसों की तत्त्वचिन्ता में कर्मतन्त्र दर्शन की उपर्युक्त असंगति जडता की कल्पना में व्यक्त हुई है। चूँकि बेर्गसों का मूल तत्त्व जीवनोत्सव है जो कि निरन्तर सृजनशील, विकस्वर एवं गतिमान् है, इसलिए बेर्गसों किसी अचलायतन की कल्पना करने से तो रहा। वह स्वयं ईश्वर को भी जीवनोत्सव के समान गतिमान्, विकस्वर एवं सृजनशील मानता है।[३२]

ईश्वर की यह कल्पना कहाँ तक ठीक है इसका विवेचन हम यहाँ नहीं करेंगे। किन्तु एक बात अवश्य है। ईश्वर को जीवन के समान गतिमान् मान लेने मात्र से बेर्गसों की कठिनाइयों का अन्त नहीं होता. किन्तु उनकी तीव्रता और भी बढ़ जाती है। दूसरे कर्मतन्त्र दर्शनों में अचल ईश्वर को मान लेने से यह तो समाधान मिल सकता था कि हमारी नैतिकता का

---

[३२] Now if the same kind of action is going on everywhere, whether it is that which is unmaking itself or whether it is that which is striving to remake itself, I simply express this probable similitide when I speak of a centre from which worlds shoot out like rockets in a fire works display—provided, however, that I do not present this centre as a *thing*, but as a continuity of shooting out. God, thus defined, has nothing of the already made; He is unceasing life, action, freedom." (*Creative Evolution*, p. 262)

अंगभूत कर्ता और बाह्य जगत् के संघर्ष का ईश्वर के साक्षात्कार द्वारा अन्त हो सकता है। किन्तु बेर्गसों में ईश्वरीय आदर्श के अभाव में संघर्ष की भावना के निरसन का कोई साधन नहीं मिलता और जैसा कि हम ऊपर बतला चुके हैं उसके दर्शन में जीवन और जडता के बीच की द्वैत भावना अन्त तक बनी ही रहती है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि बेर्गसों ने अपनी सृजनशील उत्क्रांति की कल्पना द्वारा जगत् की उत्पत्ति के लिये सत्ता में जिस प्रवृत्ति की आवश्यकता होती है उसकी ओर संकेत किया है। बेर्गसों के इस प्रयत्न से पूर्ववर्ती दर्शनों द्वारा परिकल्पित सत्ता-विषयक अचलता का सर्वथा निराकरण हो जाता है। किन्तु बेर्गसों के एक दोष ने उसकी इस मौलिकता को अभिभूत कर दिया। बेर्गसों का वह दोष है सत्ता-विषयक तत्त्व को सरूप मानना। जैसा कि हम ऊपर बतला चुके हैं, वह सत्ता-विषयक तत्त्व का हमारी कर्म-बुद्धि से तादात्म्य करता है। किन्तु हमारी कर्म-बुद्धि स्वभावतः सरूप है। और जो सरूप है उसमें सृजनशीलता का अभाव होता है। यही कारण है कि उसके élan vital (जीवनोत्प्लव) से जडता के सिद्धान्त के रूप में जगत् की समस्त सरूपता विरोध में उपस्थित होती है और अपना अस्तित्व सत्तात्मक तत्त्व से अलग व्यक्त करती है।

अभी तक हमने दार्शनिक तत्त्व-चिंता की तीन प्रतिनिधिभूत प्रणालियों का विवेचन किया है। स्पिनोझा के दर्शन की मीमांसा

करते हुए हमने यह बतलाया है कि स्पिनोझा अपने तत्त्व को सरूप और अचल मानता है। अतः उसका परमाधिष्ठान जगदुत्पत्ति करने में असमर्थ है। अद्वैत दर्शन में सत्ता-विषयक तत्त्व अरूप अवश्य है, किन्तु उसकी अचलता ज्यों की त्यों है। इसलिये ब्रह्म से भी जग की उत्पत्ति की कोई सम्भावना नहीं होती। अन्ततः, बेर्गसों ने सत्ता-विषयक तत्त्व चल मानकर स्पिनोझा और शंकर के सत्ता-विषयक तत्त्वों की अचलता को तो दूर किया है। किन्तु, बेर्गसों के तत्त्व में आत्यन्तिक सृजनशीलता का अभाव इसलिये हो गया कि उसने सत्ता-विषयक तत्त्व का कर्म-बुद्धि से तादात्म्य करके, उसे सरूप बना दिया।

हमारा दृष्टिकोण स्पिनोझा, शंकर और बेर्गसों से इस विषय में भिन्न है कि हम सत्ता-विषयक तत्त्व को अरूप एवं सृजनशील मानते हैं। अरूपता और सृजनशीलता दो अलग-अलग धर्म नहीं हैं, प्रत्युत् सृजनशीलता अरूप का स्वभाव है। जो अरूप है उसमें अपने आपको अभिव्यक्त करने की स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। अरूप की अभिव्यक्ति सरूप में ही हो सकती है। अरूप की अरूप ही में अभिव्यक्ति का कुछ अर्थ नहीं होता। अब अरूप जब सरूप बनता है तब अरूप और सरूप विभिन्न सत्तात्मक नहीं माने जा सकते। क्योंकि सरूप अरूप सत्ता ही का रूपान्तर है। जो सत्ता का रूपान्तर है वह कदापि असत् नहीं कहा जा सकता। सत्ता की दृष्टि से अरूप और सरूप में कोई उच्च अथवा नीच नहीं है।

यहाँ प्रश्न उठ सकता है : अरूप सत्ता अपने आपको किस प्रकार अभिव्यक्त करती है ? इस पर यह उत्तर दिया जा सकता है : वस्तुतः अरूप ही को अभिव्यक्ति की आवश्यकता होती है। सरूप तो अभिव्यक्त है ही। अतः सरूप की अभिव्यक्ति के विषय में कुछ कहना निरर्थक है। सरूप अपनी एक ऐसी जडिमा से अभिभूत रहता है जिसके कारण वह अपने आपको अभिव्यक्त करने में असमर्थ रहता है। पदार्थ जितना ही सरूप होगा उतना ही उसमें सृजनशीलता का अभाव होगा। इस बात को हम इस प्रकार समझा सकते हैं :

एक चित्रकार, अपने चित्र को बनाने के पूर्व, भावी चित्र-विषयक किसी विचार से प्रेरित होता है। जब तक वह विचार कल्पना की स्थिति में रहता है, तब तक वह अधिकांश अरूप रहता है। किन्तु ज्योंही चित्रकार अपने हाथ में तूलिका और वर्ण लेकर चित्रपट पर रेखाएँ अंकित करने लगता है, त्यों ही विचार की अभिव्यक्ति का प्रारम्भ हो जाता है और उसमें सरूपता आने लगती है। यह अभिव्यक्ति चित्रकार के मन के विचार की अपने आपको बतलाने की अथवा आविर्भूत करने की आन्तरिक प्रवृत्ति के परिणाम-स्वरूप ही अग्रसर होती है। चित्रकार के विचार की अभिव्यक्ति का चित्र की एकता से तादात्म्य होता है। अब, ज्यों-ज्यों चित्र की एकता का प्रत्यक्षीकरण होने लगता है, त्यों-त्यों अरूप विचार सरूप बनता जाता है और उतनी ही उसमें अभिव्यक्ति की आवश्यकता शनैः शनैः कम होती जाती है।

अरूप और सरूप का सम्बन्ध ठीक वही है, जो विचार और उसकी अभिव्यक्ति में होता है। सत्ता-विषयक तत्त्व, यद्यपि वह स्वयं अरूप और अकिंचन है, अपनी रूप-प्रणयन-क्रिया द्वारा अपने आप में से सब कुछ निर्माण करता है। इसके विपरीत, सरूप, चूँकि वह सत्ता की वास्तविक अभिव्यक्ति ही है, और अतः समस्त वैभव से पूर्ण है, अपने आपको अभिव्यक्त नहीं कर सकता और अतः अपने आपसे कुछ भी निर्माण नहीं कर सकता।

सत्ता के रूप-विन्यास

प्रथम रूप : (अ) वस्तु, (ब) आत्मा

द्वितीय रूप : (अ) ज्ञान के रूप; (ब) मूल्य

अभी तक हम यह सिद्ध करने का प्रयत्न करते रहे कि सत्ता अरूप है। अर्थात्, सत्ता को किन्हीं भी गुणों से उपन्यस्त करना सम्भव नहीं। गुणोपन्यास में वह विनिश्चितता अपेक्षित है, जिससे अवच्छिन्नता (finitude) का प्रादुर्भाव होता है। विनिश्चितता ही, जैसा कि स्पिनोझा का कथन है, निषेध है। अतः यदि सत्ता को वास्तविक रूप में अनन्त एवं भावात्मक करना हो तो उसे सर्व प्रकार के निषेध और विनिश्चितताओं से युक्त करना होगा और अतः उसे सर्वगुणों से विरहित समझना होगा।

परन्तु यद्यपि सत्ता स्वयं अरूप और अविनिश्चेय है, तथापि वह समस्त सरूपता और निश्चितता का आधार है। आपाततः, यह स्थापना रहस्यमय प्रतीत होती है। किन्तु हमारे द्वारा प्रतिपादित सत्ता के स्वरूप को ध्यान में रखने पर उसका अयुक्ताभास नष्ट हो जायगा। यद्यपि सत्ता अरूप है, तथापि वह सृजनशील है। उसमें एक ऐसी प्रवृत्ति अन्तर्हित है जिसके द्वारा वह अपने आपको सरूप में आविर्भूत करती है।

इस प्रकार, सरूप जगत् सत्ता की रूप-प्रणयन क्रिया का परिणाम है। इस अध्याय में हम सत्ता के रूप-प्रणयन से उद्-

भूत अत्यन्त आधारभूत रूप-विन्यासों को निश्चित करने का प्रयत्न करेंगे।

सर्वप्रथम हम सत्ता के दो प्रथम रूप-विन्यास स्थिर कर सकते हैं, (अ) वस्तु (ब) आत्मा। वे क्रमशः रूप-प्रणयन की दो प्रवृत्तियों से, अर्थात् (१) सत्ता के बाह्य जगत् में रूप-विन्यास और (२) सत्ता के अंतर्जगत् में रूप-विन्यास से उद्भूत है। हम अब वस्तु और आत्मा की विभिन्न विशेषताओं को बतलाने की चेष्टा करेंगे।

वस्तु यद्यपि सरूप है तथापि अपूर्ण होती है अर्थात् वह स्वावलम्बी (Self-contained) नहीं होती। बाह्य जगत् की ओर ध्यान देने से यह बात स्पष्ट हो जायगी। बाह्य जगत् अनेक परस्पराबद्ध 'वस्तुओं' की साधारण समग्रता है। यह बात सच है कि हम एक वस्तु को दूसरी वस्तुओं से अलग कर सकते हैं, तथापि जगत् की कोई भी वस्तु दूसरी वस्तुओं से सम्बन्ध रखे बिना अपना अस्तित्व कायम नहीं रख सकती। इसका कारण यह है कि प्रत्येक विशिष्ट वस्तु का अस्तित्व उसके वस्तुजात से सम्बंध द्वारा विनिश्चित रहता है। अतः, वस्तु पूर्ण नहीं हो सकती, क्योंकि उसे अपने अस्तित्व के लिए अन्य वस्तुओं की अपेक्षा रहती है। अपने आत्यंतिक पृथकत्व में, वस्तु अकिंचन (Non-entity) बन जाती है, क्योंकि ऐसी अवस्था में वह वस्तुजात से खींचकर निकाला हुआ एक विकृत अंश बन जाती है।

आत्मा का स्वभाव वस्तु से भिन्न है। वस्तु के विरोध में, आत्मा पूर्ण होती है। वस्तुतः आत्मा व्यक्ति का ही पर्यायवाची शब्द है। व्यक्ति की अपेक्षा हमें 'आत्मा' शब्द इसलिए अधिक उपयुक्त जँचता है कि व्यक्ति को हम कई अर्थों में प्रयुक्त कर सकते हैं। जैसे, व्यक्ति हमारे भौतिक शरीर को भी कहा जा सकता है, अथवा हमारे उस मानसिक जीवन को भी कहा जा सकता है जिसे जेम्स empirical ego or 'me' कहता है, अथवा वह हमारे जीवन के उस नैतिक पहलू को निदर्शित करने के लिए प्रयुक्त किया जा सकता है जिसके द्वारा हमारा कानूनी व्यक्तित्व (Legal personality) बनता है। किन्तु वास्तविक व्यक्तित्व इन सबसे अलग है। उदाहरणार्थ, भौतिक शरीर की तरह हमारी आत्मा एकदम वास्तविक (actual) नहीं है, न वह हमारे अनुभूयमान व्यक्तित्व (empirical ego) की तरह काल से अवच्छिन्न है और न वह कानूनी व्यक्तित्व का सहानुवर्ती है इसलिए कि कानून का जिस नैतिकता से सम्बंध है वह हमारी आत्मा अथवा व्यक्ति के कई पक्षों में से एक है। वस्तुतः आत्मा में मनुष्य का सारा *काल्पनिक* (ideal) अस्तित्व अंतर्भूत है। वह अपनी अखिलता में ज्ञानात्मक, क्रियात्मक और भावनात्मक इन तीनों प्रवृत्तियों को एक ही एकता में आबद्ध करती है। इस आन्तरिक अथवा काल्पनिक अस्तित्व का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण लक्षण यह है कि वह अवयवी (System) होता है। अर्थात् वह विभिन्न अवयवों का संघातमात्र नहीं है। उसका

प्रत्येक अवयव परस्परानुविद्ध है। उसके प्रत्येक अवयव के अस्तित्व में दूसरे अवयवों का अस्तित्व अपेक्षित है। इस प्रकार वस्तु के विरोध में, आत्मा स्वावलम्बी (Self-contained) है। वह अपने में एक पूर्ण अवयवी है और अतः उसे दूसरी आत्माओं पर आश्रित रहने की आवश्यकता नहीं होती।

आत्मा, अपनी काल्पनिकता एवं आंतरिकता के कारण, कई बार ग़लतफ़हमी का कारण बनी है। उदाहरणार्थ, ब्रॅडले की आत्मा की कल्पना में इसी प्रकार की एक ग़लतफ़हमी दृष्टिगोचर होती है। ब्रॅडले इतना तो अवश्य मानता है कि आत्मा के अस्तित्व में शंका नहीं की जा सकती। किन्तु वह आत्मा को, सरूप न समझते हुए, अरूप मानता है। ब्रॅडले का यह कथन है कि आत्मा के आधेय, जैसे भावना, संवेदना, विचार इत्यादि बुद्धि-गम्य और संगत नहीं हैं। अतः वे आभासमात्र (appearances) हैं, सत्तात्मक नहीं।[1] अतः यदि सचमुच आत्मा का अस्तित्व कायम रखना हो, तो उसे उसके समस्त आधेयों से विरहित बनाकर अरूप समझना होगा।

अब, आत्मा की यह कल्पना सर्वथा सदोष है। आत्मा एक अवयवी है और अतः उसका कोई भी अंश उसकी समस्त एकता को आघात पहुँचाये बग़ैर उससे विमुक्त नहीं किया जा सकता। कोई भी भावना अथवा विचार, जो विशिष्ट समय में आत्मा का

---

[1] इस सम्बन्ध में *Appearance and Reality* chap. IX p. 76 को देखिये।

अंश होता है, उसी समय पूर्णरूप से समझ में आ सकता है जब कि वह समस्त आत्मा के प्रकाश में देखा जायगा। अन्यथा, वह हमें टुकड़े जैसा, कुछ तो भी निरर्थक अथवा, जैसा कि ब्रॅडले का कथन है असंगत प्रतीत होगा। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि आत्मा अरूप नहीं हो सकती। आत्मा की पूर्णता ही इस बात का द्योतक है कि वह सरूप है अथवा आधेयों से परिपूरित है। अतः ब्रॅडले का यह कथन कि आत्मा अरूप है, गलत है।

अभी तक हमने सत्ता के रूप-प्रणयन के प्रथम रूपों का ही विवेचन किया है। किन्तु, रूप-प्रणयन के द्वितीय रूप भी होते हैं। ये रूप-प्रणयन के प्रथम रूपों के विशेष रूप-विन्यास अथवा अभिव्यक्ति हैं। उदाहरणार्थ, वस्तु का रूप-विन्यास हमें ज्ञान के रूप (categories of knowledge) प्रदान करता है; उसी प्रकार, आत्मा के रूप-विन्यास से हमें मूल्यों की उपलब्धि होती है। अतः, ज्ञान के रूप और मूल्य रूप-प्रणयन के द्वितीय रूप-विन्यास हैं।

सर्वप्रथम हम ज्ञान के रूपों का विवेचन करेंगे। कांट के अनुसार, ज्ञान के रूप शुद्ध बुद्धि में अन्तर्हित *a priori* तत्त्व हैं। यह मत ज्ञान के रूपों को एकदम स्वात्मक (Subjective) तत्त्व बना देता है। कांटीय दर्शन में उपलब्ध ज्ञान के रूपों की स्वात्मकता को इस प्रकार अधिक स्पष्ट किया जा सकता है:

अपनी *शुद्ध बुद्धि की मीमांसा* में कांट आत्मा की समन्वयात्मिका एकता (Synthetic unity) की ओर हमारा ध्यान

खींच कर, ह्यूम के संवेदनावाद का प्रत्याख्यान करना चाहता था। आत्मा की एकता की ओर दुर्लक्ष्य करने के कारण ही कांट के अनुसार, ह्यूम ज्ञान में अन्तर्हित व्यापकता (universality) की व्याख्या नहीं कर सका और फलतः यह कहने के लिये विवश हो गया कि ज्ञान विशिष्ट और अलग-अलग संवेदनाओं से बनता है। अब यद्यपि ह्यूम के दर्शन में समन्वयात्मक निर्णयों (Synthetic Judgment) की सम्भावना का निषेध नहीं है, तथापि वह उन नियत (necessary) और व्यापक अर्थात् (a priori) समन्वयात्मक निर्णयों की व्याख्या करने में असमर्थ रहा जिनके अभाव में गणितीय और प्राकृतिक विज्ञानों का काम ही नहीं चल सकता। अतः निर्णयों की *a priority* की व्याख्या करने के लिये कांट अपने *अतीन्द्रिय विश्लेषण* में कहता है कि संवेदनाओं के बहुत्व का विचारों की परिकाल्पनिक (conceptual) क्रिया द्वारा समन्वय किया जाना चाहिये। और जिन भिन्न-प्रकारों से विचार अपनी संवेदनाओं का समन्वय करता है, उन्हें कांट ज्ञान के रूप कहता है। इस प्रकार, कांट के अनुसार, ज्ञान के रूप विचार की परिकाल्पनिक क्रियाओं के अतिरिक्त और कुछ नहीं है और अतः उनका स्वभाव शुद्ध स्वात्मक है।

ज्ञान के रूप के विषय में कांट का यह मत यथार्थ नहीं है। वस्तुतः ज्ञान के रूप स्वात्मक नहीं किन्तु परात्मक हैं। इसका कारण यह है: ज्ञान के रूप, जैसा कि हम बतला चुके हैं, वस्तु

अथवा बाह्य जगत् के विशिष्ट रूप-विन्यास हैं । बाह्य जगत् परात्मक इस अर्थ में है कि उसका अस्तित्व आत्मा के अनुभव से बाह्य है, अथवा यों कहिये कि उस पर अवलम्बित नहीं है। फलतः ज्ञान के रूप जो कि हमारे अनुभव में बाह्य जगत् के आधार-भूत तत्त्व बनकर प्रविष्ट होते हैं परात्मक हैं, स्वात्मक नहीं।

अब ज्ञान के रूपों को स्वात्मक तत्त्व मानने की कांट की ग़लती का उद्गम इस बात में मिलता है कि कांट ज्ञान के रूपों का संशोधन (deduce) करने का सोपपत्तिक प्रयत्न नहीं करता। इसके विपरीत, वह उन्हें अरिस्टॉटल के रूपात्मक तर्क-शास्त्र (formal logic) से ज्यों के त्यों तैयार ले लेता है। कांट का यह तरीका, जैसा कि केअर्ड बतलाता है,[२] उसकी अतीन्द्रिय तर्क-विषयक धारणा से मेल नहीं खाता। क्योंकि रूपात्मक तर्क-शास्त्र में प्राप्य ज्ञान के विभिन्नरूप मन की परिकाल्पनिक क्रिया द्वारा उपलब्ध होते हैं। अर्थात्, वे ऐसी विनिश्चितताएँ हैं जो "निर्णय के उपादान (matter) से भिन्न जो रूप हैं उनसे ही संलग्न है और अतः उनका उस तर्कशास्त्र में समावेश होता है जो केवल मीमांसात्मक है।" किन्तु कांट को यह बात नहीं चाहिये थी। उसका कार्य तो था उन विभिन्न प्रकारों को बतलाना जिनके द्वारा परात्मक जगत् के ज्ञान की सम्भावना के हेतु "आत्मा की एकता" "संवेदना के बहुत्व" का *समन्वय करती है*। यह क्रिया तत्त्वतः

---

२ Caird की *Critical Philosophy of Kant*, Vol. 1, chap iii, pp. 388 ff को देखिये।

उस क्रिया से बिलकुल भिन्न है जिससे रूपात्मक तर्क-शास्त्र का सम्बन्ध है; क्योंकि पहिली क्रिया में विभिन्न प्रकार विचार की *समन्वयात्मिका क्रिया* द्वारा विनिश्चित होते हैं, जब कि दूसरी क्रिया में विचार की क्रिया सर्वथा *विश्लेषणात्मिका* होती है। इन दोनों के अन्तर को हम दूसरी तरह से स्पष्ट कर सकते हैं। वह समन्वयात्मिका क्रिया, जिससे अतीन्द्रिय तर्क का सम्बन्ध है, इसलिये परात्मक है कि उसमें मन को बाहर से आई हुई संवेदनाओं को विनिश्चित करने के लिये अपनी परिधि के बाहर जाना पड़ता है; किन्तु उस विश्लेषणात्मिका क्रिया में, जिसका रूपात्मक तर्क-शास्त्र से सम्बन्ध है, मन आत्मस्थ रहता है। कांट ने विचार की इन दोनों क्रियाओं के अन्तर पर सम्यक् प्रकार से ध्यान नहीं दिया था। फलतः वे ज्ञान के रूप, जिन्हें (यदि कांट *अतीन्द्रिय तर्क* की अपनी धारणा पर स्थित रहता तो) परात्मक होना चाहिये था, शुद्ध रूप से स्वात्मक तत्त्व ही बने रहे, क्योंकि वे सर्वांशेन रूपात्मक तर्कशास्त्र पर ही अधिष्ठित थे।

ज्ञान के रूपों के विषय में कांट की इस ग़लत धारणा से उसे *शुद्ध बुद्धि की मीमांसा* के *अतीन्द्रिय संशोधन* (Transcendental Deduction) में बहुत कठिनाई हुई। यहाँ कांट यह बतलाने के लिये प्रयत्नशील है कि किस प्रकार संवेदना और परिकल्पना के परस्पर संयोग से परात्मक जगत् का ज्ञान उत्पन्न होता है। अब, अपनी मीमांसा के प्रथम संस्करण में, कांट ने ज्ञान के रूपों को स्वात्मक मानकर उनका स्वात्मक संशोधन (Subjective

deduction) दिया है। इस संशोधन में उन विभिन्न समन्वयों का समावेश होता है जिनके द्वारा ज्ञाता संवेदनाओं का परिकल्पना में अन्तर्भाव (subsume) करता है। किन्तु सत्यज्ञान की *परात्मकता* जो उसे मिथ्या-ज्ञान से पृथक् करती है, उन विभिन्न समन्वयों द्वारा, जो सर्वथा स्वात्मक है, क्वचित् उपलब्ध हो सकती है। अतः कांट ने अपनी *मीमांसा* के द्वितीय संस्करण में *स्वात्मक संशोधन* को एकदम उड़ा दिया और उसके स्थान में *परात्मक संशोधन* दिया। कांट कहता है :

"I have never been satisfied with the explanation of judgment given by the logicians, that it is the idea of a relation between two conceptions. I will now raise the objection that this explanation is defective, as being adapted only to the categorical, and not to hypothetical, or disjunctive judgments (which rather express a relation not of conceptions but of judgments) though this oversight leads to many awkward consequences. But I must point out that it tells us nothing about the nature of the relation in question. When, however, I investigate more accurately the relation of the elements of knowledge brought together in every judgment, and when I distinguish it, as belonging to the understanding, from a relation of association, established according to the laws of a reproductive imagination (a relation which has only subjective validity), I find that judgment is nothing but the process by which we bring given ideas to the *objective* unity of apperception. This is just what is implied

in the use of the verb of existence as the copula. The use of this verb points to the fact that we are dealing with the *objective* unity of given ideas, as distinguished from their subjective association in our minds; for it indicates that thay are brought into relation to the original apperception and its necessary unity, and *that* even where the judgment itself is empirical and, therefore, accidental. Thus in the judgment; "Bodies are heavy," I do not mean to assert that "body" and "weight" as empirically perceived are necessarily *combined with each other*: but I do mean to assert that they are combined with each other *by means of the necessary unity* of aperception in the synthesis of perception, i. e. they are combined according to the objective principles of determination, which are deduced from the one ultimate principle of the unity of apperception, under which all ideas must be brought, if knowledge is to be derived from them."[3]

यहाँ कांट अंततः यह घोषित करता है कि निर्णय में आत्मा की परात्मक एकता अपेक्षित है। इससे यह स्पष्ट है कि परात्मक विनिश्चय की नियति उन तत्त्वों, उदाहरणार्थ, रूपात्मक तर्क के तत्त्वों द्वारा, जो सर्वथा स्वात्मक हैं, प्राप्य नहीं है। अतः ज्ञान के रूप, जो कि परात्मक जगत् के अनुभव में अन्तर्हित तत्त्व हैं, अवश्य ही परात्मक हैं।

वस्तुतः ज्ञान के रूपों की परात्मकता ही एक ऐसी मुख्य विशेषता है जो उन्हें उन मूल्यों से अलग करती है जो आत्मा

---

[3] *Critique of Pure Reason*, B. 141.

अथवा अन्तर्जगत् के रूप-विन्यास हैं। मूल्यों का अस्तित्व वास्तविक नहीं, किन्तु काल्पनिक (ideal) है। अर्थात्, मूल्य आत्मा के अनुभव की विनिश्चितताएँ हैं, और अत: वे उससे अलग नहीं माने जा सकते। इसलिये, मूल्य उन ज्ञान से रूपों के विपरीत, जो कि परात्मक हैं, सर्वथा स्वात्मक हैं। हमें ज्ञान के रूप और मूल्यों के इस अन्तर को स्पष्टतया ध्यान में रखना चाहिये।

हम अब अच्छी तरह समझ सकते हैं कि रूप-प्रणयन की क्रिया सत्तात्मक तत्त्व को किसी प्रकार आघात न पहुँचाते हुए ज्ञान के रूपों और मूल्यों की किस प्रकार सृष्टि करती है। ज्ञान-मीमांसा और कर्म-मीमांसा दोनों ऐसे तत्त्व हैं जिनका सत्ता, जो स्वयं अरूप और निर्गुण है और इसीलिये ज्ञान के रूप और मूल्यों से परे है, के *रूपविन्यासों* से सम्बन्ध है।

इन निष्कर्षों के प्रकाश में हमें हेगेलीय दर्शन की त्रुटि बहुत जल्द समझमें आ सकेगी। हेगेल की त्रुटि इस बात में मिलती है कि वह यह समझने में सर्वथा असमर्थ रहा कि रूप-प्रणयन-क्रिया परमात्मा की आत्म-सन्तुष्टि की (Selffulfilment) अंतरस्थ आत्मा है। हेगेल अवश्य यह कहता है कि ज्ञान के रूप (जिनमें वह व्यावहारिक जीवन के मूल्यों का भी समावेश करता है) परमात्मा के ससीम आत्मा में, और उनके द्वारा, अपना आत्म-सन्तोष प्राप्त करने के फलस्वरूप उत्पन्न होते हैं। किन्तु हेगेल का यह विश्वास ग़लत है कि जिस क्रिया द्वारा परमात्मा अपने

आपको आविर्भूत करता है वह *तर्क का क्षण* (Logical moment) है। परमात्मा की आत्म-सन्तुष्टि की क्रिया तर्क का क्षण नहीं कही जा सकती, क्योंकि वह तर्क से भी आद्य है। तर्क-शास्त्र, जैसा कि हम बतला चुके हैं, रूप-प्रणयन का परिणाम है। यदि रूप-प्रणयन को नियति माना जाता है तो उसकी नियति अतितार्किक (extra-logical) है। वह सत्ता की नियति है, न कि विचार की। रूप-प्रणयन सत्ता की सृजनशीलता का ही दूसरा नाम है। पुनश्च, हेगेल ज्ञान के रूपों और मूल्यों की विशेषताओं का यथार्थरूप से आकलन नहीं कर सका। ज्ञान के रूप, जैसा कि बतलाया जा चुका है, सत्ता का बाह्य जगत् में, रूप-विन्यास का परिणाम है। उसी प्रकार मूल्य सत्ता के अपने आपको अन्तर्जीवन में व्यक्त करने की प्रवृत्ति से निर्मित हैं। हमने इन दोनों के अन्तर को भी स्पष्टरूप से बतलाने का प्रयत्न किया है। ज्ञान के रूप, चूँकि वे बाह्य जगत् द्वारा विनिश्चित हैं, इसलिये परात्मक हैं, इसके विपरीत, मूल्य आत्मा अथवा अन्तर्जगत् द्वारा विनिश्चित हैं, अतः वे स्वात्मक हैं। किन्तु हेगेल ज्ञान के रूप एवं मूल्यों में कोई अन्तर नहीं करता। वह इन दोनों को समानरूप से अपनी (dialectic) विधि के नियन्त्रण में लाता है। Dialectic विधि शुद्धरूपेण तर्कात्मिका (logical) विधि है। अतः उसमें से उन कर्मतंत्रात्मक मूल्यों की निष्पत्ति नहीं हो सकती जिनका स्वभाव ज्ञान के रूपों से बिलकुल भिन्न है।

हेगेल के दर्शन की कमज़ोरी रूप-प्रणयन के तत्त्व द्वारा ही दूर की जा सकती है। रूप-प्रणयन ही तीन विभिन्न दार्शनिक तंत्रों, अर्थात् तत्त्वज्ञान, ज्ञानमीमांसा और कर्ममीमांसा के विभिन्न अधिकारों को सुरक्षित रख सकता है। क्योंकि जब कि तत्त्वज्ञान का सम्बन्ध अरूप सत्तात्मक तत्त्व से होता है, ज्ञानमीमांसा और कर्ममीमांसा उसी सत्ता के सरूप रूप-विन्यासों से सम्बन्ध रखती हैं।

अब हम प्रस्तुत अध्याय के अवशिष्ट अंश में ज्ञान के विशिष्ट रूपों पर कुछ अधिक प्रकाश डालने की चेष्टा करेंगे।

स्मरण रहे कि सत्ता का बाह्य जगत् में रूप-विन्यास का प्रथम रूप वस्तु है और द्वितीय रूप ज्ञान के रूप हैं। प्रथम और द्वितीय रूपों में कोई बाह्य सम्बन्ध नहीं है जैसा कि इमारत की एक मंजिल का दूसरी मंजिल से होता है। इसका कारण यह है कि रूप-प्रणयन सत्ता की आन्तरिक सृजनशीलता का द्योतक है। अब सृजनशीलता हमेशा सावयव (Organic) होती है। अतः सत्ता के विभिन्न रूप-विन्यास सत्ता की सृजनशीलता के विभिन्न कार्य नहीं हैं। इसके विपरीत, वे एक आन्तरिक नियति से आबद्ध हैं ताकि रूप-विन्यास का प्रत्येक उच्च रूप निम्न रूप की उसी दिशा में विशेषाभिव्यक्ति अथवा विकासमात्र है।

उपर्युक्त विवेचन से हमें ज्ञान के रूपों का वास्तविक स्वभाव जानने में सहायता मिल सकती है। ज्ञान-रूपात्मक व्यवस्था वस्तुता के ऊपर कहीं बाहर से आकर अध्यस्त नहीं हो जाती।

इसके विपरीत, वह वस्तु के स्वभाव से विनिःसृत है। यहाँ हमें यह अवश्य समझ लेना चाहिये कि ज्ञानरूपात्मक सम्बन्ध विभिन्न वस्तुओं के पारस्परिक सन्बन्धों जैसे नहीं हैं। क्योंकि ऐसे विशिष्ट सम्बन्ध कुछ ही वस्तुओं में रह सकते हैं। उदाहरणार्थ, 'यहाँ', 'वहाँ', 'अब', 'तब' इत्यादि शब्दों द्वारा निर्दशित सम्बन्ध विशिष्ट कहे जा सकते हैं। इसके विपरीत ज्ञानरूपात्मक सम्बन्धों की व्याप्ति समस्त वस्तुजात में होती है। वे प्रत्येक वस्तु की रचना में विद्यमान हैं। अत: वे सब सम्बन्धों में अत्यन्त आधार-भूत और व्यापक हैं और एक प्रकार से वस्तु के निर्मायक तत्त्व ही हैं।

ज्ञान के रूपों के विषय में जानने योग्य एक विशेष बात और भी है। ऊपर हम यह बता चुके हैं कि वस्तु कभी भी अविकल पूर्ण नहीं हो सकती। क्योंकि प्रत्येक वस्तु दूसरी से बाह्य है और उससे परिच्छिन्न है। अत: प्रत्येक वस्तु में कुछ न कुछ अपूर्णता और बाह्यता होती ही है। अब चूँकि ज्ञान के रूप सीधे वस्तु से विनिर्गत हैं, अतः वही बाह्यता और अपूर्णता, जो कि वस्तु की विशेषताएँ हैं, ज्ञान के रूपों में भी आ जाती हैं। ज्ञान के विभिन्न रूपों की तरतीब लगाने में निम्नांकित तत्त्व उपयोगी सिद्ध होगा। यद्यपि बाह्यता और अपूर्णता सारे ज्ञान के रूपों की विशेषताएँ हैं, तथापि विभिन्न रूपों में संप्राप्त इन्हीं विशेषताओं में अन्तर होता है। यह अन्तर प्रकार का नहीं है, किन्तु तारतम्य का है। ज्ञान का रूप जितना ही अधिक आन्तरिकता अथवा

अन्तस्संगठन अपने आपमें बतलाता है, उतनी ही उसकी बाह्यता कम होती है। इस तत्त्व का अनुसरण करते हुए, हम विभिन्न ज्ञान के रूपों की तरतीब उनकी आन्तरिकता के तारतम्य के अनुसार लगा सकेंगे। किन्तु साथ में हमें यह भी स्मरण रखना होगा कि यह आन्तरिकता पूर्ववर्ती पैरेग्राफ़ में निदर्शित कारणों से कदापि पूर्ण नहीं हो सकती।

उपर्युक्त तत्त्वों को ध्यान में रखते हुए ज्ञान के रूपों की तरतीब इस प्रकार है: —

(१) द्रव्य-गुण

(२) कारण-कार्य

(३) दिक्

(४) काल

(५) आधार और निष्कर्ष (Ground and Consequence)

द्रव्य-गुण : ज्ञान के रूपों के तारतम्य में द्रव्य-गुण की स्थिति सबसे नीची है। यह रूप उस तत्त्व का निदर्शक है जिसके द्वारा वस्तु अपने अस्तित्व को बतलाती है अथवा उसके बाह्याभासों में अपना तादात्म्य स्थिर रखती है। इस प्रकार मानी जाने पर, द्रव्य-गुण वस्तु की कल्पना के अत्यन्त सन्निकट आता है। वस्तु बाह्य जगत् का एक ऐसा अंश है जो हममें प्रत्येकत्व के अनुभव को विनिश्चित करता है। द्रव्य-गुण-रूप वस्तु के एकत्व पर

अधिक ज़ोर देकर, 'वस्तु' शब्द में जो अर्थ अन्तर्हित है, उसकी साधारण अभिव्यक्ति करता है।

किन्तु, ऊपर जो कहा गया है उसके बावजूद, द्रव्य-गुण वस्तु का शुद्ध स्वरूप नहीं है। इसका यह कारण है कि द्रव्य-गुण में केवल वस्तु की अपेक्षा संगठन की अधिक मात्रा अपेक्षित है। उदाहरणार्थ, द्रव्य वह वस्तु है जो अन्य द्रव्यों के सम्बन्ध में उपस्थित होती है। इसका प्रभाव यह है कि द्रव्य, जो कि वस्तु की एकता का ही पर्यायवाची है, अपने आपको उसी प्रकार की अन्य एकताओं अथवा द्रव्यों के साथ क्रिया और प्रतिक्रिया द्वारा स्थित रखता है। जो द्रव्य दूसरे द्रव्यों के सम्बन्ध में नहीं आता वह तो केवल कल्पना है। वह उन पुरानी वस्तुओं का आधार माना जानेवाला कुछ तो भी अज्ञेय जडाधिष्ठान की कल्पना जैसा है और इसीलिये वह निरर्थक है। द्रव्य का व्यक्तित्व अन्य द्रव्यों के निरन्तर आदान-प्रदान के परिणाम-स्वरूप ही अधिक स्पष्टता से व्यक्त होता है। इस प्रकार, द्रव्य की कल्पना में अन्य द्रव्यों से सम्बन्ध अपेक्षित है। इससे हम सुगमता से यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि द्रव्य का रूप पूर्णता अथवा अखिलता की ओर अपनी प्रवृत्ति बतलाता है। यह बात, वस्तु की कल्पना से मेल नहीं खाती। क्योंकि वस्तु निरन्तर अपूर्ण होती है। अतः द्रव्य की कल्पना में वस्तु की कल्पना की अपेक्षा कुछ तो भी अधिक विशेषता अन्तर्हित है।

पुनश्च द्रव्य, दूसरे द्रव्यों से सम्बन्ध की अपेक्षा रखने के

अतिरिक्त, अपने अवयवों से भी पूर्णता के एक विशिष्ट सम्बन्ध में सम्मिलित होता है। द्रव्यों के अवयवों को हम गुण कहते हैं। द्रव्य और गुण परम्परावलम्बी हैं। विभिन्न गुण किसी एक वस्तु के होते हैं और वस्तु की एकता उसके विभिन्न गुणों द्वारा अपने आपको अभिव्यक्त करती है। द्रव्य का उसके गुणों से यह सम्बन्ध आन्तरिकता अथवा समग्रता (totality) की ओर प्राथमिक प्रवृत्ति बतलाता है। फलतः यहाँ भी द्रव्यरूप केवल वस्तुता की खंडयुक्तता की स्थिति का अतिक्रमण करता है।

किन्तु यद्यपि द्रव्य की कल्पना वस्तु से ऊँची है, तथापि वह हमें अधिक दूर नहीं ले जाती। द्रव्य और गुणों के बीच का सम्बन्ध इतना अविच्छिन्न नहीं है कि जिसके कारण एक का अस्तित्व दूसरे द्वारा विनिश्चित हो सके। प्रधान और गौण गुणों की परम्परागत विभक्तता इस बात का ज्वलंत प्रमाण है। लॉक ने प्रधान गुणों का, उनकी तुलनात्मक स्थिरता के कारण, वस्तु की स्थिरता से, तथा गौण गुणों का वस्तुओं की चलता से, तादात्म्य किया। साथ ही उसने गौण गुणों को वस्तुओं में अन्तर्हित नहीं माना, किन्तु उन्हें ज्ञानाश्रित समझा। अब, यदि हम प्रधान गुणों का द्रव्य से तादात्म्य करें और गौण गुणों का द्रव्य के गुणों से, तो लॉक के अनुवर्ती दार्शनिकों द्वारा लॉक के प्रधान और गौण गुण-विषयक सिद्धान्त का खंडन होने के बावजूद भी, वह द्रव्य और उसके गुणों में पाये जानेवाले असंगत सम्बन्ध की ओर हमारा ध्यान खींचता है। अर्थात्, वह इस बात को बतलाता है

कि द्रव्य उसके गुणों की सत्ता का आधार नहीं है। गुण, वास्तविकता में, द्रव्य से विनिःसृत नहीं हैं। द्रव्य को गुण होते हैं, किन्तु स्वयं द्रव्य गुण नहीं है। द्रव्य का गुण से बहुत कुछ वही सम्बन्ध है जो स्वामी का उसके अधिकार में स्थित वस्तु से होता है।

द्रव्य एक है किन्तु गुण बहुत होते हैं। किन्तु यह बात किसी प्रकार की असंगति का कारण नहीं है, जिस प्रकार एक मनुष्य का अधिक वस्तुओं पर प्रभुत्व रखना असंगतिपूर्ण नहीं होता। यदि द्रव्य और गुणों का सम्बन्ध आंतरिक होता, तो द्रव्य में अनेक गुण होना असंगति का कारण होता।

अब हम *कार्यकारण-रूप* पर विचार करेंगे। पिछले अध्याय में, हम यह बतला चुके हैं कि कार्यकारण-सम्बन्ध में कौनसी भावनाएँ अन्तर्हित हैं। साथ ही हमने यह भी बतलाया है कि कार्य-कारण-सम्बन्ध केवल दो सरूप पदार्थों में ही प्रस्थापित किया जा सकता है। इस सम्बन्ध से आबद्ध पदार्थ आपस में प्रतिक्रिया करते हैं। इस प्रतिक्रिया के सिलसिले में उनमें परस्पर शक्तियों का आदान-प्रदान अथवा संक्रमण होता है। पदार्थों के इस शक्ति-संक्रमण से उनमें जो स्थित्यंतर होता है उसे ही हम कार्य कहते हैं। इस प्रकार समझे जाने पर कार्य-कारण रूप में, जैसा कि प्रायः समझा जाता है, कारण से कोई नई वस्तु उत्पन्न नहीं होती। किन्तु पदार्थों में परस्पर प्रतिक्रिया होकर उनमें केवल स्थित्यंतर होता है।

जब हम पदार्थों को कार्य-कारण-सम्बन्ध द्वारा प्रतिक्रिया करते हुए पाते हैं, तब निस्संशय द्रव्य-गुण के दृष्टिकोण की अपेक्षा हम इस नए दृष्टिकोण में विशेष उठाव का अनुभव करते हैं। अब वस्तुएँ हमको अलग-अलग नहीं मालूम पड़तीं। किन्तु अब वे कार्य-कारण-सम्बन्ध द्वारा आपस में आबद्ध हो जाती हैं। बहुत पहिले जब किसी आदिम मनुष्य ने रात्रि में गगन-मण्डल की ओर देखा होगा, तब उसको आकाश के तारे अस्त-व्यस्त विकीर्ण पदार्थों की तरह दीखे होंगे। किन्तु जब न्यूटन ने यह देखा कि आकाश में प्रत्येक तारा एक दूसरे के प्रति आकर्षण एवं प्रत्याकर्षण से विनिश्चित है, तब उसका दृष्टिकोण द्रव्य-गुण से उठकर कार्य-कारण की ओर बढ़ा। भौतिक और रसायन-विज्ञानों ने न्यूटन के बाद बहुत प्रगति कर ली है। थोड़े दिनों पूर्व, कुछ वैज्ञानिक तो यह कहने लगे थे कि यदि किसी घटना पर प्रतिक्रिया करनेवाली समस्त शक्तियों का सम्यक् प्रकार से आकलन हो जाय, तो यह बतलाया जा सकता है कि विशिष्ट काल में विशिष्ट स्थान पर कौन-सी घटना घटित हो सकती है। यद्यपि आजकल वैज्ञानिकों का यह कथन गर्वोक्ति मानी जाती है, तथापि विज्ञान की प्रगति देखते हुए कार्य-कारण-सम्बन्ध को सर्वथा तथ्यहीन मानना भी उतना ही अनुपयुक्त है। विशिष्ट परिस्थिति में विशिष्ट पदार्थ अपने आप में विशिष्ट परिवर्तन बतलाते हैं, यह बात तो माननी होगी। वस्तुतः इस बात में हमारे दृढ़ विश्वास के कारण ही, हम अपने दैनंदिन घटनाओं में से कई का प्रायः बड़ी सफलता से अन्दाजा लगा लेते

हैं, जिसके कारण हम अपने जीवन में बड़ी सुगमता का अनुभव करते हैं।

इस प्रकार, कार्य कारण-रूप बाह्य जगत् को हमारे सामने संघात के रूप में उपस्थित नहीं करता। किन्तु प्रत्येक वस्तु को परस्पर प्रतिक्रियमाण बतला कर एक वस्तुजात (Totality of things) की कल्पना को निर्माण करने में सहायक होता है। वस्तुजात की कल्पना द्वारा द्रव्य रूप में वस्तु के परिकल्पित पृथक्त्व का धीरे-धीरे लोप होने लगता है।

किन्तु यद्यपि कार्य कारण-रूप द्रव्यरूप की अपेक्षा अपने आपमें अधिक आन्तरिकता बतलाता है, तथापि उसकी आन्तरिकता संपूर्ण नहीं है। कार्य-कारण-सम्बन्ध से आबद्ध पदार्थ केवल द्रव्य की अपेक्षा अपने आपमें विशिष्ट घनिष्टता का परिचय अवश्य देते हैं; तथापि, ऐसे पदार्थों में, थोड़े-बहुत अंशों में, विविक्तता रहती है। यदि प्रतिक्रियमाण पदार्थों में यह विविक्तता न हो तो कार्य-कारण में किसी प्रकार का अन्तर ही नहीं रहने का। उदाहरणार्थ, जिस क्रिया द्वारा बीज से अंकुर फूटता है उसमें ऐसा अविच्छिन्न क्रम और सातत्य है कि वहाँ हम कारण को कार्य से क्वचित् अलग कर सकते हैं। कारण से कार्य की ओर संक्रमण एक अविच्छिन्न क्रिया है जिसमें किसी प्रकार के स्पष्ट विभाग नहीं होते। तथापि, जब अंकुर फूटकर बीज को स्थानापन्न कर देता है, तब यह नहीं कहा जा सकता कि बीज बिलकुल था ही नहीं। इससे तो हम शून्यवाद के हामी होंगे। अतः हमें यह निष्कर्ष मान लेना

पड़ता है कि कारण अपने कार्य से अविच्छिन्न रूप से आबद्ध होते हुए भी उससे पृथक् रहता है। अतः, यह स्पष्ट है कि कारण और कार्य में कितनी ही घनिष्टता होते हुए भी, वे दोनों बाह्यता से सर्वथा विरहित नहीं हैं।

कार्य-कारण रूप की उपयुक्त अपूर्णता के कारण कुछ दार्शनिकों ने उसकी व्याख्या कुछ और प्रकार से की है। उदाहरणार्थ, बोसांके अपने *Logic* में यह कहता है कि कारण और कार्य की सजातीयता कितनी ही अपूर्ण हो, तथापि उसमें यह संकेत अवश्य मिलता है कि अन्ततोगत्वा कारण-कार्य-सम्बन्ध आधार और निष्कर्ष (Ground and Consequence) में स्थित अधिक सम्पूर्ण सम्बन्ध में बदल दिया जा सकता है। बोसांके के मत में, कार्य-कारण-सम्बन्ध एक असम्पूर्ण आधार (Ground) है। कारण का कार्य से पृथक्त्व आभास-मात्र है। वह कारण-कार्य क्रिया में काल के अवयव के अभ्यास के कारण दृष्टिगोचर होता है। इस काल के अन्तर्भाव के कारण, कारण और कार्य का एक देशीय अवलंबन होता है।[४]

---

४ "But effect can never be caused, unless we go back to the doctrine of *complete* ground in which the boundary between cause and effect really melts away. Effect can never be caused, and yet effect may be as inevitable, as essential to the sequence, as necessary a ground of hypothetical nexus as ever cause could be. It is a well-known saying that we cannot conceive a storm to have been less violent than it actually was without the difference

काल ही हमें कार्यकारण-रूप का उस आधार निष्कर्ष से तादात्म्य करने से रोकता है जहाँ दोनों पद (terms) आपस में बदले जा सकते हैं। अब बोसांके के अनुसार समय आभासमात्र है। वह "संवेदनशील आत्माओं के अनुभव की शर्त के रूप में वास्तविक है, किन्तु वह ऐसा रूप नहीं है जो वस्तुओं की अन्तरतम एकता का द्योतक हो।"[५] अतः बोसांके कुछ आगे इस निष्कर्ष पर पहुँचता है :—

> "Thus the conception of cause as an event in time anterior to effect gives way on analysis, and forces us back, to the conception of the complete ground, and the conception of incomplete ground (*causa cognoscendi*) as distinct from cause, expands into the same unity, which, as we saw, is at once the complete

---

involving differences in a series of physical processes going back *ad infinitum* in the causal nexus. Yet we cannot bring ourselves to treat the storm as the cause of the previous physical processes which, as we say, resulted in it. The distinction which is at the root of our inability to do so is of course the distinction of time. The operation of this distinction has never been more trenchantly stated than by Aristotle, who lays down the general doctrine of ground with perfect clearness, but in going on to deal with causation in succession, doubts the security of all arguments from cause to a subsequent effect. For, in the moment between the two, it would be false to say that the second has taken place, although the first has already taken place." (Bosanquet, *Logic* 2nd Edn.) Vol. I, p. 256.

५ *Ibid.*, p. 258.

cause and the real ground; i. e., the relation of part to part within an actual and systematic totality."[६]

अब नवीन लेखकों द्वारा कार्य-कारण में विहित वे संशोधन, जिनके द्वारा कारण-कार्य-रूप को आधारनिष्कर्ष में बदल दिया जाता है, सर्वथा अवांछनीय हैं। उनके द्वारा तो कार्य-कारण-कल्पना कतई काफूर हो जाती है। उपर्युक्त पद्धति द्वारा विज्ञानों को आघात पहुँचता है। क्योंकि, विज्ञान को तो वे ही कारण-कार्य-सम्बन्ध चाहिए जिनमें कारण-कार्य की क्रिया अप्रत्यावर्तनशील (irreversible) हो। वह आधार निष्कर्ष की कल्पना नहीं चाहता जिसमें दोनों पद एक दूसरे में बदल दिए जा सकते हैं। अतः यदि उपर्युक्त दोनों कल्पनाएँ एक दूसरे में मिला दी जायँ, तो विज्ञान को घटनाओं के क्रम का अन्दाज़ा लगाना असम्भव हो जायगा।[७]

सचमुच कार्य-कारण-रूप वह नियम है जो बाह्य जगत् की घटनाओं का नियंत्रण करता है। इसके विपरीत आधार और

---

[६] *Ibid.*, p. 262.

[७] "In other words, the principle of systematic connection of events might be valid, and yet the events of the present might depend on those which have preceded them in the past. In that case it would be impossible with absolute logical certainty to infer what will occur at a given moment from the mere examination of what has preceded, i. e., the principle of causation used in the sciences would not be logically valid." (Taylor, *Elements of Metaphysics*, p. 166.)

निष्कर्ष वह तत्त्व है जो स्वात्मक विचार का अपने निर्णयों की प्रामाणिकता की जाँच करने में मार्गदर्शन करता है। वस्तुतः आधार और निष्कर्ष, जैसा कि हम अभी बतलायेंगे, ज्ञान का रूप न होते हुए मूल्य है। अतः यदि आधार निष्कर्ष का कार्य-कारण-सम्बन्ध से तादात्म्य कर दिया जाय तो बाह्य जगत् की घटनाओं की परात्मकता का, उस विचार-क्रिया की स्वात्मकता से, जिसका आधार-निष्कर्ष तत्त्व एक ध्येय है, अन्तर बतलाना कठिन हो जायगा। इस प्रकार, कार्य का आधार-निष्कर्ष से तादाम्य करना अनुचित है। वस्तुतः, इस बात में कोई भी अनौचित्य नहीं पाया जाता कि कार्य-कारण रूप भी एक असंपूर्ण परिकल्पना है। क्योंकि ज्ञान के रूप की स्थिति में, कार्य-कारण रूप असंपूर्ण हुए बिना नहीं रह सकता।

अब हम *दिक् रूप* का विवेचन करेंगे। दिक् हमें कार्य-कारण की अपेक्षा पदार्थों की अधिक आंतरिकता की ओर ले जाता है। कारण और कार्य में घनिष्ठता होते हुए भी प्रत्येक में अलग व्यक्तित्व होता है। इसी कारण, कारण-कार्य-सम्बन्ध में बाह्यता आ जाती है। किन्तु दिक् में यह बात नहीं रहती। दिक् के दृष्टिकोण से देखे गए पदार्थों के सम्बन्धों में अधिक समता दृष्टिगोचर होती है। निःसंशय, ऐसे पदार्थों में भिन्नता होती है। किन्तु उसकी भिन्नता परिमाण की न्यूनाधिकता से अथवा प्रमाण के तारतम्य से विनिर्मित होती है; जैसे, एक वस्तु कम या अधिक विस्तृत रहती है, बृहत् अथवा लघु आकारवाली होती है। किन्तु दिक् रूप द्वारा

परिकल्पित पदार्थों में प्रकार की भिन्नता (difference of kind) नहीं होती। जहाँ तक विस्तार अथवा परिमाण का सम्बन्ध है, एक पदार्थ दूसरे से विजातीय कभी नहीं होता। इस प्रकार हम देखते हैं कि दिगवच्छिन्न पदार्थों में समान रूप से सजातीयता होती है। यही कारण है कि दिक् रूप में कार्यकारण रूप की अपेक्षा अधिक प्रजातंत्र होता है।

किन्तु दिगवच्छिन्न पदार्थों में दृष्ट समता से यह विश्वास नहीं कर लेना चाहिए कि उनका सम्बन्ध सम्पूर्ण होता है। यद्यपि दिक् के सारे पदार्थों में सजातीयता होती है, तथापि उनमें भिन्नताएँ होती हैं। एक पदार्थ में दूसरे की अपेक्षाकृत अधिक दिक् होती है, एक पदार्थ से दूसरा ऊँचा अथवा नीचा होता है। उसी बात को बोसांके ने अधिक स्पष्टता से कहा है :—

"मैं समझता हूँ कि वृत्त को वर्ग बनाने की असंभावना में वृत्त और सरल रेखा के बीच प्रकार की भिन्नता अपेक्षित है"[८] यहाँ उपर्युक्त उद्धरण में आये हुए 'प्रकार की भिन्नता' विषयक पद समुच्चय को हमें शब्दशः नहीं लेना चाहिये। वह सजातीय दिक् के पदार्थों में पाई जानेवाली भिन्नता की *वास्तविकता* की ओर हमारा ध्यान खींचता है। वस्तुतः सारी ज्यामिति दिगवस्थित पदार्थों के सम्बन्ध में अन्तर्हित संभाव्य भिन्नताओं को वैज्ञानिक रूप से बतलाती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि दिगवस्थित पदार्थों की सजातीयता उनकी विभिन्नता की जननी है। अब दिक्

---

८ Bosanquet, *Logic* (2nd Edn. Vol. I. p. 178.)

में हमें इस बात का कारण नहीं मिलता कि दिगवस्थित पदार्थों की सजातीयता में विभिन्नता क्यों होती है। इसका कारण यह है कि दिगवस्थित विविध पदार्थ अपनी समस्तता में किसी अवयवी अथवा वैयक्तिक संपूर्णता को निर्मित करने में असमर्थ रहते हैं। जब हम "अनन्त दिक्" के पदसमुच्चय का प्रयोग करते हैं तब इसके द्वारा हम सजातीय दिक् के अंशों के कभी अन्त न होने-वाले समन्वय का ही निदर्शन करते हैं। यह समन्वय एक प्रकार का संघात होता है, न कि अवयवी, क्योंकि वह अपने अन्दर किसी लक्ष्य का साक्षात्कार अथवा एकता को प्रदर्शित नहीं करता। अतः यह स्पष्ट है कि दिगवस्थित पदार्थों में समानता के होते हुए भी, कुछ बाह्यता होती है।

अब हम *काल* के *रूप* का विवेचन करेंगे। इस रूप का उस तत्त्व से सम्बन्ध है जो कि घटनाओं के क्रम का आधार है। इस तरह समझा जावे पर काल में दिक् की अपेक्षा कम आन्तरिकता दिखलाई पड़ती है, क्योंकि यहाँ पदार्थों की सजातीयता का लोप हो जाता है। और अब वस्तुएँ एक ऐसी खड़ी (Vertical) तरतीब में जमाई हुई प्रतीत होती हैं जो कभी भी एकत्र नहीं रहतीं किन्तु जो क्रमागत होती हैं। किन्तु बात वस्तुतः ऐसी नहीं है। दिक् में अनंत दिशाएँ होती हैं; इसके विपरीत, काल में वस्तुओं की विभिन्नता का एक ही प्रकार होता है। वे या तो किसी के पूर्व होती हैं या पश्चात्। किन्तु सावधानी से देखने पर पूर्व और पश्चात् काल के रूप नहीं हैं। उसी प्रकार, काल के चिरपरिचित,

भूत, वर्तमान और भविष्य वस्तुतः काल के अवयव नहीं हैं, किन्तु वे काल पर अध्यस्त दिक् रूप के अवयय हैं। काल तो सचमुच वृद्धि अथवा विकास की कल्पनाओं की ओर संकेत करता है। वह तो चिरप्रवहमान है। काल के विभिन्न अवयवों की स्थितियाँ प्रगतिशील विकास के क्रम द्वारा विनिश्चित की जाती हैं। तथापि इन स्थितियों को हम कालक्रिया के विभिन्न भाग अथवा खंड नहीं मान सकते। जैसा कि बेर्गसों ने बतलाया है, काल का प्रत्येक क्षण असंवेद्य क्रम से दूसरे क्षण में विलीन हो जाता है। उसमें भूत वर्तमान में सन्निविष्ट है और वर्तमान भविष्य में दाँत गड़ाये रहता है। यहाँ तक तो हम बेर्गसों से सहमत हैं। किन्तु बेर्गसों के काल-विषयक विचार में यह दोष है कि वह उत्क्रान्ति को सर्वथा उद्देश्यहीन मानता है। उद्देश्यहीन उत्क्रान्ति तो असंभव-सी कल्पना है। वृद्धि की कोई क्रिया अथवा विकास किसी ध्येय अथवा हेतु को प्राप्त करने की चेष्टा-मात्र है। किसी हेतु के प्रत्यक्षीकरण के बिना, काल की क्रिया एक यान्त्रिक परिवर्तन, एक घटना का दूसरी पर निरुद्दिष्ट उपचयमात्र (piliang) बन जायगी।

काल को वृद्धि अथवा विकास का तत्त्व मान लेने पर, वह ज्ञान के समस्त रूपों में सबसे अधिक आन्तरिक बन जाता है। क्योंकि विकास की किसी ध्येय अथवा हेतु के बिना कल्पना करना संभवनीय नहीं है। और ध्येय अथवा हेतु ही विविध अवयवों को अवयवी की एकता में आबद्ध कर सकता है। ध्येय ही अव-

यवी का ऐसा केन्द्र होता है कि जो उसके सारे अवयवों को एक ा प्रदान करता है। किन्तु यद्यपि काल में आन्तरिकता के अधिकांश लक्षण विद्यमान हैं, तथापि उसमें एक दोष है। वह यह कि काल एक *असंपूर्ण* अवयवी है। काल का अनुभव हमेशा असंतोष अथवा अनवाप्तफला कामना से निगडित रहता है। ठीक उसी समय जब कि हमारे मनोरथ अंशतः सफल होते हैं, हमें "काल के अनुभव का आधार सफलता के "अब" का असफल कामना के "अभी नहीं" से विरोध को लिये हुए मिलता है।"[९] इसी कारण काल, जैसा कि टेलर ने कहा है, ससीम अनुभव का *अपरिहार्य* रूप है। ऐसे अनन्त ऐकान्तिक व्यक्ति के लिए, "जिसका अनुभव अर्थ का संपूर्ण सुसंगत सोपपत्तिक प्रत्यक्षीकरण है" काल का अनुभव असम्भव है। उसके लिये "अतीत और वर्तमान एक ही जैसा है, क्योंकि उसका सारा स्वभाव उसके अस्तित्व के प्रत्येक अंश में हमेशा के लिए संपूर्णतया अभिव्यक्त है। किंतु ससीम आत्मा का अनुभव ठीक इसलिये कि उसके स्वभाव की ससीमता एक ऐसी संपूर्णता की कामना करती है जो उसकी पहुँच के बाहर है, *'अब' का 'शनैः शनैः'* से, इच्छा का क्रियमाणता से, जो विरोध है उससे उपलक्षित होना चाहिये।"[१०] इस प्रकार, काल का रूप भी, यद्यपि वह सारे ज्ञान

---

[९] Taylor, *Elements of Metaphysics*, p. 262.

[१०] Taylor, *Elements of Metaphysics*, p. 262.

के रूपों में अत्यन्त सम्पूर्ण है, बाह्यता के लक्षण से सर्वथा विरहित नहीं है।

अब हमें *आधार और निष्कर्ष के रूप* पर विचार करना होगा। जो पद परस्पर आधार और निष्कर्ष के सम्बन्ध द्वारा जुड़े हों, वे निरंतर एक समग्रता अथवा अवयवी की अपेक्षा करते हैं। ऐसे पद आधारभूत एकता द्वारा विनिश्चित विभिन्नता मात्र होते हैं। इसीलिए, वे परस्पर बदले जा सकते हैं। उदाहरणार्थ, "दो और दो चार" जैसे निर्णय में, निर्णय के अर्थ को ज्यों का त्यों कायम रखते हुए पदों को बदल दिया जा सकता है, क्योंकि वे गणितीय विज्ञान की एकमेव पद्धति द्वारा विनिश्चित विभिन्नताएँ हैं। अतः आधार-निष्कर्ष रूप में संपूर्ण आन्तरिकता है क्योंकि, जो पद इस सम्बन्ध द्वारा विनिश्चित होते हैं उनमें किसी प्रकार की न्यूनाधिकता नहीं होती। इस प्रकार परिकल्पित किया जाने पर, आधार और निष्कर्ष स्वयं ज्ञान का रूप होने की अपेक्षा वह ध्येय है जिसकी ओर सारे ज्ञान के रूप प्रवृत्त हैं। जब आधार और निष्कर्ष की शर्तें पूरी हो जाती हैं, तब ज्ञान के समस्त रूपों की असंपूर्णता संपूर्णता में परिणत हो जाती है। दूसरे शब्दों में, आधार और निष्कर्ष रूप नहीं, किन्तु मूल्य, हैं। वस्तुएँ स्वयं अथवा अपने पारस्परिक सम्बन्ध में आधार और निष्कर्ष को कदापि व्यक्त नहीं करतीं। किन्तु आत्मा, अपनी सन्तुष्टि के लिये इस प्रकार के सम्बन्ध की माँग कर सकती है और फलतः इस मूल्य को प्रस्थापित कर सकती है। कार्यकारण तो एक रूप है। वह

एक असम्पूर्ण अवयवी है। आत्मा का उससे सन्तोष नहीं होता और अतः वह ऐसे सम्बन्ध की इच्छुक होती है जिसमें कारण कार्य बन गया हो। इसी धारणा से आधार और निष्कर्ष जैसे मूल्य की सृष्टि होती है। आधार और निष्कर्ष का विवेचन हमें सीधे मूल्यों के द्वार पर पहुँचाता है। अतः अगले अध्याय में हम मूल्यों की मीमांसा करेंगे।

मूल्य

मूल्यों का जगत् ज्ञान के जगत् का पूरक है। ज्ञान में आत्मा बाह्य जगत् के आभासों में आधारभूत एकता ढूँढ़ने का प्रयत्न करती है। इस प्रयत्न में आत्मा सर्वथा असफल नहीं रहती। क्योंकि, जैसा हमने पूर्ववर्ती अध्याय में बतलाया है, ज्ञान के विभिन्न रूप वे प्रकार हैं जिनके द्वारा आत्मा बाह्य जगत् के आभासों का समन्वय करती है। और यद्यपि निम्नकोटि के रूपों द्वारा सम्पादित समन्वय बिल्कुल सम्पूर्ण नहीं होते, तथापि उच्च रूपों द्वारा प्रदर्शित समन्वय अपने आप में एकता और संगति को अधिक मात्रा में बतलाता है। किन्तु इसके बावजूद भी, ज्ञान के रूपों का कोई भी समन्वय हमें बाह्य जगत् के आभासों की पूर्ण संगति प्रदान करने में असमर्थ रहता है। क्योंकि, जैसा कि पिछले अध्याय में बतलाया जा चुका है, ज्ञान का सर्वोच्च रूप भी बाह्यता के लक्षण से सर्वथा मुक्त नहीं है। इस प्रकार आभासों की आन्तरिक एकता को प्राप्त करने का आत्मा का प्रयत्न ज्ञान में अन्ततोगत्वा अपूर्ण-स्थिति ही में रह जाता है।

अब ज्ञान के रूपों द्वारा जो बात अंशतः उपलब्ध होती है उसका मूल्यों के द्वारा पूर्ण-रूपेण साक्षात्कार हो जाता है। इसको हम इस प्रकार बतला सकते हैं: ज्ञान में बाह्य जगत् की ओर आत्मा की वृत्ति उदासीन होती है। क्योंकि वह यह देखना चाहती है कि क्या बाह्य जगत् के आभास जगत् की गति में

उसके सक्रिय व्यवधान के बिना, अपनी आधारभूत एकता प्रदान कर सकते हैं ? किन्तु मूल्यों में बात कुछ और ही हो जाती है। यहाँ आत्मा अपनी उदासीनता का परित्याग कर देती है और बाह्य जगत् को अपने आप से समरस बनाकर, हेतुपुरस्सर एकता का साक्षात्कार करने की चेष्टा करती है। वस्तुतः आत्मा की यही हेतुमत्ता, मूल्य को वस्तुवृत्त से पृथक् करती है। इस स्थापना पर ध्यान दीजिए—यह गुलाब का फूल लाल है। गुलाब है, उसकी लालिमा है और गुलाब की लालिमा गुलाब में आत्मा की अनुभूयमानता के बिना ही उपन्यस्त है। गुलाब लाल बना ही रहेगा चाहे उसे मैं देखूँ अथवा दूसरा व्यक्ति देखे। इस प्रकार, जहाँ तक, कोई स्थापना किसी वस्तुवृत्त को प्रस्थापित करती है, वहाँ तक आत्मा की हेतुमत्ता का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। किन्तु वह स्थापना तभी *सत्य* होगी, जब कि वह आत्मा द्वारा *स्वीकृत* होगी। उसी प्रकार, गुलाब का रंग, गुलाब में कोई देखे अथवा न देखे, ज्यों का त्यों बना रहता है, किन्तु वह *सुन्दर* तब तक नहीं होता जब तक किसी आत्मा को वह वैसा न लगे। विंडेलबांड *Präludien* में यही बात कहता है। इस पुस्तक में विंडेलबांड वस्तुवृत्त-विषयक निर्णयों अथवा (Urteile) एवं मूल्य-विषयक निर्णयों (Beurteilungen) में अन्तर करता है।

"पहिले में दो विचारों के आधेयों का सम्बन्ध, और दूसरे में परिकल्पित विषय का निर्णायक चेतना से सम्बन्ध व्यक्त किया जाता

है। इन दो स्थापनाओं में बुनियादी अन्तर है; "यह सफेद है" और "यह अच्छा है", यद्यपि इन दोनों स्थापनाओं का व्याकरण-विषयक रूप बिलकुल एक जैसा है। इन दोनों बातों में—व्याकरण-विषयक रूप के अनुसार—कर्त्ता को विधेय से संबद्ध किया जाता है, किन्तु एक में यह विधेय—वस्तुविषयक निर्णय की हैसियत में—एक ऐसा निश्चित विचार होता है जो अपने आप में पूर्ण होता है और जो अपने आवेय को परात्मक रूप से परिकल्पित विचार द्वारा प्राप्त करता है। दूसरे में—मूल्य-निर्णय के विधेय के रूप में—उस चेतना से सम्बन्ध की स्थापना होती है जो अपने सामने किसी उद्देश्य को रखती है।" (*Präludien*, p. 52-1910. Edn.)

इस प्रकार प्रत्येक मूल्य-विषयक निर्णय में आत्मा का निर्देश अपेक्षित है और आत्मा का यही निर्देश मूल्य को पूर्ण बनाता है। वस्तुतः आत्मा समन्वयकारिणी है। जब तक आत्मा किसी वस्तु-वृत्त को जान नहीं लेती, तब तक वह वस्तुवृत्त अस्तित्व के जगत् में अर्थहीन तरंगित होता रहता है। किन्तु ज्योंही वह आत्मा से निगाडित हो जाता है त्योंही वह एकदम अन्य अनुभूत वस्तु-वृत्तों की संगति में लाया जाता है और एक जीवित अवयवी अथवा पूर्ण में पेवस्त कर दिया जाता है। इस प्रकार, वस्तुवृत्तों का आत्मा से सम्बन्ध होते ही वे एकदम पूर्णता के अंश बन जाते हैं। यही पूर्ण उन्हें एकता और संगति प्रदान करता है। चूँकि इन लक्षणों के अभाव में, ज्ञान के रूप छिन्नावयव और असम्पूर्ण प्रतीत होते हैं, इसलिए मूल्य, जिनमें उपर्युक्त लक्षण निरन्तर विद्यमान होते हैं, ज्ञान के रूपों की अपेक्षा अधिक सम्पूर्ण रहते हैं।

यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि ज्ञान के रूप और मूल्यों का परस्पर सम्बन्ध बतलाने में जिस विचार-धारा का हमने अनुसरण किया है वह एकदम नई नहीं है। उसकी उत्पत्ति वस्तुतः कांट के आलोचना-दर्शन में मिलती है। अपनी *शुद्ध बुद्धि की मीमांसा* के अतीन्द्रिय विश्लेषण में कांट हमें परात्मक ज्ञान के आधारभूत तत्त्वों का परिज्ञान कराता है। इन तत्त्वों के दो प्रकार हैं, गणितीय अथवा विधायक तत्त्व (mathematical principles) और संयोजक तत्त्व (dynamic principles)। गणितीय तत्त्वों में केवल सजातीय का और अतः उन्हीं अवयवों का समन्वय होता है जो आवश्यक रूप से परस्पर की अपेक्षा नहीं करते। उदाहरणार्थ, एक वर्ग के दो त्रिकोणों के कोण जब अलग-अलग लिए जाते हैं, तब परस्पर की अपेक्षा नहीं करते। किन्तु संयोजक समन्वय संवेदना के बहुत्व का वह समन्वय है जिसमें अवयव आवश्यक रूप से परस्पर की अपेक्षा करते हैं। उदाहरणार्थ, गुण किसी विशिष्ट द्रव्य ही से सम्बन्ध रखता है अथवा कार्य किसी कारण से। पुनः संयोजक तत्त्वों में, कांट अनुभव के नियात्मक तत्त्व (Analogies of experience) और ज्ञान के अन्तिम और सर्वोच्च तत्त्व अनुभवात्मक विचार की मान्यताओं (Postulates of Empirical Thought) में इसलिए अन्तर करता है कि पहले तत्त्व तो संवेदनाओं के बहुत्व के बीच जो आपसी सम्बन्ध होते हैं उन्हें निदर्शित करता है और दूसरे तत्त्व, इसके विपरीत,

पदार्थों के आत्मा से जो विभिन्न सम्बन्ध होते हैं उन्हें बतलाते हैं।[1]

अब हमारी विचार-धारा भी कुछ-कुछ कांट की जैसी ही है। सत्ता के तीन रूप-विन्यास यानी वस्तु, ज्ञान के रूप एवं आत्मा जो अपने आपको मूल्यों में अभिव्यक्त करती है कांट की *शुद्ध बुद्धि की मीमांसा* में दी हुई परात्मक-ज्ञान के विकास की तीन स्थितियों, यानी गणितीय अथवा विधायक-तत्त्व, अनुभव के नियात्मक तत्त्व एवं रूप-विषयक तत्त्व (Principles of modality)

---

[1] अनुभवात्मक विचार की मान्यताओं का अभिप्राय समझाते हुए केअर्ड कहता है:

"When, however, we thus regard all objects for-a-self, our conception of these objects and their relation becomes essentially altered. Thus, the perception that the action and reaction of objects upon each other only exists *for* a conscious self and cannot be separated from their relation to such a self, should lead us to recognise that, beneath the appearance of external action and reaction there is deeper community of objects, of which such apparent external determination by each other is the manifestation It should prepare us, in fact, for the discovery that the external relations of objects are the result of a deeper internal or organic relation of them, which is hid from us only by the abstract way in which the ordinary consciousness and science deal with objects, without regard to their relation to the self." (*Critical Philosophy of Kant*, Vol. I, pp. 536-537).

का अनुहार करते हैं। वस्तु उस परात्मक-ज्ञान की सबसे निकृष्ट स्थिति है जिसमें वस्तुवृत्त अपने पार्थक्य में देखे जाते हैं। ज्ञान के रूप वस्तुओं को उनके पारस्परिक सम्बन्ध में देखते हैं। अतः वे परात्मक अनुभव को वह समग्रता (totality) प्रदान करते हैं जिसकी कल्पना केवल वस्तु के पार्थक्य से निःसंशय ऊँची है। किन्तु हमें यह न भूलना चाहिये कि समग्रता की यह कल्पना सर्वोच्च नहीं है। क्योंकि वह हमें संपूर्ण सुसंगति की ओर नहीं ले जाती, किन्तु जैसा कि हमने पिछले अध्याय में बतलाया है, काल, जो कि ज्ञान का सर्वोच्च रूप है, हमें अनवस्था की ओर ले जाता है। अब, यह कठिनाई तभी दूर हो सकती है जब कि परात्मक जगत् के वस्तु-वृत्त आत्मा से सम्बद्ध किये जाते हैं। आत्मा का जादू भरा स्पर्श परात्मक अनुभव के पृथक्त्व को एक सम्पूर्ण अवयवी में रूपान्तरित कर देता है। अब, वस्तु-वृत्तों के अस्तित्व के विषय में कोई प्रश्न नहीं उठता, किन्तु उनकी प्रामाणिकता (Validity) का प्रश्न उपस्थित होता है। कोई भी वस्तु तब तक प्रमाणभूत नहीं मानी जा सकती, जब तक आत्मा उसे उस प्रकार स्वीकार न कर ले। इस प्रकार कांट के अनुसार हम भी आत्मा को परात्मक-ज्ञान को एकता प्रदान करनेवाली, अथवा उसका सर्वोच्च तत्त्व मानते हैं।

किन्तु, यद्यपि हमारी विचार-धारा कांट से मिलती-जुलती है, तथापि कांट की विचार-धारा में कुछ दोष है। कांट को अवश्य यह श्रेय देना होगा कि उसने आत्मा की अतीन्द्रिय एकता को

परात्मक ज्ञान का सर्वोच्च तत्त्व बतलाया है। किन्तु, कांट अपने ही अनुसन्धान का मर्म न समझ सका। क्योंकि उसका विश्वास है कि आत्मा से सम्बद्ध होना पदार्थों के ज्ञान में किसी प्रकार वृद्धि नहीं करता। अतः, पदार्थों का आत्मा से सम्बन्ध पदार्थों में किसी आधेय को नहीं बढ़ाता। यह, जैसा कि केअर्ड ने बतलाया है, आत्मचैतन्य की एकता की अनुर्वरता का परिणाम है और यही कांट के दर्शन का सबसे बड़ा दोष है।[२]

---

[२] इसके सम्बन्ध में केअर्ड का यह कथन है :

"For the present, it is sufficient to repeat that the reason why Kant refuses to advance to such a conception which yet he was the first to suggest, lies in his rooted prejudice as to the analytic character of thought in itself In spite of this analytic character, Kant regards thought as furnishing in relation to the forms and matter of sense, certain principles of connexion, by which the manifold of sense may be determined so as to give rise to a consciousness of objects, but here he stops. Having brought the extraneously given manifold into unity under the conception of an object, the thinking subject, according to Kant, is conscious of itself in relation, but only in negative relation, to that object. And it still appears as an accident that an object should be present to it at all, or to put it more definitely, that a manifold of sense should be present to a subject (which is in itself a pure unity) as the material out of which an objective consciousness can be developed. This mere contingency of objects of

हेगेल ने अपने दर्शन में कांटीय दर्शन का उपर्युक्त दोष दूर करने की चेष्टा की है। उदाहरणार्थ, हेगेल ने अपने दर्शन को तीन विभागों में बाँटा है। वे हैं:—अस्तित्व-विषयक तर्कशास्त्र (Logic of Being), सार-विषयक तर्कशास्त्र (Logic of Essence) और भावना-विषयक तर्कशास्त्र (Logic of Notion)। कांट के गणितीय तत्त्व और नियामक तत्त्व क्रमशः हेगेल के अस्तित्व-विषयक तर्कशास्त्र और सार-विषयक तर्कशास्त्र का अनुहार करते हैं। अस्तित्व-विषयक तर्कशास्त्र में वस्तुएँ अपने पार्थक्य में देखी जाती हैं मानों वे ऐसे द्रव्य हों जिनका गुण अथवा किन्हीं अन्य द्रव्यों से कोई सम्बन्ध नहीं है। सार-विषयक तर्कशास्त्र में, वस्तुएँ परस्पराबद्ध मानी जाती हैं, उनका पार्थक्य दूर हो जाता है और जग एक ऐसी समग्रता माना जाता है जिसका प्रत्येक अंश दूसरे से सम्बद्ध होता है किन्तु ज्ञान का पार्थक्य तब तक सम्पूर्णतया दूर नहीं होता, जब तक पदार्थ आत्मा से सम्बद्ध नहीं कर दिये जाते।

इस प्रकार, हेगेल के तर्कशास्त्र का तृतीय विभाग यानी भावना का तर्कशास्त्र जो कांट की शुद्ध बुद्धि की मीमांसान्तर्गत रूप-विषयक तत्त्वों (Principles of modality) से मिलता-जुलता है,

---

experience in relation to the subject as such is maintained by Kant in spite of his own recognition that apart from the consciousness of objects, the consciousness of self would be impossible." (*Critical Philosophy of Kant*, Vol. pp. 557-558.

दूसरे विभागों की पूर्ति के लिये आवश्यक है। भावना-विषयक तर्कशास्त्र जग को आत्मा से सम्बद्ध मानता है। इसी कारण, भावना एक स्वावलम्बी पूर्ण बन जाती है।[3] इस प्रकार, हेगेल कांट से अपने इस विश्वास में पूर्णतया सहमत है कि आत्मा से सम्बद्ध होने पर ही हमारे अनुभव को पूर्णता प्राप्त होती है। किन्तु कांट और हेगेल के दृष्टिकोणों में यह अन्तर है कि जब कि कांट के अनुसार आत्मा का सम्बन्ध विषयों के आधेय की वृद्धि नहीं करता, हेगेल यह मानता है कि पदार्थों के जगत् में आत्मा के स्पर्शमात्र से अमित अर्थ का संचार होता है।

कांटीय विचार-धारा के दोष-निवारण के हेतु हेगेल जिन निष्कर्षों पर पहुँचा है वे हमारे द्वारा पिछले दो अध्यायों में पुरस्कृत विचार-धारा के बहुत सन्निकट आ जाते हैं। हम भी, हेगेल के समान, यह मानते हैं कि यद्यपि ज्ञान-रूपात्मक स्थिति शुद्ध अवलोकन की स्थिति की अपेक्षा उच्चतर है तथापि वह हमारे अनुभव को एकता और संगति प्रदान करने में असमर्थ है। इस बात को प्राप्त करने के लिये हमें आत्मा की समन्वयात्मिका क्रिया का सहारा लेना होगा। अतः वस्तु-वृत्तों के जगत् का आत्मा से

---

[3] "The Notion is the principle of freedom, the power of Substance self-realised. It is a systematic whole, in which each of its constituent functions is the very total which the notion is and is put as indissolubly one with it. Thus in its self-identity it has original and complete determinateness." (*Logic of Hegel*, Vol. II. p. 287 Eng. tr. by Wallace).

सम्बन्ध होना निरर्थक कदापि नहीं माना जा सकता। इसके विपरीत, उसके द्वारा ही हमारा समस्त अनुभव एक जीवंत अवयवी बन जाता है।

यहाँ हमें सैद्धान्तिक मूल्य (Theoretical values) तथा व्यावहारिक मूल्यों (Practical values) के अन्तर को जान लेना चाहिये। सैद्धान्तिक मूल्य आत्मा से केवल *सम्बद्ध* है। किन्तु व्यावहारिक मूल्यों का अस्तित्व केवल आत्मा के लिये नहीं होता किन्तु वे आत्मा द्वारा *निर्मित* किये जाते हैं। उदाहरणार्थ, नैतिक मूल्य आत्मा की प्रयत्नशीलता का निर्देश करते हैं; सौन्दर्य विषयक मूल्य उसकी उपभोग-वृत्ति का निर्देश करते हैं इत्यादि, इत्यादि। प्रत्येक में कुछ तो भी ऐसी बात होती है जिसको आत्मा निर्माण करती है। म्युन्स्टर्बर्ग ने इस अन्तर की ओर दुर्लक्ष्य किया है और यही उसका मुख्य दोष है। वह सारे मूल्यों को यही मानता है कि उनके द्वारा आत्मा को सन्तोष मिलता है। किन्तु यदि कुछ मूल्यों में आत्मा को सन्तोष मिलता है, तो कुछ में वह सन्तोष का निर्माण करती है। सैद्धान्तिक और व्यावहारिक मूल्यों के विषय में कुछ इसी प्रकार की भ्रान्त धारणा, विंडेलबांड और रिकर्ट जैसे महान् मूल्य-दार्शनिकों में भी मिलती है। उदाहरणार्थ, विंडेलबांड अपनी Präludien में वस्तु-वृत्त-विषयक निर्णय (Urteil) और मूल्य-विषयक निर्णय (Beurteilung) में अन्तर करता है।

> "पहिले में दो विचारों के आधेयों का सम्बन्ध और दूसरे में परिकल्पित विषय का निर्णायक चेतना से सम्बन्ध व्यक्त किया

जाता है। इन दोनों स्थापनाओं में बुनियादी अन्तर है "यह सफेद है" और "यह अच्छा है" यद्यपि इन दोनों स्थापनाओं का व्याकरण-विषयक रूप बिलकुल एक-जैसा है। इन दोनों में व्याकरण-विषयक रूप के अनुसार कर्ता को विधेय से संयुक्त किया जाता है; किन्तु एक में वह विधेय-वस्तु-विषयक निर्णय के विधेय की हैसियत में एक ऐसा निश्चित विचार होता है जो अपने आपमें पूर्ण होता है और जो अपने आधेय को परात्मक रूप से परिकल्पित विचार द्वारा प्राप्त करता है। दूसरे में—मूल्य निर्णय के विधेय के रूप में उस चेतना से सम्बन्ध की स्थापना होती है जो अपने सामने किसी उद्देश्य को रखती है।" (*Präludien*, p. 52)

यहाँ तक तो ठीक है। विंडेलबांड का Urteil और Beurteilung में का अन्तर हमारे द्वारा किये गये ज्ञान के रूपों और मूल्यों के अन्तर से मिलता-जुलता है। किन्तु स्वयं Beurteilung के विषय में कठिनाई उत्पन्न होती है। विंडेलबांड के अनुसार सारे मूल्य-विषयक निर्णयों का स्वभाव एक-जैसा होता है इसलिये कि सबमें निर्णायक आत्मा से सम्बन्ध व्यक्त किया जाता है। किन्तु, आत्मा से संबद्ध होने का प्रकार मूल्य-विषयक विभिन्न निर्णयों में अलग-अलग होता है। उदाहरणार्थ, सत्य-विषयक निर्णयों में आत्मा का सम्बन्ध नियामक मात्र होता है। क्योंकि वह पदार्थ, जो सत्य-मूल्य का संभाव्य आधार होता है, आत्मा से अलग रहता है। आत्मा को तो उसका केवल समन्वय करना होता है। किन्तु व्यावहारिक मूल्यों में बात दूसरी हो जाती है। अच्छा कार्य अथवा सुन्दर वस्तु इत्यादि

आत्मा के लिये नहीं होती, उसका प्रभाव *विधायक* होता है। सैद्धान्तिक और व्यावहारिक मूल्यों का यह अन्तर विंडेलबांड में नहीं मिलता। वही गलती रिकर्ट में दुहराई जाती है। रिकर्ट के अनुसार प्रामाणिकता (Validity) वह लक्षण है जो मूल्यों अथवा Sollen (असितव्य) को वास्तविकता (Reality) अथवा अस्तित्व (Sein) से अलग करती है। अब प्रामाणिकता तो उस सत्य के मूल्य ही को लागू पड़ती है, जिसका विषय आत्मा को बाहर से मिलता है। इसी विषय को जब आत्मा स्वीकार अथवा अस्वीकार करती है, तभी वह क्रमशः प्रमाणभूत अथवा अप्रमाणभूत बनता है। किन्तु नैतिक और सौन्दर्य-विषयक मूल्यों में, आत्मा किसी ध्येय को स्थापित करती है। अतः यहाँ प्रामाणिकता मिलने की अपेक्षा निर्मित की जाती है।

यहाँ यह आपत्ति उठाई जा सकती है—"सैद्धान्तिक और व्यावहारिक मूल्यों के उपर्युक्त अन्तर को ध्यान में रखते हुए, सैद्धान्तिक मूल्यों को आत्मा का रूप-विन्यास किस प्रकार कहा जा सकता है ? क्योंकि सैद्धान्तिक मूल्य केवल आत्मा के लिये होते हैं, वे उसके द्वारा निर्मित नहीं होते।" इस प्रश्न का उत्तर यह होगा : सैद्धान्तिक मूल्यों में भी आत्मा की अभिव्यक्ति होती है। यदि आत्मा का इन मूल्यों से कोई सम्बन्ध न होता, तो उनका आत्मा के लिये भी अस्तित्व न होता। यह सच है कि सैद्धान्तिक मूल्य आत्मा के द्वारा निर्मित नहीं होते, किन्तु अपनी सैद्धान्तिक वृत्ति में, आत्मा एकदम आत्मस्थ नहीं होती। इसके

विपरीत, उसको अपने बाहर जाकर बाह्य जगत् का समन्वय करना पड़ता है। आत्मा की इस समन्वियात्मिका क्रिया बिना, बाह्य जगत् का कोई मूल्य नहीं रह जाता। इस प्रकार, सैद्धान्तिक मूल्य, यद्यपि वे आत्मा द्वारा निर्मित नहीं हैं, अपने अस्तित्व के लिये आत्मा पर अवलम्बित रहते हैं। फलतः यह कहना गलत है कि सैद्धान्तिक और व्यावहारिक मूल्यों में हमारे द्वारा प्रतिपादित अन्तर के आधार पर, सैद्धान्तिक मूल्यों में आत्मा की अभिव्यक्ति का कोई अंश ही न रहेगा।

अब हम निकोलाय हार्टमान द्वारा पुरस्कृत मूल्य-सिद्धांतों की त्रुटि समझ सकते हैं। इस सिद्धांत के अनुसार मूल्य प्लेटो के आदर्शों (Ideas) की तरह परात्मक हैं। निकोलाय हार्टमान कहता है कि "अपने अस्तित्व के विषय में, मूल्य प्लेटो के आदर्श की तरह हैं[४]। उन्हें उस "नैतिक-काल्पनिक जगत् के अपनी पृथक् रचनाओं, नियमों एवं व्यवस्था से संयुक्त जगत् के बिम्ब"[५] माना गया है। पुनः मूल्यों का अपना अस्तित्व होता है। इस स्थापना का यह मतलब है कि "मूल्य अनुभूत न होने पर भी रह सकते हैं। अनुभव द्वारा वे आकलन किये जा सकते हैं अथवा नहीं भी; किन्तु अनुभव उन्हें बना नहीं सकता अथवा अपनी स्वतःस्फूर्ति द्वारा उनका सृजन भी नहीं कर सकता[६]। इस बात को

---

४ Nicolai Hartmann, *Ethics*, (Eng. tr. by Stanton Coit Vol. I, p. 184.)

५ *Ibid*., p. 221.

६ *Ibid*., p. 184.

और भी विशद करने की आवश्यकता है। शुद्ध मूल्य ऐकान्तिक होते हैं और वे अनुभव के बिना भी रह सकते हैं। किन्तु यद्यपि मूल्य ऐकान्तिक होते हैं, तो भी वे उस चेतना से संबद्ध हो सकते हैं जो उनका साक्षात्कार करती है। साक्षात्कार होने पर, मूल्य (यहाँ, नैतिक मूल्य ही का सम्बन्ध है) "किसी व्यक्ति अथवा व्यक्ति के किसी कार्य को किसी गुण की तरह उपन्यस्त किया जा सकता है[७]। इसी बात को दूसरे शब्दों में इस प्रकार कहा जा सकता है:—अच्छा कार्य तभी अच्छा होता है जब वह शिवत्व के आदर्श की अनुकृति होता है।

यह है निकोलाय हार्टमान के मूल्य सिद्धान्त की रूपरेखा। हमें अब यह देखना है कि यह सिद्धान्त कहाँ तक ठीक है।

सर्वप्रथम निकोलाय हार्टमान अपने मूल्य सिद्धान्त द्वारा ज्ञान के रूप और मूल्यों में के सारे अन्तर को उड़ा देता है। ज्ञान के रूप, जैसा हमने बतलाया है, हमारे बाह्य जगत् के अनुभव के आधारभूत तत्त्व हैं। अर्थात्, वे आत्मा के अनुभव के लिये बाह्य जगत् की विनिश्चितताएँ हैं। वे किसी आत्मा के अनुभव के बिना ही, अपनी नियति अथवा परात्मक प्रामाण्य कायम रखते हैं। फलतः ज्ञान के रूप अधिकांश परात्मक होते हैं। किन्तु मूल्यों में यह बात नहीं होती। मूल्य, जैसा कि हमने बतलाया है, आत्मा की अथवा अन्तर्जगत् की विनिश्चितताएँ है। वे ज्ञानरूपों के समान, किसी आत्मा के अनुभव के व्यतिरिक्त

७ *Ibid.*, p. 210.

अपनी नियति अथवा प्रामाण्य कायम नहीं रख सकते। इसके विपरीत, वे आत्मा के अनुभव में, और अनुभव द्वारा, कार्यान्वित होते हैं। अतः, ज्ञान-रूपों के विरोध में, मूल्य स्वात्मक होते हैं।

ज्ञान-रूप और मूल्यों की उपर्युक्त भिन्नता को स्वयं निकोलाय हार्टमान ने स्वीकार किया है क्योंकि उसका कथन है—

"सादे शब्दों में कहना हो तो नैतिकतत्त्व ज्ञान के रूप नहीं हैं। ज्ञान के रूप वे एकताएँ हैं जो अनवच्छिन्न नियन्त्रण बतलाती हैं, ऐसे रूप हैं जिनके अन्तर्गत उनके अधिकार में स्थित प्रत्येक वस्तु अपरिहार्य रूप से आ जाती है।......उनके लिये किसी प्रकार का अपवाद नहीं होता; अपरंच, एक अपवाद भी यह सिद्ध कर देगा कि किसी नियम का अस्तित्व ही नहीं है। उनके जैसा प्रामाण्य तो पहुँच के बाहर है। अस्तित्व के सच्चे नियम और सरूप वस्तु में कभी भी असंगति नहीं होती......किन्तु मूल्यों की बात और है। वे अवश्य वास्तविक हो सकते हैं और बहुत कुछ अंशों में वे वास्तविक रहते भी हैं। किन्तु वे अवास्तविक होते हुए भी रह सकते हैं। तत्त्व के हैसियत से उनके लिये यह आवश्यक नहीं कि वास्तविकता उनका अनुहार करे। यहाँ बड़े-बड़े अपवाद, हाँ, बड़ी-बड़ी असंगतियाँ भी दिख पड़ती हैं। इनसे मूल्य में किसी प्रकार की तात्त्विक खामी नहीं पहुँचती।"[८]

निकोलाय हार्टमान अन्यत्र कहता है :

"अतः नीति में स्वात्मकता सिद्धान्त के क्षेत्र की अपेक्षा वास्तविकता के अधिक सन्निकट है।"[९]

अब ज्ञान-रूप और मूल्यों का उपर्युक्त अन्तर निकोलाय हार्टमान के उस विश्वास से मेल नहीं खाता जिसके कारण वह

---

८ *Ibid*, p. 98.

९ *Ibid.*, p. 158.

मूल्यों को परात्मक मानता है। क्योंकि इस कथन का कि मूल्य किसी आत्मा के अनुभव के बिना रह सकते हैं यही अर्थ है कि मूल्य और ज्ञान-रूप अभिन्न हैं। यहाँ, हार्टमान यह कहकर अपनी स्थिति की रक्षा करने का प्रयत्न कर सकता है कि मूल्यों का पार्थक्य ज्ञान-रूपों की तरह वास्तविक (actual) नहीं किन्तु काल्पनिक (ideal) है। किन्तु ऐसी काल्पनिकता, जो कि किसी आत्मा की चेतना के अभाव में रह सकती है, असंभव है। ऐसी काल्पनिकता का कोई अर्थ ही नहीं होता। मूल्य आत्मा के अनुभव के बिना रह नहीं सकते, क्योंकि वे उसकी ही विनिश्चितताए हैं और उसमें और उसके द्वारा कार्यान्वित होते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि निकोलाय हार्टमान का यह सिद्धान्त कि मूल्यों का परात्मक अस्तित्व होता है यथार्थ नहीं कहा जा सकता।

हम अब विभिन्न मूल्यों का विशेष रूप से विवेचन करेंगे। यहाँ एक महत्त्व-पूर्ण बात को ध्यान में रखना आवश्यक है। मूल्य, जैसा कि हम कह चुके हैं, आत्मा की विषय की ओर विशेष वृत्ति की अपेक्षा करता है। अर्थात् मूल्य के प्रत्येक निर्णय में आत्मा की सन्तुष्टि अथवा असन्तुष्टि अन्तर्हित रहती है। किन्तु सारे मूल्यों में सन्तुष्टि की मात्रा एक ही जैसी नहीं होती। इसी कारण विभिन्न मूल्यों में भिन्नता आ जाती है। फलतः हम विभिन्न मूल्यों की, उनमें आत्मा की सन्तुष्टि की उत्तरोत्तर वृद्धि की अभिव्यक्ति के अनुसार तरतीब लगा सकते हैं :

सैद्धान्ति मूल्य :		(१) सत्य
व्यावहारिक मूल्य :	{	(२) सौन्दर्य
		(३) शिवत्व
धार्मिक मूल्य :		(४) पावित्र्य

सैद्धान्तिक मूल्य : सत्य : जब हम किसी बात को सच अथवा झूठ कहते हैं तब सैद्धान्तिक मूल्य का आविर्भाव होता है। किसी बात के विषय में यह निर्णय देना कि 'यह सत्य है' तभी सम्भव है जब कि हम उसके विषय में स्पष्टतया और तर्कानुमोदित विधि से मनन करते हैं। जैसा कि जोआचिम कहता है :— "मनन करने में हमें अनेक अवयवों को उनके विविध आधेयों द्वारा नियत सम्बन्धों के साथ उपस्थित करना पड़ता है। और मननीय का अर्थ ही 'अर्थपूर्ण अवयवी' हो जाता है, अथवा ऐसा अवयवी बनना है जिसका हमारे विचार के लिए कोई अर्थ हो। 'अर्थपूर्ण अवयवी' वह है जिसके सारे घटकावयव एक ही अर्थ द्वारा एक दूसरे के अस्तित्व की अपेक्षा करते हों।" [१०] दूसरे शब्दों में किसी निर्णय का सत्य किसी अनुभूत वस्तुवृत्त की ज्ञान के सम्पूर्ण अवयवी से *संगतिकरण* पर समाश्रित है। प्रत्येक विज्ञान, जो सोपपत्तिक (Reasoned) ज्ञान के अवयवी का दूसरा नाम है, अपने आप में ऐसी ही संगति अभिव्यक्त करता है।

---

[१०] Joachim, *The Nature of Truth*, p. 66.

अब सोपपत्तिक-ज्ञान का यह अवयवी आत्मा से अलग नहीं रह सकता। इसके विपरीत, वह आत्मा ही में और उसके द्वारा अपने आपको अभिव्यक्त करता है। जोआचिम आत्मा को "अनुभावक चरित्र" (appercipient character) कहता है। जोआचिम का कथन है: "सरूप चिंतन का अंगभूत प्रत्येक निर्णय उसके विधायक मन के 'अनुभावक चरित्र' द्वारा अनुप्राणित, विनिश्चित और कुछ अंशों में विनिर्मित होता है, जैसे कीट-शास्त्रज्ञ अणुवीक्षण यन्त्र द्वारा जो कुछ देखता है वह उस वैज्ञानिक ज्ञान द्वारा जो उसकी 'आँख' को शिक्षित करता है और उसकी दृष्टि को 'अनुप्राणित' करता है विनिश्चित है; अथवा आलोचक किसी चित्र में जो कुछ देखता है अथवा किसी गान में जो कुछ सुनता है वह उसकी उस गुणग्राही मर्मज्ञता पर अवलम्बित है जिसे उसकी सौन्दर्य-विषयक शिक्षा और उसकी मूल कलात्मक प्रवृत्ति ने सरूप बनाया है। पहाड़े रटनेवाले लड़के के लिये $३^२ = ९$ का अर्थ शून्यवत् होता है। किन्तु एक कुशल गणिती के लिये वही, अद्यावधि ज्ञात समस्त गणित-शास्त्र का सूत्ररूप प्रतीक है। सरूप विचार के अंशभूत उसमें अद्यावधि सम्पादित सर्वश्रेष्ठ गणित-विषयक ज्ञान द्वारा जो कुछ पढ़ा जा सकता है अथवा जो कुछ व्यक्त किया जा सकता है वह अन्तर्हित रहता है।"[११] इस प्रकार किसी वस्तु-वृत्त का सत्य-मूल्य आत्मा के अनुभावक चरित्र में, और उसके द्वारा ही, आविर्भूत होता है। यह अनुभावक

[११] *Ibid.*, p. 93.

चरित्र जितना ही अधिक सम्पूर्ण और व्यापक होगा उतना ही उसमें संगठन और एकता अधिक होगी। इस प्रकार सत्य-मूल्य द्वारा वस्तु-वृत्तों का जगत् एक सुसंगत पूर्णता में सुसंगठित हो जाता है। अतः सत्य-मूल्य ज्ञान के उन रूपों से श्रेष्ठ है, जो यद्यपि वस्तु-वृत्तों को एक समग्रता में आबद्ध कर देते हैं, तथापि वे उन्हें सुसंगति प्रदान करने में असमर्थ हैं।

किन्तु, इतना होते हुए भी, सत्य-मूल्य आत्मा को पूर्ण समाधान नहीं दे सकता। क्योंकि यद्यपि वह जगत् के वस्तु-वृत्तों को सुसंगति प्रदान करता है, तथापि वह परात्मक जगत् की रचना में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं कर सकता। सैद्धांतिक वृत्ति में आत्मा और विषय, दो विदेशियों की भाँति एक दूसरे से मानों मित्रता के नाते हस्तान्दोलन करते हैं। किन्तु उनका यह मिलन एक दिखावा होता है, क्योंकि उनमें अभी सम्पूर्ण आन्तरिकता नहीं होती। ज्ञान का विषय आत्मा से अलग अपना एक व्यक्तित्व कायम रखता है। जोआचिम अपने Nature of Truth में, इसी बात को व्यक्त करता है।

> "किन्तु तब भी 'वैज्ञानिक मन' एक ज्ञेय वास्तविकता के सम्मुख खड़ा रहता है, और उसका 'सरूप मनन' विचार के अतिरिक्त किसी अन्य के *विषय* में होता है। हम विज्ञान के निर्णय को "चिंतन और चित्य विषय की अविच्छिन्न एकता" कह सकते हैं; किन्तु हमें *चित्य विषय* को चिंतन का ध्येय कहना होगा......"[१२]

---

[१२] *Ibid.*, p. 116.

किन्तु जोआचिम का यह कथन त्रुटिपूर्ण है कि ज्ञान में विषय का पार्थक्य हमें संगतिकरण की भावना का परित्याग करके उसके स्थान में सत्य के बिंब-प्रतिबिंबवाद (Correspondence theory) को स्वीकार करने के लिये विवश करता है। जोआचिम कहता है:—

> "अर्थ का सुव्यक्त अवयवी संगतिकरणवाद द्वारा अपेक्षित विधि के अनुसार शब्द के इस अर्थ में 'सत्य' नहीं हो सकता। क्योंकि वह अपने परे किसी वस्तु का निर्देश करता है और अतः स्वावलम्बी अथवा संपूर्ण नहीं हो सकता। उसकी संगति रूपात्मक अविरुद्धता (Formal consistency) होगी जो ठोस वास्तविकता को बाहर ही छोड़ देती है। वह निश्चित ही किसी रूप में बिंब-प्रतिबिंबवाद को ही सत्य का आदर्श समझती है।"[१३]

जोआचिम के उपर्युक्त निराशावाद का मूल कारण यह है कि वह आत्मा और विषय को दो ऐसे दार्शनिक तथ्य मानता है जिनका स्वभाव और रचना ज्ञान में परस्पर विरोधी होती हैं। यही कारण है कि ज्ञान में विषय के आंशिक पार्थक्य को जोआचिम आत्मा और विषय के आत्यन्तिक विच्छेद का एक चिह्न मानता है।

किन्तु प्रस्तुत पुस्तक में हम अभी तक जिन निष्कर्षों पर पहुँचे हैं उनके प्रकाश में हम जोआचिम के उपर्युक्त निराशावाद-मूलक विचारों का प्रत्याख्यान कर सकते हैं। हमारे मत में, आत्मा और विषय दो विभिन्न सत्ताएँ नहीं हैं, किन्तु वे दोनों एक ही सत्ता

---

[१३] *Ibid.*, p. 117

के क्रमशः अन्तर्जगत् और बहिर्जगत् में रूप-विन्यास हैं। सत्ता स्वयं अरूप है। फलतः वह सरूप आध्यात्मिक एवं वस्तु-जगत् की समस्त भिन्नताओं और विनिश्चितताओं से सर्वथा मुक्त है। आत्मा और जगत् की भिन्नता तो सत्ता के रूप-प्रणयन का परिणाम-मात्र है। अतः इस बात से डरने का कोई कारण नहीं कि अन्तर्जगत् और बहिर्जगत्-विषयक रूप-विन्यास कभी हमें दार्शनिक द्वैतवाद की ओर ले जा सकेंगे। वस्तुतः विभिन्न मूल्य हमें सचमुच इस विश्वास की ओर अग्रसर करते हैं कि आत्मा और विषय अन्ततोगत्वा अभिन्न हैं। क्योंकि, जैसा कि हमने बतलाया है, मूल्य का प्रादुर्भाव आत्मा की विषय के प्रति विशिष्ट वृत्ति से होता है। आत्मा और विषय की परस्पर सम्बद्ध होने की सम्भावना में ही यह अंतर्हित है कि आत्मा और विषय आत्यंतिक विरोधी तथ्य नहीं हैं, किन्तु मूलतः वे अभिन्न हैं। किन्तु हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि सारे मूल्य आत्मा और विषय की आधारभूत एकता को समान रूप से व्यक्त नहीं करते। वस्तुतः आत्म-साक्षात्कार की इस क्रिया की विभिन्न कोटियाँ होती हैं। उदाहरणार्थ, सत्य-मूल्य इस आदर्श की प्राप्ति की प्रारम्भिक स्थिति है। यही कारण है कि यद्यपि सत्य-मूल्य निर्विवाद रूप से आत्मा और विषय की आन्तरिक एकता की ओर निर्देश करता है, तथापि उसमें विषय के व्यक्तित्व का सर्वथा विलोप नहीं हो पाता। इससे यह स्पष्ट है कि ज्ञान में विषय का पार्थक्य सत्य-मूल्य की सम्पूर्ण आन्तरिकता के अभाव का निदर्शन मात्र है।

यह बात जोआचिम के संगतिवाद (Coherence theory) में अविश्वास का उन्मूलन कर देती है; क्योंकि ज्ञान में विषय का पार्थक्य, जोकि जोआचिम के निराशावाद का मूल कारण है, यद्यपि वास्तविक है, तथापि वह क्षणिक है और जैसा कि हम अभी बतलावेंगे, वह दूसरे मूल्यों द्वारा शनैः-शनैः घटाया जाकर अन्ततः नष्ट हो सकता है।

व्यावहारिक मूल्य : अब हम व्यावहारिक मूल्यों का विवेचन करेंगे। इन मूल्यों के निर्माण में आत्मा अपनी उस उदासीनता का एकदम परित्याग कर देती है, जो सत्य-मूल्य का लक्षण है और निश्चित रूप से व्यावहारिक अथवा क्रियावती बन जाती है। ऐसा मालूम पड़ता है मानों वह विषय के व्यक्तित्व को नष्ट करके उसको अपने सामञ्जस्य में लाने के लिये उससे द्वंद्व-युद्ध करने में रत हो। दूसरे शब्दों में, आत्मा व्यावहारिक मूल्यों को ढूँढ़ती नहीं है, किन्तु वह उनका *निर्माण* करती है। इस प्रकार आत्मा की क्रियमाणता द्वारा व्यावहारिक मूल्य सैद्धांतिक मूल्यों से पृथक् हो जाते हैं।

सौन्दर्य-विषयक मूल्य : म्युन्स्टबर्ग सौन्दर्य-विषयक मूल्य की व्याख्या इस प्रकार करता है:—

"सौन्दर्य-विषयक मूल्य हमें तभी मिलता है जब कि इच्छाओं का बहुत्व हमें घेर लेता है। और जब कि ये इच्छाएँ एक दूसरे की ओर निर्देश करती हैं और परस्पर संगत होतीं हैं। यह आन्तरिक संगति (agreement) प्रत्येक सौन्दर्यानुभव का अंतर-

तम लक्षण है।"[१४] सौन्दर्य-विषयक मूल्य आत्मा से वस्तुओं की संगति द्वारा निर्मित है। उदाहरणार्थ, प्रकृति में हमें इस प्रकार की संगति के लक्षण तब मिलते हैं जब कि जलदों की सुनहरी मिहराब में उगता हुआ बाल-रवि हरे-भरे मैदानों और वृक्षों को रक्ताभा से आप्लावित कर देता है; जब कि स्तब्ध और नीरव घाटी तापद ग्रीष्म के सुदीर्घ दिवसावसान के अनन्तर चन्द्र की शीतल ज्योत्स्ना से प्रकाशित हो जाती है। ऐसे दृश्यों में प्रत्येक वस्तु प्रकृति में किसी विशिष्ट प्रभाव अथवा 'वृत्ति' (mood) को लाने में मनोयोग-पूर्वक सहयोग देती हुई प्रतीत होती है। प्रकृति के ऐसे ही प्रभावों अथवा 'वृत्तियों' से आत्मा को रस का अनुभव होता है।

किन्तु, प्रकृति के दृश्य हमें वस्तुओं की संगति के अस्पष्ट आभास मात्र देते हैं। उनका अस्तित्व ज्ञाता से बहुत दूर प्रतीत होता है; क्योंकि उनकी पुनरावृत्ति ज्ञाता की शक्ति के परे है। यह दोष कलाकृतियों में दूर हो जाता है। कलाकृतियों में कलाकार हेतु-पुरस्सर प्रकृति के विभिन्न आकर्षक अंशों का संकलन करता है और उन्हें एक जीवंत अवयवी में संगठित कर देता है।

"उदाहरणार्थ प्रकृति का शिल्पी, (landscape-architect), दी हुई प्रकृति को हेतुपुरस्सर सजाता है। वह वृक्ष और पौधे लगाकर कृत्रिम गिरि, और फूल और पल्लव और सड़कों को निर्मित कर संवेदनाओं के बहुत्व की वृद्धि करता है। यदि संभव हो, तो वह

---

[१४] Münsterberg, *The Eternal Values*, p. 177.

प्रकृति में क्षेत्र की चौखट बाँधकर विशिष्ट दृष्टिकोण से देखने के लिए उसे सीमित कर देता है।"[१५]

इस प्रकार कलाकृति में बाह्य जगत् आत्मा की इच्छा से अधिक सामंजस्य में लाया जाता है। कलाकार की क्रियमाणता द्वारा सौन्दर्य-विषयक मूल्यों में उन सैद्धान्तिक मूल्यों की अपेक्षा, जो बाह्य जगत् की वास्तविक रचना में किसी प्रकार का सक्रिय हस्तक्षेप नहीं चाहते, आत्मा को अधिक सन्तोष मिलता है। किन्तु वे कलाकृतियाँ भी, जो हमें सौन्दर्य-विषयक सर्वोत्तम समाधान देती हैं, एक गम्भीर दोष से युक्त है। वह यह कि कलाकृतियों में भी पार्थक्य के अंश का सर्वथा अभाव नहीं होता। यद्यपि वे बाह्य जगत् को आत्मा की इच्छा के अनुसार ढालने के परिणाम हैं, तथापि जब वे एक बार निर्मित हो चुकती हैं, तब अपने में हस्तक्षेप की सारी चेष्टाओं का प्रतिरोध करती हैं। वे आत्मावलम्बी बन जाती हैं और अपने आपको पूर्ण करने के लिये आत्मा के किसी प्रयत्न की अपेक्षा नहीं रखतीं।

"उदाहरणार्थ एक सुन्दर प्रकृति-विषयक चित्र का दर्शन बटोही को चित्रार्पित वृक्षों की शीतल, सुखद छाया का अथवा पुष्पों की सुगन्ध का उपभोग नहीं करा सकता और न वह चित्र में दिये हुए, किसी राहगीर को बैठकर कुछ विश्राम के लिए निमन्त्रित करनेवाले, कोच को लेकर उस पर बैठा ही सकता है। उसी प्रकार जब किसी नाटक में दुष्पात्र जब किसी सज्जन पात्र को बरगलाने के लिए षड्-

---

१५ *Ibid.*, p. 205.

यन्त्र रचता है, तब हम रंगभूमि पर जाकर दुष्पात्र को अपनी धूर्तता से बाज़ आने से रोक नहीं सकते।"[१६]

इस प्रकार सौन्दर्य की कृतियाँ बाह्यता के अंश से सर्वथा मुक्त नहीं हैं। यही कारण है कि कलाकृतियों द्वारा प्राप्त सुख क्षणिक होता है, स्थायी नहीं।

नैतिक मूल्य : नैतिक मूल्य का अन्तिम ध्येय एक सावयव (Organic) चरित्र का अथवा दूसरे शब्दों में, व्यक्तित्व का गठन करना है। व्यक्तित्व अथवा चरित्र ही वह एकता है जो हमारी इच्छाओं के बहुत्व, अथवा जिसे मेकेन्झी "इच्छाओं का विश्व" कहता है, में अनुस्यूत रहती है। हमारी इच्छाओं में अच्छापन उसी अनुपात में घटता-बढ़ता जाता है कि जिस अनुपात में व्यक्ति अपनी इच्छाओं के विश्व को उत्तमता से संगठित करता है।

यहाँ विशेषतः यह स्मरण रखना चाहिये कि इच्छाओं का समाधान जो नीति में शिवत्व का विधायक है, व्यक्ति का अपना (private) समाधान नहीं है। क्योंकि यह बात तो हमें सुखवाद (hedonism) की ओर अग्रसर करेगी और उसकी सारी कठिनाइयों को ला हमारे सामने रख देगी। वही समाधान हमें नैतिक शिवत्व दे सकता है, जो आत्मा अपने व्यापकत्व (Universal capacity) में प्राप्त करती है। अर्थात् वे ही इच्छाएँ अच्छी कही जा सकती हैं जो किसी भी चेतन व्यक्ति द्वारा

---

[१६] *Ibid*, p. 213.

इच्छित की जा सकें। इस ध्येय को प्राप्त करने के लिये यह, जैसा कि कांट कहता है, आवश्यक है कि प्रत्येक व्यक्ति को एक ध्येय माना जाय न कि किसी दूसरे के ध्येय का साधन। दूसरे शब्दों में नैतिक ध्येय में यह अपेक्षित है कि हमारे आस-पास एक ध्येयों का साम्राज्य बन जाय। जिसमें प्रत्येक व्यक्ति की इच्छा दूसरे व्यक्तियों की इच्छाओं से पूर्णतया सुसंगत हो। इस प्रकार, नैतिक मूल्य आत्मा के उस प्रयत्न का फल है जिसमें आत्मा और विषय का विरोध शून्यवत् हो जाय और बाह्य जगत् का आत्मा से पूर्णरूपेण सामंजस्य हो जाय।

किन्तु यदि हम सावधानी से देखें तो हमें प्रतीत होगा कि नैतिक मूल्य की स्थिति भी उपर्युक्त मूल्यों की अपेक्षा अधिक अच्छी नहीं है। इसका कारण यह है कि नैतिक ध्येय कभी भी प्राप्य नहीं है। मानव-समाज में उसे प्राप्त करने की चिरंतन चेष्टा हो रही है, किन्तु इसका अन्त कहीं भी मालूम नहीं होता। इस बात को हम विस्तारपूर्वक पहिले बतला चुके हैं। नैतिक मूल्य में आत्मा अपने कार्यों द्वारा बाह्य जगत् से निरंतर सामंजस्य पाने का प्रयत्न करता रहती है। किन्तु तो भी वह उसे अपनी इच्छा-नुकूल ढाल नहीं पाती। "ध्येयों का साम्राज्य", जहाँ सदा-सर्वदा शान्ति और सुख वर्तमान रहते हैं और जहाँ व्यक्ति की प्रत्येक इच्छा किसी विशेष परिश्रम के बिना सन्तुष्ट हो जाती है, नैतिक मनुष्य को एक ऐसा दूर का स्वप्न मालूम पड़ता है जो कम-से-कम उसके जीवन में तो उसे प्राप्य नहीं होता। वह प्रयत्न करता

ही जाता है, किन्तु उसके प्रयत्नों का कहीं अन्त मालूम नहीं पड़ता।

वस्तुत: नैतिकता के लिये यह आवश्यक है कि उसका ध्येय हमेशा अप्राप्य ही रहे। नैतिकता तो अपने ध्येय को प्राप्त करने का *प्रयत्न* मात्र है। जिस क्षण ध्येय-प्राप्ति हो जाती है उसी क्षण नैतिकता का लोप हो जाता है। यही कारण है कि टेलर ने नैतिकता को ससीमता का एक चिह्न माना है क्योंकि वह निरंतर किसी अभाव का द्योतक है। इससे यह स्पष्ट है कि यद्यपि नैतिक मूल्य आत्मा और विषय को परस्पर सामंजस्य में लाने की चेष्टा करता है, तथापि वह आत्मा को बाह्य जगत् पर संपूर्ण विजय प्राप्त करने का चिरसुख नहीं दे सकता। इसी कारण नैतिक मूल्य में सम्पूर्ण आन्तरिकता का अभाव रहता है।

व्यावहारिक मूल्यों के पश्चात् धार्मिक मूल्य आते हैं। अत: अब हम धार्मिक मूल्यों का विवेचन करेंगे।

धार्मिक मूल्य : पावित्र्य अथवा धार्मिक मूल्य सारे मूल्यों की पराकाष्ठा है। वस्तुतः वह सारे मूल्यों का चरम लक्ष्य है। जैसा कि हम ऊपर बतला चुके हैं, सारे सैद्धान्तिक और व्याव-हारिक मूल्यों का प्रादुर्भाव आत्मा की बाह्य जगत् में अपना साक्षात्कार करने की कामना से, अथवा बाह्य जगत् को अपने सामंजस्य में लाने की इच्छा से, होता है। किन्तु उपर्युक्त मूल्यों में से कोई भी आत्मा की इस कामना को सन्तुष्ट नहीं कर पाता। क्योंकि इन मूल्यों में से प्रत्येक में बाह्यता कुछ अंश में विद्यमान है

जो उसे आत्मा और विषय की आधारभूत एकता का पूर्णतया साक्षात्कार करने से रोकती है। नैतिक मूल्य भी जो कि अभी तक विवेचित मूल्यों में सर्वोच्च है, इस बाह्यता से मुक्त नहीं है। निस्संशय, नैतिकता में आंतरिकता के सब लक्षण विद्यमान हैं क्योंकि उसके द्वारा आत्मा बाह्य जगत् पर नियन्त्रण करने की चेष्टा करती है। किन्तु नैतिक व्यक्ति के इस प्रयत्न का कहीं कोई अन्त नहीं दिख पड़ता। क्योंकि नैतिकता में नैतिक व्यक्ति के लिये इस बात की किसी आशा का अंतर्भाव नहीं होता कि बाह्य जगत् से उसकी इच्छाओं का पूर्णरूपेण सामंजस्य हो जायगा।

ठीक यहीं धार्मिक मूल्य अपना अस्तित्व व्यक्त करता है। ईश्वर के व्यक्तित्व में धर्म एक ऐसे ध्येय की प्रस्थापना करता है जिसमें अन्तर्जगत् और बाह्य जगत् के आंतरिक तादात्म्य का सम्पूर्ण साक्षात्कार हो सके। यही पावित्र्य का ध्येय है। वह पूर्णतया आध्यात्मिक है, क्योंकि उसमें किसी प्रकार की बाह्यता न होने के कारण आत्मा का उसमें पूर्ण समाधान हो जाता है। वह सारे मूल्यों का अचलायतन (Conservation of Values) है क्योंकि उसमें वे विभिन्न मूल्य जो अन्यथा अपूर्ण और बाह्यता लिये हुए होते हैं, अपनी पराकाष्ठा प्राप्त कर लेते हैं। ईश्वर ही पूर्णतया सत्य, सुन्दर और शिव है। इसका मतलब यह नहीं है कि धार्मिक मूल्य विभिन्न सैद्धान्तिक और व्यावहारिक मूल्यों में बँट जाता है और अतः अपना अस्तित्व अलग कायम रख ही नहीं सकता। वस्तुतः यद्यपि धार्मिक मूल्य सारे मूल्यों का सर्वोच्च समन्वय है,

तथापि सारे मूल्यों को व्यक्तिशः लेने पर उन सबकी अपेक्षा कुछ तो भी अधिक है। विंडेलबांड कहता है :

"वस्तुतः, धर्म इन तीनों में अन्तर्हित है : वह सत्य के रूप में, नैतिक संगठन के रूप में, सौन्दर्य-विषयक संस्कार के रूप में प्रतीत होता है; वह ज्ञान है, जीवन है, निर्मिति है। किन्तु इन सबकी अपेक्षा वह कुछ तो भी अधिक भी है जो कि इन सबमें बँट नहीं जाता..., अपनी सम्पूर्णता में, धर्म एक अतिवैयक्तिक, अतिजागतिक आधेय की अपेक्षा करता है; इसी को वह पावित्र्य कहता है, और इसकी उसमें प्रवृत्ति-विशेष से परिकल्पना की जानी चाहिये।"[१७]

यहाँ इस बात पर भी ध्यान देना आवश्यक है कि धर्म अपने सर्वोच्च ध्येय, यानी ईश्वर को व्यक्ति मानता है। क्योंकि वह एकता, जिसे धर्म प्राप्त करता है, सरूप है। ईश्वर, अन्तर्जगत् और बाह्य जगत् की समन्वयात्मिका एकता है।

किन्तु ये दोनों जगत् सत्ता के रूप-विन्यास हैं। और सत्ता के रूप-विन्यास, जैसा कि हम बतला चुके हैं, निरन्तर सरूप होते हैं, अतः उनका समन्वय, यानी ईश्वर, भी सरूप होना चाहिये। यह निष्कर्ष इस बात से और भी प्रमाणित हो जाता है कि धार्मिक मनुष्य को किसी ऐसे अरूप तत्त्व से समाधान नहीं मिलता जो भावनाहीन हो और अतः वैयक्तिक आत्मा के भाग्य-निर्णय से सर्वथा उदासीन हो। वह तो एक ऐसा ध्येय चाहता है जो प्रेम और करुणा से परिपूर्ण हो और फलतः आत्मा की कामना को

---

१७ Windelband, *Präludien* (1924 Edn.) Vol. II Essay on "Das Heilige," pp. 297-298.

तृप्त कर सकता हो। यह आवश्यकता तभी पूरी हो सकती है जब कि हम ध्येय को सरूप चेतन व्यक्ति मानें। जैसा कि विंडेलबांड का कथन है :

"In the virtuous feeling man appears in relation to the infinite, in a spiritual communion with it; such a communion, however, we know empirically as a relation from person to person. Consequently, the object of the virtuous feeling must be represented as a person."[१८]

आत्मसंतोष की ओर वह अंतःप्रवृत्ति, जो विभिन्न धार्मिक मूल्यों के मूल में स्थित रहती है, धार्मिक ध्येय ही में अपना सम्पूर्ण समाधान प्राप्त करती है। ध्येय ज्ञान का विषय नहीं है। क्योंकि ज्ञान का सम्बन्ध तो सत्ता के बाह्यजगत् में रूप-प्रणयन से है। अतः वह अंतर्जगत् का वह अन्यतम तत्त्व देने में असमर्थ है जो वस्तुतः धार्मिक उपासना का विषय होता है। इसका यह मतलब कदापि नहीं कि धार्मिक ध्येय एक कपोल कल्पना है। क्योंकि, आत्मसन्तुष्टि-विषयक कामना आत्मा के गूढ़तम स्तरों से निकलती है। और यदि मूल्यों के साक्षात्कार के लिये उठाये गये कष्टों का कुछ मतलब हो और विशेषतः नैतिक प्रयत्न बिलकुल ही मृगतृष्णा न हो तो धार्मिक ध्येय की संप्राप्ति न केवल संभव है किन्तु वह एक आत्यन्तिक आवश्यकता है। फलतः यद्यपि धार्मिक ध्येय ज्ञान का विषय न भी हो, तथापि नैतिक व्यक्ति के लिये उसका अस्तित्व *श्रद्धा* अथवा *विश्वास* का विषय है।

---

१८ *Ibid.*, p. 393.

सत्ता और ईश्वर

जोगी मत जा, मत जा, मत जा, पैयाँ परूँ मैं चेरी तेरी रे ॥
प्रेम भक्ति को पैंडो ही न्यारो, हमकूँ गैल बता जा।
अगर चन्दन की चिता रचाऊँ, अपने हाथ जला जा ॥
जल बल भई भस्म की ढेरी, अपने अंग रमा जा।
मीरा कहे प्रभु गिरधर नागर, जोत में जोत मिला जा ॥

महारानी मीरा किस योगी के प्रेम में फँसकर उसकी चेरी बनने जा रही है ? इस प्रेम पर मीरा अपना सर्वस्व लुटाने को तैयार है। जिन पर सारा जग अपनी जान देता है उन राज-पाट, धन-दौलत, कुटुम्ब-कबीला आदि की चिता रचाकर जब वह जल-बल कर भस्म हो जाती है, तब वह मीरा के योगी के अंग को रमाने की विभूति बन जाती है। जब सारी कामनाओं की होली हो चुकी, तब क्या शेष रह जाता है ? शुद्ध ज्योतिर्मय चैतन्य—वह चैतन्य जो कामनाओं के बन्धनों से सर्वथा मुक्त हो, उस परमानन्द की ओर ले जाता है जिसके कारण सन्तप्त मर्त्य जीवन अनन्त शान्ति और सुख से आपूरित हो जाता है।

आज तक संसार में मीरा जैसे कितने ही महात्मा हो गये हैं जिन्होंने अपनी अहंता मिटाकर प्रेम-भक्ति का पैंडा पकड़ा। अपने प्रियतम के प्रेम में दीवाने बनकर, ऐसे महापुरुषों ने जिन बानियों को कहा है वे एकदम मर्मस्पर्शी, अनूठी और अलौकिक

रस से ओत-प्रोत हैं। साधारण मनुष्य के लिए ऐसी बानियाँ बड़ी रहस्यमय मालूम पड़ती हैं। क्योंकि साधक को अपने प्रियतम के मिलन में जो परमानन्द प्राप्त होता है, वह स्पष्ट शब्दों में व्यक्त नहीं किया जा सकता।

ज्यों गूँगे मीठे फल को रस अन्तरगत ही भावै।

किन्तु जिस प्रकार गूँगा सुस्वादु फल को चाख कर अपने अनुभव को यद्यपि शब्दों में नहीं कह सकता, तथापि उसे अपने हावभावों द्वारा व्यक्त करता है, उसी प्रकार यद्यपि सन्त अपने आनन्द को स्पष्ट शब्दों में अभिव्यक्त नहीं कर पाते, तथापि वे अनेक प्रतीकों द्वारा उसका निर्देश करने की चेष्टा करते हैं। साधारण लोग ऐसे प्रतीकों का अर्थ नहीं समझ पाते। अतः उन्हें सन्तों की बानियाँ अव्यवस्थित, अर्थहीन, विशृङ्खल प्रतीत होती हैं। कोई-कोई तो उन्हें पागल का प्रलाप समझते हैं। उसी प्रकार, वे सन्तों की चेष्टाओं को भी उन्मत्त-विचेष्टित समझते हैं। यह बात अवश्य है कि अत्यन्त भाव-प्रवण होने के कारण कई सन्तों में अपने प्रियतम की याद दिलानेवाले विषयों को देखकर इतनी संवेदनशीलता बढ़ जाती है कि वे आत्मविस्मृत हो प्रायः घंटों बेहोश रहते हैं। बाहर से देखने पर उनकी स्थिति epilepsy के बीमार की सी दिखलाई पड़ती है। इसी बाह्य साम्य के कारण सम्भवतः कई मनोवैज्ञानिकों ने यह धारणा बना ली हो कि सन्तों के परमानन्दानुभव में जो आत्मविस्मृति की स्थिति होती है, वह मन का एक प्रकार का पागलपन अथवा उसकी विकृत स्थिति

का द्योतक है। किन्तु यदि हम इस बाहरी साम्य की तह में घुसकर पागल और सन्तों के मन के भावों की परीक्षा करें तो हमें अपनी राय बदल देनी होगी।

पागल की मनःस्थिति में यह विशेषता होती है कि किसी विषय को देखकर जो-जो भाव उसके मन में उठते हैं, उनको वह प्रसंग, काल, परिस्थिति का ध्यान न रखते हुए लगातार कहता चला जाता है। इस प्रकार की भावों की एक परम्परा के खतम होने पर, वह पुनः किसी विशिष्ट विषय से उद्दीप्त होकर उसी तरह की भावों की कोई अन्य परम्परा हमारे सामने उपस्थित करता है। ऐसी परम्पराओं में न तो एक दूसरे से कोई सम्बन्ध होता है, और न एक परम्परा के भावों में ही किसी प्रकार की सुसंगति होती है। पागल के लिए यह कहा जा सकता है कि वह जो मन में आया कह देता है। इसी को बकना अथवा प्रलाप कहते हैं।

परन्तु यदि हम सन्तों की वाणियों का अध्ययन करें, तो हमें यह देखकर आश्चर्य होगा कि उनमें भावों की सुसंगति होती है। यह बात अवश्य है, जैसा कि हम ऊपर कह आये हैं, कि सन्त आत्मानन्द में तल्लीन होकर कुछ ऐसे रस का अनुभव करता है, जिसे वह साधारण शब्दों द्वारा व्यक्त नहीं कर पाता। उसे कुछ ऐसे प्रतीकों का सहारा लेना पड़ता है जो उसके भावों की तीव्रता की निकटतम अभिव्यक्ति कर सकते हों। किन्तु यदि हम इन प्रतीकों की अभिव्यंजना का ठीक-ठीक आकलन कर सके, तो

सन्तों की बानियाँ प्रलाप नहीं किन्तु बड़ी ही अर्थपूर्ण और सार-गर्भित प्रतीत होंगी। पुनः सन्त की भावप्रवणता पागल की तरह किसी भी पदार्थ को देखकर उद्दीप्त नहीं होतीं। उसके लिए विशिष्ट विषयों ही की आवश्यकता होती है और ये विषय वे ही होते हैं जिनमें अपने प्रियतम की प्राप्ति के फलस्वरूप आत्मा में समुद्भूत परमानन्द की ओर संकेत करने की अथवा उसकी पूर्वकल्पना देने की शक्ति हो। इससे यह प्रतीत होता है कि सन्त में एक विशिष्ट प्रवृत्ति अथवा मनःस्थिति विद्यमान होती है जो विशिष्ट विषयों द्वारा ही उद्दीप्त होती है। इस प्रकार, हम देखते हैं कि सन्त की उक्तियाँ निरर्थक प्रलाप नहीं हैं। इसके विपरीत वे जीवन की उस विशिष्ट प्रवृत्ति से विनिर्गत हैं, जिसके द्वारा हमारी आत्मा अपने ऐकान्तिक लक्ष्य, अर्थात् परमात्मा, का साक्षात्कार करना चाहती है।[1]

---

[1] इसके सम्बन्ध में बेर्गसों का निम्नांकित कथन ध्यान देने योग्य है:-

"When we grasp that such is the culminating point of the inner evolution of the great mystics, we can but wonder how they could ever have been classed with the mentally diseased. True, we live in a condition of unstable equilibrium; normal health of mind, as, indeed, of body, is not easily defined. Yet there is an exceptional, deep-rooted mental healthiness, which is readily reconizable. It is expressed in a bent for action, the faculty for adapting and readapting oneself to circumstances, in firmness combined with suppleness, in the prophetic discernment of what is possible and what is not, in a spirit

इस बात को और भी विशद करने की आवश्यकता है। हम अपने आप में बाह्य जगत् से सम्बन्धित दो मूल प्रवृत्तियाँ पाते हैं, एक है प्रेय और दूसरी है श्रेय।[२] पहिली प्रवृत्ति द्वारा हमारी आत्मा बिना किसी हिचकिचाहट के बाह्य जगत् द्वारा नियंत्रित होती है। उदाहरणार्थ, जब हम किसी मेले में निकल जाते हैं और अपने सामने असंख्य चमकीली-भड़कीली और आकर्षक वस्तुएँ बिछी हुई पाते हैं, तब हमारा जी उन्हें खरीदने के लिए ललचाने लगता है। हम एक चीज़ खरीदते हैं। हमारी दृष्टि किसी दूसरी वस्तु पर पड़ती है। उसे भी खरीदने को जी चाहता है। इसी तरह हम खरीदते चले जाते हैं, किन्तु हमारा जी नहीं भरता। ऐसा लगता है कि हम सारे बाज़ार को ही खरीद लें। इस प्रकार की वृत्ति प्रायः बच्चों में अधिक देखने में आती है। किन्तु कम या अधिक प्रमाण में यह प्रवृत्ति सभी में होती है। वह अनादि है। इसका कारण यह है कि जब व्यक्ति में उपभोग-लालसा का प्राबल्य होता है, तब वह इसी मधुकर वृत्ति को

---

of simplicity which triumphs over complications, in a word, supreme good sense. Is not this exactly what we find in the......mystics? And might they not provide us with the very definition of intellectual vigour?" (Bergson, *The Two Sources of Morality and Religion*, Eng. tr. p., 194.)

[२] अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेयस्ते उभे नानार्थे पुरुषं सिनीतः ॥ तयोः श्रेय आददानस्य साधु भवति हीयतेऽर्थाद्य उ प्रेयो वृणीते ॥ श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ संपरीत्य विविनक्ति धीरः ॥ श्रेयो हि धीरोऽभिप्रेयसो वृणीते प्रेयो मंदो योगक्षेमौ वृणीते ॥ कठोपनिषद् । १ । २ । १-२ ॥

बतलाता है। जहाँ भी उसको कुछ आकर्षक बात मिली उधर ही वह झुक जाता है। ऐसी अवस्था में उसको अच्छे-बुरे का ध्यान नहीं रहता। जब इस वृत्ति का प्राबल्य होता है तब हममें आत्म-निर्णय की शक्ति नहीं रह जाती। वस्तुतः ऐसी अवस्था में हम बाह्य विषयों द्वारा विनिश्चित होते हैं। संभवतः इसी बात को लेकर कई मनोवैज्ञानिक इस बात को स्वीकार करने से इन्कार करते हैं कि मनुष्य कभी स्वतंत्र इच्छा से कार्य कर सकता है। जिस प्रकार सूर्य के उगते ही पौदों के पत्ते अपना रुख उसकी ओर कर लेते हैं, उसी प्रकार आकर्षक विषय के अवलोकन मात्र से मनुष्य में उसको प्राप्त करने की प्रवृत्ति उत्पन्न होती ही है। इस प्रकार आत्मा स्वतन्त्र नहीं है, किन्तु वह बाह्य जगत् के विषयों द्वारा सदैव विनिश्चित है।

उपर्युक्त कथन यथार्थ होता यदि आत्मा को इसी प्रवृत्ति द्वारा पूर्ण सन्तोष मिलता। किन्तु हम प्रतिदिन और प्रतिक्षण इस बात का अनुभव करते हैं कि प्रेयवस्तु की प्राप्ति से आत्मा को चिर सन्तोष नहीं मिलता—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते॥

प्रेयवस्तु की प्राप्ति से हमें जो सुख मिलता है वह क्षणिक रहता है। ऐसी वस्तु जब तक प्राप्त नहीं होती तब तक तो उसके प्रति हमारी कामना बनी रहती है, किन्तु उसके प्राप्त हो जाने पर वह नष्ट हो जाती है। अतः आगे उससे किसी प्रकार के सुख की प्राप्ति की आशा करना व्यर्थ होता है।

पुनः, उपभोग-लालसा हमें अनवस्था की ओर ले जाती है। आकर्षक वस्तुओं को देखकर हमें यह नहीं समझ में आता कि हमें कितनी वस्तुओं की इच्छा करना ठीक होगा। एक इच्छा के बाद हमें दूसरी इच्छा लुभाती है, फिर तीसरी इस प्रकार अनवस्था तक। इच्छाओं की इस परम्परा में हमें किसी प्रकार के उद्देश्य अथवा हेतुमत्ता का अंतर्भाव दृष्टिगोचर नहीं होता। वस्तुतः प्रेय वस्तुओं की प्रेरणा वह दलदल है जिसमें पड़कर आत्मा क्षण-क्षण नीचे धँसती ही चली जाती है।

हम स्वतंत्र इच्छा के अस्तित्व को अस्वीकार करते यदि आत्मा में प्रेयाभिमुखी प्रवृत्ति के अतिरिक्त और कोई प्रवृत्ति न होती। किन्तु हम देखते हैं कि हमारी आत्मा सदैव प्रेयाभिमुखी ही नहीं रहती। जैसा कि हम ऊपर बतला चुके हैं, उसको बाह्य जगत् के विषयों से उद्भूत क्षणिक सुखों से सन्तोष नहीं होता। कभी-कभी तो ऐसे प्रसंग आते हैं जब कि जिस वस्तु से आत्मा यह समझती है कि उसको सुख मिलेगा, वही अप्राप्य होने के कारण अथवा उसके अननुकूल होने के कारण, अथवा उसके लोप हो जाने के कारण दुःख का कारण बन जाती है। ऐसी अवस्था में आत्मा घोर संकट का अनुभव करती है। उसमें भयंकर उथल-पुथल और विक्षोभ होता है। इसके फलस्वरूप, आत्मा को यह सोचने के लिये विवश होना पड़ता है कि क्या जिन वस्तुओं को वह प्रिय समझ कर चली है वे उसके लिये हितकर अथवा श्रेय-

स्कर हैं या नहीं।[3] वह सोचने लगती है कि आखिरकार बाह्य-जगत् के विषयों का *मतलब* क्या है ?

बाह्य विषयों का मतलब जानने की इच्छा हमें आत्मा की एकदम निराली प्रवृत्ति की ओर ले जाती है। यहाँ आत्मा बाह्य विषयों द्वारा विनिश्चित होने से साफ़ इंकार करती है। जब कोई नया आकर्षक विषय उसके सामने उपस्थित होता है तब वह एक-दम उसकी ओर नहीं झुकती। वह ठहरेगी, और सोचेगी कि क्या इस विषय को प्राप्त करना उसके लिये श्रेयस्कर होगा। जब वह अपनी स्वानुभूति द्वारा विशिष्ट विषय की अच्छाई अथवा उपयुक्तता के विषय में विश्वस्त हो जाती है, तभी वह उस विषय की प्राप्ति की ओर अग्रसर होती है, अन्यथा नहीं। दूसरे शब्दों में, इस प्रवृत्ति में आत्मा समन्वय का केन्द्र बन जाती है। बाह्य जगत् से आत्मा उन्हीं विषयों को चुनती है जो उसके द्वारा प्रस्था-

---

[3] भर्तृहरि ने निम्नांकित श्लोक में इस भाव को बड़ी मार्मिकता से अभिव्यक्त किया है :

यां चिंतयामि सततं मयि सा विरक्ता
साप्यन्यमिच्छति जनो स जनोऽन्यसक्तः।
अस्मत्कृते च परितुष्यति काचिदन्या
धिक् तां च तं च मदनं च इमां च मां च॥

कुछ आगे चलकर भर्तृहरि विषय-सुख की मीमांसा करते हुए बतलाते हैं :

तृषा शुष्यत्यास्ये पिबति सलिलं स्वादु सुरभि
क्षुधार्तः सञ्छालीन्कवलयति शाकादिवलितान्।
प्रदीप्ते रागाग्नौ सुदृढतरमाश्लिष्यति वधूं
प्रतीकारो व्याधेः सुखमिति विपर्यस्यति जनः॥

पित ध्येय अथवा इच्छा के अनुकूल हों। अपने ध्येय के आनुकूल्य के तारतम्य में ही आत्मा बाह्य जगत् के विषयों को कम या अधिक मूल्य प्रदान करती है और उसी तारतम्य में वह उनकी ओर कम या अधिक तीव्रता से आकर्षित होती है। इसी प्रवृत्ति को उपनिषत्कारों ने श्रेयवृत्ति कहा है।

उपर्युक्त प्रवृत्ति में आत्मा की आत्म-निर्णय की शक्ति का परिचय मिलता है। वह बाह्य जगत् को चुनौती देती है कि वह उसे किसी विशिष्ट विषय को स्वीकार करने पर विवश नहीं कर सकता जब तक कि वह उसे स्वयं स्वीकार न कर ले। आत्मा की आत्म-निर्णय की इस प्रवृत्ति से ही मूल्यों की सृष्टि होती है। हम पिछले अध्याय में बतला चुके हैं कि सत्य, सौन्दर्य और शिवत्व का आविर्भाव आत्मा की स्वेच्छा से विशिष्ट ध्येयों की स्थापना द्वारा होता है। साथ ही, हमने यह भी बतलाया है कि सत्य, सौन्दर्य और शिव में आत्मा की आत्म-निर्णायिका प्रवृत्ति का उत्तरोत्तर विकास होता जाता है। सत्य में बाह्य जगत् आत्मा से सामञ्जस्य में आते हुए भी एक विशिष्ट तटस्थता का परिचय देता है। सौन्दर्य और शिवत्व-विषयक व्यावहारिक मूल्यों में आत्मा बाह्य जगत् की तटस्थता अथवा परात्मकता का धीरे-धीरे स्वशक्ति द्वारा निराकरण करती है, और जैसा कि हम ऊपर बतला चुके हैं, यहाँ आत्मा को सत्य की अपेक्षा बाह्य जगत् से सामञ्जस्य का अधिक अनुभव होता है। किन्तु यह सामंजस्य व्यावहारिक मूल्यों में भी सापेक्ष ही रहता है। अभी उसमें ऐकान्ति-

कता नहीं होती। नीति के आदर्श में आत्मा स्वकर्तृत्व द्वारा बाह्य जगत् को स्वेच्छा के निकटतम स्थिति पर लाकर पहुँचाने की चेष्टा करती है। किन्तु इस चेष्टा का कहीं ओर-छोर नहीं मालूम पड़ता। नैतिक व्यक्ति की चेष्टा, यद्यपि ध्येयाभिमुखी होती है, तथापि अन्तहीन होती है।

किन्तु श्रेयप्राप्ति के लिये आत्मा नीति के भी आगे बढ़ती है और धार्मिक मूल्य में अपनी इष्टपूर्ति की चेष्टा करती है। ईश्वर में वह एक ऐसे ध्येय की प्रस्थापना करती है जिसमें उसकी श्रेय-वृत्ति अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाती है। ईश्वर वह ध्येय है जिसमें आत्मा का बाह्य जगत् से सम्पूर्ण सामंजस्य हो जाता है। इस ध्येय को प्राप्त करनेवाला व्यक्ति मानों शान्ति और आनन्द के गम्भीर और असीम सागर में गोता लगाता हुआ अपने आपको पाता है। वह आत्मा के जीवन का सर्वोच्च शिखर है। इस पर आरूढ़ होकर व्यक्ति चराचर से एकाकार हो जाता है। वहाँ उसे कोई स्व और पर नहीं होता। वह सारे बन्धनों के परे, सारे संकटों के परे, निर्द्वन्द्व, निःसंशय और निर्भय हो जाता है। वह अपने आपको सारे जग का बादशाह समझता है।[४]

---

४ "Shaken to its depth by the current, which is about to sweep it forward, the soul ceases to revolve round itself and escapes for a moment from the law which demands that the species and the individual should condition one another. It stops, as though to listen to a voice calling. Then it lets itself go, straightforward. It does not directly perceive the force that moves it, but it feels *an* indefinable

वस्तुत: सन्त आध्यात्मिकता के सर्वोच्च शिखर पर आरूढ़ रहते हैं। यह शिखर आत्मा की श्रेयवृत्ति की पराकाष्ठा है। सन्त परमानन्द स्थिति में जिस पूर्णता का अनुभव करता है, वही ईश्वरीय अनुभव है और वही आत्मा का अन्तिम और ऐकान्तिक लक्ष्य है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण हमें इस बात में मिलता है कि कि समस्त संसार के सन्तों की बानियों में देश, काल, परिस्थिति की विभिन्नता के होते हुए भी तत्त्वत: विलक्षण एकता मिलती है। देश, काल, परिस्थिति आदि परमानन्द की शाब्दिक अभिव्यक्ति में अवश्य विभिन्नता का कारण बन जाते हैं। सूफी सन्त जिन प्रतीकों द्वारा अपने आपको व्यक्त करता है, सम्भवत: वे प्रतीक भारतीय सन्तों की बानियों में न मिलें। किन्तु सूफी सन्त अपने प्रतीकों द्वारा जिस तत्त्व का निर्देश करता है वह तत्त्व भारतीय क्या, कहीं के सन्त की बानी में अचूक रीति से व्यंजित होता

---

presence or divines it through a symbolic vision. Then comes a boundless joy, an all-absorbing ecstacy or an enthralling rapture: God is there, and the soul is in God. Mystery is no more. Problems vanish, darkness is dispelled; everything is flooded with light......Gone, doubtless, is the distance between the thought and the object of the thought, since the problems which measured and indeed constituted gap have disappeared. Gone the radical separation between him who loves and him who is beloved : God is there, and joy is boundless." (Bergson, *The Two Sources of Morality and Religion*, pp. 196–197.)

है।[५] यहाँ विभिन्न देशों के सन्तों की चर्याओं के तुलनात्मक अध्ययन की चेष्टा करना सीमा का अतिक्रमण करना होगा। इसके सम्बन्ध में हमें केवल उन तीन बातों को जान लेना पर्याप्त होगा, जो सन्त-चर्या के मुख्य लक्षण हैं।

(१) प्रत्येक सन्त की चर्या में श्रेयवृत्ति की प्रधानता रहती है। दूसरे शब्दों में, धार्मिक अनुभव में, बाह्य जगत् की परात्मकता का निराकरण हो जाने के कारण, सन्त की आत्मा बाह्य जगत् से मित्रता का अनुभव करती है। इस स्थिति में उसको दृढ़ विश्वास हो जाता है कि आत्मा का जगत् से जो विरोध है वह क्षणिक है। अन्ततोगत्वा, वे दोनों एक हैं। इसी कारण, सन्त प्राय: विश्वबन्धुत्व और विश्वमैत्री का पक्षपाती होता है। उसको फिरकेबाजी अथवा तबकेबाजी रुचिकर नहीं लगती। हजरत मूसा

---

५ "We must first note the fact that mystics generally agree among themselves. This is striking in the case of the Christian mystics. To reach the ultimate identification with God, they go through a series of states. These may vary from mystic to mystic, but there is a strong resemblance between them. In any case, the path followed is the same, even admitting that the stopping-places by the way are at different intervals. They have in any case the same terminal point. In the descriptions of the final state we find the same expressions, the same images, the same comparisons, although the authors were generally unknown to each other." (Bergson, *The Two Sources of Morality and Religion*, p. 211.)

के दस आदेश, खिश्चन धर्म के दया और प्रेम, बुद्ध की करुणा और विश्वमैत्री, भारतीय धर्म के मनु द्वारा निदर्शित दस लक्षण, मुस्लिम धर्म का भाईचारा और एकेश्वरत्व आदि सबमें श्रेयवृत्ति ही की अभिव्यक्ति है।

(२) धार्मिक प्रवृत्ति की दूसरी विशेषता यह है कि सन्त अपने ध्येय को, जैसा कि साधारणतया समझा जाता है, काल्पनिक अथवा अप्राप्य नहीं मानता। किन्तु उसे जीवन की पूर्णता मानकर उसके साक्षात्कार के विषय में सम्पूर्णतया सश्रद्ध रहता है। उसके लिये ईश्वर परमात्मा अर्थात् ससीम आत्मा ही का परिपूर्ण स्वरूप है। ईश्वर की उपलब्धि के बिना आत्मा की श्रेयवृत्ति अधूरी ही रह जाती है। सत्य, सौन्दर्य और शिवत्व में जिस आध्यात्मिक एकता और सामंजस्य का उत्तरोत्तर विकास होता है, उसका अन्तिम लक्ष्य ईश्वर ही है। इस बात में सन्त को यत्किंचित् सन्देह नहीं होता। यही कारण है कि प्रत्येक सन्त में ईश्वर के प्रति भक्ति की बड़ी प्रबल भावना विद्यमान रहती है। हमारे यहाँ भक्ति के जो नौ प्रकार बतलाये गये हैं उनका न्यूनाधिक प्रमाण में सारे सन्तों के जीवन में अंतर्भाव होता है।

यहाँ एक महत्त्वपूर्ण बात की ओर हम ध्यान खींचना चाहते हैं। वह यह कि भक्ति के आलम्बन, अर्थात् ईश्वर, को भक्त सदैव सरूप और सगुण मानता है। अरूप और निर्गुण ईश्वर कदापि भक्ति का आलम्बन नहीं हो सकता। इसका कारण यह है कि ईश्वर आत्मा की श्रेयवृत्ति ही का चरम शिखर है। अतः

ईश्वर में आत्मा के समस्त श्रेयस्कर गुणों का, जैसे ज्ञान, सौन्दर्य प्रेम, दया, करुणा, क्षमा आदि का अस्तित्व अनिवार्य है। इसीलिये, धार्मिक व्यक्ति का उपास्य विषय उपर्युक्त गुणों से संयुक्त कोई तो भी पुरुष ही होता है। जो लोग ईश्वर को निर्गुण मानकर उपासना करते हैं, वे धर्म की भक्ति-विषयक भावना की अवहेलना करते हैं। जो आराध्य ईश्वर भक्त की अन्तर्वेदना से सहानुभूति नहीं रख सकता, वह भक्त को सन्तुष्ट नहीं कर सकता। निरे पत्थर से दिल नहीं लगाया जा सकता।

(३) श्रेयवृत्ति और श्रद्धा के अतिरिक्त धार्मिक वृत्ति में साधना की उत्कटता भी पाई जाती है। चूँकि धर्म आत्मनिश्चय को अपनी चरम सीमा पर पहुँचा देता है, इसलिये भक्त केवल उन्हीं विषयों के प्रति अपनी आसक्ति बतलाता है जो उसकी इष्टपूर्ति के साधन बन सकें। जो विषय इस प्रकार निःश्रेयस के साधन नहीं बन सकते उनका धार्मिक मनुष्य के लिये कोई मूल्य नहीं होता। यही कारण है कि सन्त का जीवन अत्यन्त सरलता लिये हुए होता है। प्रायः हम देखते हैं कि जिन वस्तुओं को अधिकांश मानव बहुमूल्य समझते हैं, सन्त उन्हीं को हेय समझते हैं। धन-दौलत, कुटुम्ब, घर-बार आदि ऐसे विषय हैं जिन पर साधारण मनुष्य प्रायः जान देते हैं। किन्तु सन्त के लिये ये वस्तुएँ तुच्छ और नगण्य होती हैं। कारण यह है कि सन्त का उनसे कोई सीधा वास्ता नहीं होता। साधारण लोग इन्हीं वस्तुओं को अपना ध्येय मानकर चलते हैं। किन्तु सन्त का लक्ष्य तो पार्थिव

जगत् के परे अंतर्जगत् में निहित है। अतः वह इन वस्तुओं के प्रति इतना अनुरक्त नहीं होता।

धर्म के स्वरूप को ठीक-ठीक समझ लेने पर, हम आगे बढ़ते हैं। किन्तु सर्वप्रथम हमें यहाँ एक ग़लतफ़हमी को दूर कर देना आवश्यक है। कई दार्शनिकों ने ईश्वर ही को परम सत्ता माना है। उदाहरणार्थ, भारतवर्ष में वैष्णव अथवा भक्ति-सम्प्रदाय का यह विश्वास है कि परमकारुणिक, सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ, ईश्वर ही ब्रह्म है। उसी प्रकार, वर्तमान समय में मूल्य-दर्शन के प्रायः सभी प्रतिनिधि इसी बात को मानते हैं। ऐसे मूल्य-दार्शनिकों में मुख्य के नाम हैं : रॉइस, विंडेलबांड और म्युन्स्टर्बर्ग। सर्वप्रथम रॉइस का यह विश्वास है कि सत्ता (Absolute) और ईश्वर एक है।[६] म्युन्स्टर्बर्ग के अनुसार यद्यपि दर्शन और धर्म का स्थान हमारे सांस्कृतिक जीवन में बिलकुल अलग है, तथापि अन्ततोगत्वा वे हमें एक ही लक्ष्य की ओर ले जाते हैं। म्युन्स्टर्बर्ग का कथन है :

> "The pious soul finds God in a vague longing toward unity of values; to find this unity of values by

---

[६] इसके सम्बन्ध में Royce की *The World and the Individual*, Vol. I, p. 341 देखिये। अपनी *Conception of God* में रॉइस कहता है:—

"God is known as Thought fulfilled; as Experience absolutely organised, so as to have one ideal unity of meaning as truth transparent to itself : as Life in absolute accordance with idea; a selfhood eternally obtained. And all this the Absolute is in concrete unity, not in mere variety. (pp. 45-46)

a conscious, conceptionally clear, purposive labor is the ultimate of all philosophy. Thus the goal remains a common one, but the way towards it is entirely different.'[७]

निम्नांकित उद्धरण में विंडेलबांड का यही पूर्वग्रह अभिव्यक्त होता है :

"जब तक मनुष्य अपनी विवेक-बुद्धि से अपने आपको सर्वव्यापी, अतीन्द्रिय सत्ता द्वारा विनिश्चित मानता है तब तक वह धार्मिक है। वह बुद्धि में अविष्ठित है और बुद्धि उसमें अधिष्ठित है। धर्म अतीन्द्रिय जीवन है ...."[८]

अब यहाँ इस बात को जान लेना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है कि सत्ता का ईश्वर से तादात्म्य करने की प्रवृत्ति सदोष है। इसका कारण यह है कि धर्म, जैसा कि हमने बतलाया है, हमारे अनुभव के विभिन्न अंगों को एकता में आबद्ध करनेवाला सामन्वयिक तत्त्व (synthetic principle) ढूँढ़ने की चेष्टा करता है। अब प्रत्येक सामन्वयिक तत्त्व इस बात की अपेक्षा करता है कि उसके द्वारा संप्राप्य एकता सरूप और विनिश्चित हो। क्योंकि ऐसी एकता अपने आपको एकदम अलग नहीं रख सकती किन्तु वह उन अवयवों की अपेक्षा रखती है जिनके द्वारा वह अपने आप

---

७ *The Eternal Values*, p. 385.

८ "Insofern der Mensch in seinem Gewissen sich so durch ein Übergreifendes, Transzendentes bestimmt weisz, ist er religiös. Er lebt in der Vernuft und sie in ihm. *Religion ist transzendentes Leben;......*"(*Präludien* 1924 Edn. Vol. II, p. 305)

को अभिव्यक्त करती है। दूसरे शब्दों में, सामन्वयिक तत्त्व *उत्पादक* तत्त्व नहीं हो सकता, क्योंकि वह उन अवयवों को उत्पन्न नहीं कर सकता जिनके द्वारा वह अपने आपको अभिव्यक्त करता है। वह उनका अस्तित्व *मान* कर चलता है। यदि ऐसा है, तो धार्मिक तत्त्व को अवश्य ही सरूप और अचल होना चाहिए।

इसके विपरीत, दर्शन की यह माँग है कि सत्ता-विषयक तत्त्व ऐसा हो जो जग के वस्तुजात का उत्पादक स्रोत हो। ऐसा तत्त्व किसी वस्तु के अस्तित्व को मानकर नहीं, किन्तु वह उसे अपने से *उत्पन्न* अथवा *निर्माण* करता है। पुनः सत्ता की क्रियमाणता इस बात की अपेक्षा करती है कि वह सर्वथा अरूप हो। यदि उसे सरूप मान लिया जाय तो वह जग को उत्पन्न नहीं कर सकती। क्योंकि या तो यदि जग का बहुत्व सत्ता में समाविष्ट है, तो स्वयं सत्ता के लिए कोई स्थान नहीं, अथवा यदि हम यह मानें कि सत्ता में जग का बहुत्व समाविष्ट नहीं है, तो बहुत्व सत्ता से अलग हो जाता है और अतः ऐसी परिस्थिति में जग के बहुत्व का अस्तित्व पहिले ही मान लिया जाता है। उपर्युक्त दोनों मार्ग सत्ता-विषयक तत्त्व के लिए विघातक हैं। अतः यह स्पष्ट है कि दर्शन का सत्ता-विषयक तत्त्व न तो अचल ही हो सकता है और न सरूप, किन्तु वह स्पष्टतया अरूप और सृजनशील है। किन्तु सत्ता-विषयक तत्त्व के लक्षण धर्म के परम तत्त्व, अर्थात् ईश्वर, के लक्षणों से बिलकुल भिन्न हैं। अतः यदि सत्ता और ईश्वर में किसी प्रकार का तादात्म्य किया जाय तो उससे अनेक उलझनें पैदा होने की

सम्भावना है। वस्तुतः विंडेलबांड ने इस प्रकार के विरोध की कल्पना पहिले ही कर ली है। अपने *Das Heilige* नामक निबन्ध में विंडेलबांड का कथन इस प्रकार है:—

"निस्संशय, यहाँ भी पुनः एक तार्किक विरोध (dialectic antinomy) उत्पन्न होता है। जहाँ तक ज्ञान-मीमांसा का सम्बन्ध है, व्यक्तित्व विनिश्चित और ससीम दिया होता है, इतना ही नहीं, अपने आप मे वह इस बात की पराकाष्ठा बतलाता है कि वह आवृत और सीमित हो। "मैं" अपने आपको 'मैं—नहीं' के विरोध में उपस्थित करता है। इस प्रकार, जहाँ तक कि हम सारे ऐकान्तिक मूल्यों में और ध्येयों में कुछ तो भी निर्व्यक्तिक (impersonal) और फलतः अतिवैयक्तिक बात पाते हैं, वहाँ तक जो अनुभवातीत है उसे अतिवैयक्तिक और असीम भी होना चाहिये; और तथापि असीम को व्यक्ति मानना पड़ेगा; इतना ही नहीं, जैसा कि इतिहास बतलाता है, यदि धर्म ईश्वर की सव्यक्तिक कल्पना का परित्याग कर दे तो धार्मिक जीवन को घोर अधःपात का अनुभव होने लगे। ऐकान्तिक व्यक्तित्व की कल्पना से यह सर्वथा हल न होनेवाला विरोध जुड़ा ही रहता है।"[१]

---

[१] "Freilich steckt darin wieder die dialektische antinomie. Persönlichkeit ist erfahrungsmäszig als bestimmt und endlich gegeben, ja sie ist der höchste Typus des in sich Geschlossenen und Begrenzten.. Das Ich, setzt sich nur in der Abgrenzung gegen das Nicht-Ich. An sich müszte also das Über-empirische, das Unendlische auch das Überpersönliche sein, so wie wir in allen absoluten Werten und Normen etwas Unpersönliches und damit Überpersönliches erleben: und doch soll nun das

अपरंच, म्युन्स्टबर्ग भी स्पष्टतया यह स्वीकार करता है कि धर्म और दर्शन के दृष्टिकोणों में सम्पूर्णतया तादात्म्य नहीं हो सकता। म्युन्स्टबर्ग कहता है:—

"It may be pointed out at once that such over-experienceable reality is of course over-personal or impersonal in an entirely different sense from that in which special values were over-personal. It was indeed essential for the truth and the beauty and the good that they represent pure values only if they are equally valid for every possible self. The pure value is necessary and general. However, the detaching of the values from our accidental self meant there no elimination of the relation to individual subjects. On the contrary, the value was value for personalities it was over-personal only in so far as it was valid, not for this or that personality, but necessarily for every thinkable personality. But now our over-experience demands that we think away the relation to individual personality."[१०]

उपर्युक्त उद्धरण साफ़-साफ़ यह बतलाते हैं कि सत्ता-विषयक तत्त्व और ईश्वर, जो कि सर्वोच्च मूल्य है, एक नहीं हो सकते।

Unendliche als persönlichkeit vorgestellt werden; ja, das religiöse Leben gerät, wie die Geschichte unweigerlich zeigt, in hilflose Vertümmerung, wenn es der persönlichen Göttlichen enraten zu können meint. Dieser nie ganz zu lözende Antagonismus steckt in dem Begriffe der absoluten persönlichkeit." (*Präludien*, 1924 Edn. Vol. II. p 313)

[१०] *The Eternal Values*, pp. 395–396.

उपर्युक्त कठिनाई से बचने का उपाय यह है कि सर्वप्रथम सत्ता को ईश्वर से पृथक् कर दिया जाय। दोनों तत्त्वों के केवल पार्थक्य से काम नहीं चल सकता। क्योंकि, दार्शनिक रीत्या, इन दोनों तत्त्वों के अनन्यत्व को तब तक नहीं रोका जा सकता जब तक कि उन दोनों को परस्पर विभिन्न न मान लिया जाय। वास्तव में, यह निष्कर्ष प्रस्तुत ग्रन्थ की आधार-शिला है और सारे रचनात्मक खंड में हमने इस बात को बतलाने का प्रयत्न किया है कि दर्शन का सत्ता-विषयक तत्त्व अरूप है जब कि दूसरे सारे तत्त्व (जिनमें मूल्य के सर्वोच्च तत्त्व, अर्थात् ईश्वर, का भी अन्तर्भाव है) सत्ता की रूप-प्रणयन क्रिया के परिणाम हैं।

किन्तु उपर्युक्त विवेचन से हमें एकदम इस निष्कर्ष पर नहीं पहुँचना चाहिए कि सत्ता और ईश्वर में आत्यंतिक विरोध है अथवा उनका परस्पर कोई सरोकार ही नहीं। इसके विपरीत, नीचे हम यह बतलाने की चेष्टा करेंगे कि इन दोनों में, भिन्नता के होते हुए भी घनिष्ट सम्बन्ध है।

हमने ऊपर यह बतलाया है कि समस्त मूल्यों—यानी सत्य, सुन्दर, शिव और पावित्र्य—का मूल्याधार आत्मा की श्रेयवृत्ति है। दूसरे शब्दों में, जब आत्मा बाह्य जगत् से सामंजस्य का अनुभव करती है तभी विभिन्न मूल्यों की उत्पत्ति होती है। परन्तु अभी तक हमने यह नहीं बतलाया है कि आत्मा बाह्य जगत् से किस प्रकार सामंजस्य प्राप्त करती है, या यों कहिए, जब आत्मा बाह्य जगत् के किसी विषय को मूल्य प्रदान करती है, तब हमें किस प्रकार का

अनुभव होता है ? श्रेय क्या है ? श्रेय की कसौटी क्या है ?—ये हैं वे बुनियादी प्रश्न जिनकी यथार्थ व्याख्या के बिना हमारे जीवन के चिरन्तन मूल्यों की प्रामाणिकता समझ में नहीं आ सकती।

जब हम किसी विषय को सत्य, सुन्दर अथवा शिव कहते हैं, तब उस विषय में कौन-सी विशेषता आ जाती है ? स्थूल रूप से हम यह कह सकते हैं कि उस विषय का हमारे अस्तित्व से सामंजस्य होने के कारण वह हमें सत्य, सुन्दर अथवा शिव प्रतीत होता है। परन्तु फिर भी यह प्रश्न है कि विषय के अस्तित्व से सामंजस्य की क्या पहिचान ? यहाँ हमें बेर्गसों का स्वानुभूति (Intuition) का सिद्धान्त बहुत कुछ सहायता दे सकता है। वह इस प्रकार :

हमने बतलाया है कि सत्ता निरन्तर सृजनशील, प्रवहमान और गतिमान है। अपनी सृजनशीलता के कारण वह, स्वयं अरूप होते हुए, अपने आपको सरूप में व्यक्त करती है। सरूप होने के पश्चात् सत्ता विनिश्चित हो जाती है। किन्तु इस विनिश्चितता में भी सत्ता की आंतरिक सृजनशीलता का जोश कायम रहता है। सत्ता उस अनार के समान है जो आग लग जाने पर अपनी फुलझड़ियाँ तब तक बिखेरता रहता है, जब तक उसके अन्दर की बारूद खत्म न हो। यदि हम अपने अन्दर देखें तो हमें पता चलेगा कि हमारे अन्दर भी एक ऐसा चैतन्य है जो सरूपता की फुलझड़ियाँ बिखेरता जाता है। हमारे मन की समस्त भावनाएँ, विचार, इच्छाएँ यहाँ तक कि हमारे

शरीर की समस्त क्रियाएँ और उनका भौतिक शरीर में उपचय हमारे सत्तात्मक चैतन्य का ही कार्य है।[11]

किन्तु इसके साथ ही एक बात और भी है। हमारे अस्तित्व के सभी अंशों में सृजनशीलता की मात्रा एक जैसी नहीं होती। जो अंश सृजनशील सत्ता के मूलभूत केन्द्र से जितना ही अधिक दूर होगा उतना ही उसमें चैतन्य कम हो जायगा और वह जडवत्

---

[11] वर्तमान मनोविज्ञान, विशेषतः Psychoanalysis और Psychic Research से इस बात की पुष्टि के लिए काफी प्रमाण मिल सकते हैं। प्रायः हमारी यह कल्पना है कि हमारा शरीर भौतिक है और हमारा मन आध्यात्मिक है। और चूँकि भौतिकता और आध्यात्मिकता परस्पर विरोधी हैं, इसलिए हमारे शरीर और मन में भी विरोध होना चाहिए। किन्तु आधुनिक Psycho-therapy (अथवा मनोचिकित्सा) द्वारा वैज्ञानिक शनैः शनैः इस निष्कर्ष पर पहुँच रहे हैं कि मन का और शरीर का बड़ा घनिष्ट सम्बन्ध है। शरीर की कई बीमारियाँ केवल मनको विशेष प्रकार से प्रभावित करने से हट जाती हैं। मैं इस बात में भी विश्वास करता हूँ कि प्रत्येक व्यक्ति का शरीर उसके अन्तरतम अस्तित्व ही की छाया होता है। यह तो हमारे प्रत्यक्ष अनुभव से पता चलता है कि शरीर का आकार, इंगित, गति, चेष्टा, भाषण आदि से किसी व्यक्ति के विषय में हम बहुत कुछ समझ लेते हैं। किसी महात्मा के पास जाकर हमें जिस आध्यात्मिक उठाव का अनुभव होता है, वह अनुभव एक गुण्डे के पास जाकर हमें नहीं मिल सकता। इतना ही नहीं किन्तु यहाँ हममें भय, आशंका, आत्मग्लानि और व्यथा का संचार होता है। इसके अतिरिक्त Psychic Research में कुछ विशिष्ट mediums द्वारा जो materialisation (अर्थात् भावजडीकरण) के प्रत्यक्ष दृश्य दिखलाये जाते हैं उनसे हमारा यह पुराना विश्वास दृढ़ होता जाता है कि शरीर हमारे मन ही की प्रतिच्छाया है।

होने लगेगा। हमारा शरीर जो हमारे अस्तित्व के केन्द्र में प्रवर्तमान सत्तात्मक चैतन्य से सबसे अधिक दूर है, वस्तुतः जडवत् प्रतीत होता है। उसी प्रकार हमारा मन—अर्थात् हमारे विचार, भावनाएँ, इच्छाएँ—जो इस केन्द्र के बिलकुल समीप रहता है, बड़ा चेतन, स्फूर्तिमान् और क्रियाशील होता है।

ज्यों-ज्यों व्यक्ति जन्म के पश्चात् आगे बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों उसमें जडीभूत चैतन्य की मात्रा भी अधिकाधिक बढ़ती जाती है। प्रत्येक क्षण सत्ता नये-नये विचार, नयी-नयी भावनाएँ, नयी-नयी इच्छाएँ उत्पन्न करती है। ये सब धीरे-धीरे सरूप बनने की चेष्टा करते हैं। ज्यों-ज्यों हमारे विचारों में सरूपता की मात्रा बढ़ने लगती है, त्यों-त्यों वे निष्क्रिय बन जाते हैं और हिम-जडित से होकर उसी केन्द्र से लटक जाते हैं। धीरे-धीरे यही जडीभूत विचार और भावनाएँ हमारे अस्तित्व के चैतन्य को, जैसे राख अग्नि को ढँक देती है, उसी प्रकार निष्प्रभ और हतवीर्य कर देती हैं। यही व्यक्ति के वार्धक्य का और अन्ततः उसकी स्वाभाविक मृत्यु का मूल कारण है।

जन्म और मरण के बीच व्यक्ति की आत्मरक्षा-विषयक चेष्टा निरन्तर जारी रहती है। अर्थात् वह अपनी सत्ता की सृजनशीलता को यावच्छक्य प्रयत्न करके जडता से अभिभूत होने से बचाता है। वह प्रायः उन्हीं विषयों को अपनायेगा, उन्हीं चेष्टाओं को पसन्द करेगा जिनके द्वारा उसकी आन्तरिक क्रियाशीलता बनी रहे। जितने भर मूल्य हैं उन सबमें यही प्रवृत्ति, जिसे हमने श्रेयवृत्ति

कहा है, काम करती है। उदाहरणार्थ, सत्य के मूल्य को ही लीजिए, जब हमें रस्सी के स्थान में सर्प का आभास होता है, तब पहिले तो हम सर्प ही को सत्य मानकर चलते हैं; किन्तु जब हमें रस्सी का परिज्ञान हो जाता है, तब हम सर्प के आभास को मिथ्या समझकर रस्सी ही को सर्प मानते हैं। यह कैसे होता है? हम सर्प ही को सत्य मानने के बजाय, रस्सी को क्यों सत्य मानते हैं? जहाँ तक ज्ञान का सम्बन्ध है वहाँ तक सर्प का आभास और रस्सी का ज्ञान दोनों ही एक समान हैं। किन्तु यदि इन दोनों ज्ञानों में कुछ अन्तर है, तो वह आत्मप्रतीति (Intuitive-certainty) का। जब हमें यह मालूम हो जाता है कि हमारे सामने पड़ी हुई वस्तु सर्प नहीं किन्तु रस्सी है, तब हम स्वानुभूति द्वारा यह महसूस करने लगते हैं कि रस्सी के स्थान में सर्प का देखना अपने अस्तित्व को धोखा देना है। रस्सी को रस्सी ही समझकर चलने में हम अपने जीवन को किसी खतरे में पड़ने से अथवा उसमें किसी प्रकार की रुकावट आने देने से बचा सकते हैं। इस रुकावट के न आने से हमारा अस्तित्व सृजनशील और गतिमान रहता है। किन्तु यह तभी साध्य है जबकि हममें कोई ऐसी शक्ति हो जो हमें रस्सी ही से सामञ्जस्य का अनुभव दे सके, उसके सर्प-रूपी अध्यास से नहीं।

वस्तुओं का अपने अस्तित्व से आंतरिक सहानुभूति द्वारा सामंजस्य का अनुभव करने के उदाहरण हमें मनुष्य में ही नहीं किन्तु निम्नकोटि के प्राणियों में बहुत मिलते हैं। बेर्गसों ने अपने

Creative Evolution में कई उदाहरण बतलाकर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि निर्बुद्ध जीवों में भी अतिशय सूक्ष्म सहानुभूति द्वारा अपने आस-पास की वस्तुओं में से कौन-सी अपने लिये हितकर और कौन-सी हानिप्रद यह जानने की शक्ति पाई जाती है।[१२] इसी को बेर्गसों स्वानुभूति (Intuition) कहता है। स्वानुभूति की उत्पत्ति हमारी सहजवृत्तियों (Instincts) से होती है। सहजवृत्ति अपने विषय के प्रति एक प्रकार की आंतरिक सहानुभूति है। इस सहानुभूति द्वारा हम विशिष्ट विषय में सर्वात्मना प्रवेश करके यह महसूस कर लेते हैं कि क्या वह विषय हमारे अस्तित्व के लिये श्रेयस्कर होगा अथवा नहीं। बेर्गसों ने यह स्पष्टतया बतलाया है कि स्वानुभूति बुद्धि से भिन्न है। बुद्धि हमें वस्तु के बहिरंग अथवा जडता ही तक सीमित रखती है। वह हमें वस्तु के आस-पास घुमाकर हमें उसके सैकड़ों दृश्य बता सकती है। किन्तु वह उस वस्तु के अन्तरंग तक नहीं पहुँचा सकती। वस्तु के अन्तरंग का बोध कराने की शक्ति केवल स्वानुभूति ही में है। इसके सम्बन्ध में बेर्गसों का निम्न उद्धरण मननीय है :

> "Instinct is sympathy. If this sympathy could extend its object and also reflect upon itself, it would give us the key to vital operations—just as intelligence, developed and disciplined, guides us into matter. For —we cannot too often repeat it—intelligence and

---

[१२] *Creative Evolution*, Eng. tr. पृष्ठ १८०-१८३ देखिये।

instinct are turned in opposite directions, the former towards inert matter, the latter towards life. Intelligence, by means of science, which is its work, will deliver up to us more and more completely the secret of physical operations; of life it brings us and moreover only claims to bring us, a translation in terms of inertia. It goes all round life, taking from outside the greatest possible number of views of it, drawing it into itself instead of entering into it. But it is to the very inwardness of life that *intuition* leads us,—by intuition I mean instinct that has become disinterested, self-conscious, capable of reflecting upon its object and of enlarging it indefinitely."[१३]

स्वानुभूति के उदाहरण हमें अपने जीवन में विशेषतः उस समय मिलते हैं जब हमें अपने सामने के दो अथवा तीन समान-रूप से महत्त्वपूर्ण प्रतीत होनेवाले मार्गों में से किसी एक को चुनना होता है। ऐसी अवस्था में, हम बहुत काल तक प्रत्येक मार्ग के लाभ और हानियों पर विचार करते हैं। इतना होने पर भी हमें किसी विशिष्ट मार्ग को स्वीकार कर लेने का धैर्य नहीं होता। किन्तु अचानक किसी दिन सुबह उठते ही अथवा किसी अन्य समय हमको एकदम यह महसूस होने लगता है कि उन दो अथवा तीन मार्गों में से एक विशिष्ट मार्ग ही श्रेयस्कर है, अन्य नहीं। बस एकदम हम अन्य मार्गों के प्रलोभनों को अपसारित करके उसी मार्ग की ओर अग्रसर होते हैं। बड़े-बड़े महात्माओं

---

[१३] *Creative Evolution*, p. 186.

की जीवनियों में ऐसे प्रसंग प्रायः कई बार घटित होते हुए देखने में आये हैं। भगवान् बुद्ध को बोधिवृक्ष के तले जो प्रकाश मिला था वह स्वानुभूतिजन्य बोध था। उसी प्रकार हज़रत मूसा, ईसा-मसीह, रामकृष्ण परमहंस, वर्तमान समय में महात्मा गांधी आदि को जो "आंतरिक आह्वान" होते हैं, वे सब अपनी विशिष्ट परि-स्थिति से स्वानुभूति द्वारा सामंजस्य प्राप्त करने के परिणाम-स्वरूप उद्भूत होते हैं। ऐसे अनुभव केवल संतों के जीवन तक ही सीमित नहीं हैं। वस्तुतः मूल्य-विषयक दृष्टिकोण लेने पर, हमें ऐसे अनु-भव प्रायः मिलते हैं। उदाहरणार्थ, न्यूटन जैसे वैज्ञानिकों और सत्यान्वेषकों के जीवन में कई बार ऐसी स्फूर्तियों का आना बत-लाया गया है। अत्यन्त परिश्रम करने पर भी जब विशिष्ट प्रमेयों द्वारा ऐसे सत्यान्वेषक किसी निष्कर्ष पर पहुँचने में असमर्थ हो जाते हैं, तब संयोगवश किसी दिन उनमें ऐसी नयी दृष्टि उत्पन्न होती है जो उनकी समस्याओं का एकदम अन्त कर देती है और अनुभव की सारी अव्यवस्था को एकदम व्यवस्थित कर देती है। उसी प्रकार, कलाकार और कर्मयोगी भी प्रायः इसी स्फूर्ति द्वारा ऐसे काम करते हैं जो साधारण स्थिति में अत्यन्त दुष्कर होते हैं।

वस्तुतः स्वानुभूति हमारे सत्ताविषयक चैतन्य ही का धर्म है। इसके द्वारा यह चैतन्य विशिष्ट परिस्थितियों में अपना सामंजस्य प्राप्त करके अपने ओज और सृजनशीलता की रक्षा और निर्वाह करता है। स्वानुभूति ही से हमारे जीवन की समस्त मंगलमूलक और कल्याणमयी भावनाओं की उत्पत्ति और विकास होता है।

परन्तु इस प्रकार की स्वानुभूति का आविर्भाव हमारे जीवन में अत्यन्त "कठिन प्रयास" से ही होता है। इसका कारण यह है कि हम अपने जीवन की बहुत-सी आवश्यकताओं को साधारणतया अपनी बुद्धि द्वारा ही पूरी कर लेते हैं। ऐसे कचित् प्रसंग आते हैं जब हम अपने को ऐसी उलझन में गिरफ्त पाते हैं, जहाँ बुद्धि हतवीर्य हो जाती है। किसी वस्तु की छानबीन करके बुद्धि हमें ठीक-ठीक यह बतला देती है कि उस वस्तु का अन्य वस्तुओं से क्या सम्बन्ध है। विज्ञान की क्रिया में बौद्धिक पद्धति का बहुत अच्छा नमूना मिलता है। व्यावहारिक जीवन का बहुत-सा काम इस बौद्धिक पद्धति द्वारा चल जाता है। परन्तु हमें वस्तुओं की छानबीन से ही हमेशा सन्तोष नहीं होता। हम वस्तुओं को उनकी एकता और अविभाज्यता में भी देखना चाहते हैं। किन्तु जब हम वस्तुओं के विश्लिष्ट अवयवों से उनकी आंतरिक एकता का पुनर्निर्माण करना चाहते हैं, तब बुद्धि का वश नहीं चलता। ऐसी अवस्था में हमें स्वानुभूति ही का आश्रय लेना पड़ता है। इस शक्ति द्वारा हम वस्तुओं के अंतस्तल में प्रवेश करते हैं और उनको एक सरूप पूर्णता में व्यवस्थित करते हैं।[१४]

---

[१४] बेर्गसों ने इस बात को निम्नांकित उद्धरण में बड़ी अच्छी तरह समझाया है:—

"In reality, life is a movement, materiality is the inverse movement, and each of these two movements is simple, the matter which forms a world being an undivided flux, and undivided also the life that runs

अब स्वानुभूति की पूर्णता सर्वत्र एक ही तरह व्यापक और दृढ़ नहीं होती। वैज्ञानिक के अन्वेषण में स्वानुभूति द्वारा जो

---

through it, cutting out in it living beings all along its track. Of these two currents the second runs counter to the first, but the first obtains, all the same, something from the second. There results between them, a *modus vivendi*, which is organization. This organization takes, for our senses and for our intellect, the form of parts entirely external to other parts in space and in time. Not only do we shut our eyes to the unity of the impulse which, passing through generations, links individuals with individuals, species with species, and makes of the whole series of the living one single immense wave flowing over matter, but each individual itself seems to us as an aggregate, aggregate of molecules and aggregate of facts. The reason of this lies in the structure of our intellect, which is formed to act on matter from without, and which succeeds by making, in the flux of the real, instantaneous cuts, each of which becomes, in its fixity, endlessly decomposable. Let us try to see, no longer with the eyes of the intellect alone, which grasps only the already made and which looks from the outside, but with the spirit, I mean with that faculty of seeing which is immanent in the faculty of acting and which springs up, somehow, by the twisting of the will on itself, when action is turned into knowledge, like, heat so to say, into light. To movement, then, everything will be resolved. Where the understanding, working on the image supposed to be fixed of the progressing action, shows us parts infinitely manifold and an order

समन्वय उपलब्ध होता है, वह उस समन्वय की अपेक्षा अधिक बाह्यता लिये हुए होता है जो कि कवि अपनी किसी उत्कृष्ट कलाकृति द्वारा उपस्थित करता है। कर्मयोगी का कार्य कलाकृतियों की अपेक्षाकृत जीवन के और भी सन्निकट होता है। परन्तु धार्मिक अनुभव में तो हम अपने अस्तित्व के मूलस्रोत से ही समरस हो जाते हैं। फलतः उसमें किसी भी प्रकार की बाह्यता की सम्भावना नहीं रह जाती।

अब ज्यों-ज्यों हम निचले मूल्यों से उच्च मूल्यों की ओर बढ़ते जाते हैं, त्यों-त्यों हममें साधना की भी अधिकाधिक आवश्यकता होती है। क्योंकि जब तक हम अपने अस्तित्व के जडीभूत बाह्य-स्तरों को नहीं फोड़ देते, तब तक अन्तस्तर की उपलब्धि नहीं हो सकती। परन्तु इन बाह्यस्तरों को फोड़ना आसान नहीं है। वे पत्थर के समान ही जड और कठिन होते हैं। अतः निरन्तर साधना द्वारा और भगीरथ प्रयास करने के पश्चात् ही अस्तित्व की बाह्य जडता का निराकरण करके, हम शनैः-शनैः अन्दर के चैतन्य-मय कोषों की सृजनशीलता से समरस होते हैं।

चूँकि धार्मिक अनुभव ही हमें अपने अस्तित्व के अन्तरतम

---

infinitely well contrived, we catch a glimpse of a simple process, an action which is making itself across an action of the same kind which is unmaking itself, like the fiery path torn by the last rocket of a fireworks display through the black cinders of the spent rockets that are falling dead." (*Creative Evolution*, pp. 263–264.)

स्तर तक पहुँचा सकता है, अतः उसके स्वरूप पर अधिक प्रकाश डालना अत्यन्त आवश्यक है।

धर्म के विषय में प्रायः हमारी साधारण धारणा सदोष होती है। हम विशिष्ट रूढ़ियों, संस्कारों और आचारों के समुच्चय ही को धर्म समझ बैठते हैं। किन्तु यह वास्तविक धर्म नहीं है। बेर्गसों ने अपनी *The Two Sources of Morality and Religion* में यह बतलाया है कि धर्म के दो विभिन्न स्रोत होते हैं: एक है बुद्धि और दूसरा है स्वानुभूति। बुद्धि द्वारा दिये गये धर्म को बेर्गसों Static Religion (अचल धर्म) कहता है और स्वानुभूति के द्वारा हम जिस धर्म को प्राप्त करते हैं उसे वह Dynamic Religion (प्रगमनशील धर्म) कहता है। इन दोनों के मुख्य अन्तर को बेर्गसों ने निम्नांकित उद्धरण में स्पष्ट किया है :

"We believe that, to get at the very essence of religion and understand the history of mankind, one must needs pass at once from the static and outer religion......to that dynamic, inner religion......The first was designed to ward off the dangers to which intelligence might expose man; it was infra-intellectual. Let us add that it was natural, for the human species marks a certain stage in the vital evolution : it was here that at a given moment the forward movement stopped; man was then posited as a whole, with therefore, his intelligence, with the dangers this intelligence might involve, with the myth-making function designed to cope with them; magic and elementary animism, it

all appeared as an unbroken whole, it all corresponded exactly to the needs of the individual and of society, the one and the other limited in their ambitions, such as nature intended them. Later, and by an effort which might easily never have been made, man wrenched himself free from this motion of his on nhis own axis. He plunged anew into the current of evolution, at the same time carrying it forward. Here was dynamic religion, coupled doubtless with higher intellectuality, but distinct from it."[१५]

बेर्गसाँ के अनुसार बुद्धि हमें बाह्य जगत् ही तक सीमित रखती है। इसी को बेर्गसाँ यह कहकर व्यक्त करता है कि बुद्धि जड जगत् में आराम से रहती है। वह सत्ता को बाहर से देखती है। वह हमें एक वस्तु से दूसरी वस्तु की ओर और फिर तीसरी वस्तु की ओर ले जाती है और इस प्रकार अनवस्था तक। अब बुद्धि द्वारा हम जिस वस्तु की ओर प्रेरित किये जाते हैं, उससे हमारा सम्पूर्ण समाधान नहीं होता। क्योंकि हमारी प्रेरणा वस्तु के बाह्याकर्षण से परिस्फूर्त रहती है। जहाँ तक वस्तु अपने विशिष्ट गुण द्वारा हमारे ध्यान को खींचे रहती है, तब तक तो हम उसके पुजारी रहते हैं। किन्तु ज्यों ही यह आकर्षण कम हुआ त्यों ही हम उससे विमुख हो किसी दूसरी वस्तु की ओर आकृष्ट हो जाते हैं। बिलकुल आदिम अवस्था में जो धर्म का स्वरूप हमें मिलता है उसका मुख्य आधार बुद्धि मानी जा सकती है। वस्तुतः बहु-ईश्वरवाद में हम प्रकृति के विभिन्न अंगों को देश-काल-परिस्थिति के

---

[१५] *The Two Sources of Morality and Religion*, p. 158.

अनुसार महत्त्व देते हैं। वैदिक धर्म के वरुण, इन्द्र, अग्नि, उषा, आदि को देवता मानना हमारी धार्मिक प्रवृत्ति में बुद्धि के प्राधान्य ही का परिणाम है। बुद्धि के द्वारा ही हम विभिन्न देवताओं का निर्माण करके यज्ञ-यागादि द्वारा उनकी पूजाविधि की प्रणालियों की भी स्थापना करते हैं। ऐसे धर्म को अचल धर्म कहते हैं।

अब, इस अचल धर्म में हमारी भक्ति व्यभिचारिणी होती है। इसका कारण यह है कि बुद्धि द्वारा हम प्रकृति के जिस विशिष्ट अंग को विशिष्ट परिस्थिति में विशेष महत्त्व का समझते हैं उसी को हम महेश्वर मानकर पूजा करने लग जाते हैं। परिस्थिति के बदलने पर हम किसी दूसरे ईश्वर के स्तुति-स्तोत्र गाने लगते हैं। इसी प्रवृत्ति को मैक्स म्यूलर ने Henotheism कहा है।

ज्यों-ज्यों हमारी प्रकृति-उपासना की प्रवृत्ति बढ़ती जाती है, त्यों-त्यों हमारे देवों की संख्या में भी बाढ़ आ जाती है। तब मन में यह प्रश्न उठने लगता है कि इन असंख्यक देवों में से हमें किसकी उपासना करना अभीष्ट है। सम्भवतः इसी भावना से प्रवृत्त होकर, वैदिक ऋषियों ने इस सूक्त का प्रणयन किया होगा :

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे
भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स जायतोऽन्यानत्यरिच्यत्
कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ आदि

जब मनुष्य यह प्रश्न करता है, तब वह प्रकृति से अपनी वृत्ति को खींचकर, शनैः-शनैः अन्तर्मुख होने लगता है। वह एक

देवता के बाद दूसरे देवता की खुशामद करना पसन्द नहीं करता। इससे उसकी कठिनाई और भी बढ़ती है। वह अपने जीवन के जिन कष्टों को दूर करने के लिये ऐसे देवताओं की उपासना करता है, वे उनसे निवारण नहीं किये जा सकते। क्योंकि अन्ततः प्रकृति जड ही तो है। वह हमारी सुखदुःखमयी कोमल भावनाओं का किस प्रकार आदर कर सकती है? अतः मनुष्य को स्वाभाविक रूप से अपने दुःखों का अन्त करनेवाले तत्त्व-विशेष का अन्वेषण अपने अन्तर्जगत् में करने के लिये विवश होना पड़ता है।[१६]

---

[१६] "The gradual evolution of religion towards gods of increasingly marked personality, who are more and more definitely inter-related or who tend to become merged into a single deity, correspond to the first of the two great advances of humantity towards civilization. It went on until the day when the religious spirit turned from the static to the dynamic, by a change of front similar to that performed by pure intelligence when it passed over from the study of finite magnitudes to the differential calculus. This last change was doubtless the decisive one : transformations of the individual become possible, like those that have produced the successive species in the organized world; progress could thenceforth consist in the creation of new qualities, and not as previously in a mere increase in size; instead of merely taking what life had to give, just where it was, at the point reached, the vital movement was now going to be carried forward. We shall deal with this religion, an entirely

परन्तु मनुष्य को अंतर्जगत् में प्रवेश करते ही निःश्रेयसाधिगम नहीं हो पाता। यहाँ भी उसे विविध प्रकार की वृत्तियों का सामना करना पड़ता है। कभी वह ज्ञान द्वारा सर्वोच्च श्रेय को प्राप्त करने की चेष्टा करता है, कभी भावना द्वारा तो कभी कर्म द्वारा। किंतु, जैसा कि हम पिछले अध्याय में बतला चुके हैं, मन की इन विभिन्न वृत्तियों द्वारा उनके पार्थक्य में जिस श्रेय की हमें उपलब्धि होती है, वह हमारी आत्मा को सर्वथा संतुष्ट नहीं कर पाती। अपने पार्थक्य में, न ज्ञानमार्ग, न भक्तिमार्ग और न कर्ममार्ग ही एकान्तरूप से श्रेयस्कर हो सकता है। इसका कारण यह है कि इन विविध मार्गों में समस्त जीवन की बाह्य जगत् से एकता नहीं हो पाती। यह अवश्य है कि सत्य से सौंदर्य में आत्मा को अधिक संतोष मिलता है और उससे भी अधिक शिव में। परन्तु इतना होते हुए भी इनमें से किसी में भी आत्मा का बाह्य जगत् से सर्वांशेन सामंजस्य नहीं हो पाता।

अपनी धार्मिक प्रवृत्ति में मनुष्य बाह्य जगत् से अपने समस्त अस्तित्व के सामंजस्य की ओर अग्रसर होता है। यहाँ वह उसी श्रेयवृत्ति का अनुसरण करता है जो सत्य, सुन्दर और शिव में

---

inward one, in the.........We shall see that it sustains man by the very movement it imparts to him, placing him, as it does, back in the creative impetus, and not as hitherto through imaginative representations intended to reconcile in him the activity of the parts with the immobility of the whole." (Bergson, *The Two Sources of Morality and Religion*, p. 151.

व्यक्त होती है। किंतु धार्मिक वृत्ति द्वारा श्रेयवृत्ति का अनुभव करने के लिए मनुष्य को बड़ी कठिन साधना की आवश्यकता होती है। इसका कारण यह है कि साधारणतया व्यक्ति के जीवन का वह अंश, जो निरंतर सृजनशील, स्फूर्तिमय और चेतन है, अपनी ही सरूप अभिव्यक्तियों के भार से, जिस प्रकार अग्नि राख से ढका रहता है उसी प्रकार, आक्रान्त रहता है। इसीलिए जब तक हम समस्त सरूप अभिव्यक्तियों से अपना ध्यान खींचकर उसे स्वानुभूति द्वारा केवल अपने अस्तित्व के सृजनशील ज्योतिर्मय चैतन्य पर ही केन्द्रित न कर दें, तब तक हमें ईश्वरीय स्थिति का साक्षात्कार नहीं हो सकता। बेर्गसों का कथन है :

> "In our eyes, the ultimate end of mysticism is the establishment of contact, consequently of a partial coincidence, with the creative effort of which life is the manifestation. This effort is of God, if not God himself. The great mystic is to be conceived as an individual being, capable of transcending the limitations imposed on the species by its material nature, thus continuing and extending the divine action. Such is our definition."[१७]

उपर्युक्त उद्धरण से यह आसानी से समझ में आ सकता है कि हमारी आत्मा का बाह्य जगत् से तब तक सम्पूर्ण तादात्म्य नहीं हो सकता जब तक हम अपने आपको अपने व्यक्तित्व के केन्द्र में—वहाँ जहाँ हमारा सत्तात्मक चैतन्य अपनी सृजनशीलता

---

[१७] *The Two Sources of Morality and Religion*, p. 188.

द्वारा हमारे अंतर्जगत् का निर्माण करता है—नहीं रख देते। इस चैतन्य का साक्षात्कार होने के पश्चात् हम अपने जीवन को अभिभूत करनेवाली शक्तियों के ऊपर उठ जाते हैं। सत्ता के मूल स्रोत तक पहुँच जाने के कारण, हम अपने आपमें अनंत शक्ति का, ज्योतिर्मय ज्ञान का और अमित आनन्द का अनुभव करते हैं। यही वास्तविक ईश्वरीय स्थिति है। इस स्थिति को प्राप्त कर लेने पर 'नर का नारायण' हो जाता है। ऐसे पुरुष ही हमें तम से ज्योति की ओर ले जा सकते हैं :

"Let a mystic genius but appear, he will draw after him a humanity already vastly grown in body, and whose soul he has transfigured. He will yearn to make of it a new species, or rather deliver it from the necessity of being a species; for every species means a collective halt, and complete existence is mobility in individuality. The great breath of life which swept our planet had carried organization as far along as nature, alike docile and recalcitrant, permitted. Nature—let us repeat it—is the name we give to the totality of compliances and resistances which life encounters in raw matter—a totality which we treat, just as the biologist does, *as though* intentions could be attributed to it. A body compact of creative intelligence, and, round about that intelligence, a fringe of intuition, was the most complete thing nature had found it possible to produce. Such was the human body. There the evolution of life stopped.

But now intelligence, raising the construction of instruments to a degree of complexity and perfection which nature (so incapable of mechanical construction) had not even foreseen, pouring into these machines reserves of energy which nature (so heedless of economy) had never even thought of, has endowed us with powers beside which those of our body barely count: they will be altogether limitless when science is able to liberate the force which is enclosed, or rather condensed, in the slightest particle of ponderable matter. The material barrier then has well nigh vanished. To-morrow the way will be clear, in the very direction of the breath which had carried life to the point where it had to stop. Let once the summons of the hero come, we shall not all follow it, but we shall all feel that we ought to, and we shall see the path before us, which will become a highway if we pass along."[१८]

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो गया होगा कि ईश्वरीय स्थिति तभी सम्भव है जब कि हम अपनी आत्मा को सत्तात्मक चैतन्य में रख देते हैं। आत्मा और सत्ता तत्त्वतः विभिन्न होते हुए भी, उनके संयोग द्वारा ही मानवता के सर्वोच्च पुरुषार्थ की सिद्धि हो सकती है। सत्ता ही समस्त श्रेयवृत्ति की कसौटी है। इस सत्ता से ज्यों-ज्यों हम दूर हटते जाते हैं, त्यों-त्यों हममें

---

[१८] *The Two Sources of Morality and Religion*, pp.269-270

एकांगिता, संकुचित वृत्ति आदि आ जाती हैं जो समस्त पाप और दुःखों के कारण हैं। किंतु ज्यों ही हम अपनी आत्मा को अखंड ज्योतिर्मय सत्तात्मक चैतन्य से संयुक्त कर देते हैं, त्यों ही हमारा जीवन प्रकाशमय, आनन्दमय और सर्वैश्वर्यमय हो जाता है।

उपसंहार

प्रस्तुत ग्रन्थ के आलोचनात्मक खंड में हमने उस ग़लती को प्रकाश में लाने की चेष्टा की है जो आधुनिक दर्शन में अराजकता की जननी है। यह ग़लती है दर्शन का ज्ञान-मीमांसा एवं कर्म-मीमांसा से तादात्म्य करना। हमने यह बतलाया है कि इस त्रुटि की उत्पत्ति लॉक के दर्शन से होती है। लॉक ने अपने *Essay* को स्पष्टतया इस उद्देश्य से लिखना प्रारम्भ किया था कि उसके द्वारा वह हमारे ज्ञान की उत्पत्ति, विस्तार और प्रामाणिकता की मीमांसा दे सके। इस ग्रन्थ के पूर्वार्ध में, लॉक का तत्त्वज्ञान-विषयक दृष्टि-कोण सर्वथा निर्दोष था। क्योंकि अपनी प्रधान और गौणगुण-विषयक एवं जडाधिष्ठान-विषयक कल्पनाओं में लॉक ने तत्त्वज्ञान को ज्ञान-मीमांसा से अलग माना था। किन्तु उसी ग्रन्थ के उत्तरार्ध में, लॉक के दृष्टिकोण में अकस्मात् परिवर्तन हो जाता है। अनु-भववाद के मूल-तत्त्व के अनुसार, लॉक शनैः-शनैः यह मानने लगा कि जो ज्ञानगम्य है वही सत् है। हम ऐसी वस्तु की सत्ता के विषय में विश्वास नहीं रख सकते जो ज्ञान की सीमा के परे हो। अतः अज्ञेय सत्ता हमारे लिये असत्-सी है। लॉक के इस युक्तिवाद ने ज्ञान-मीमांसा के एकाधिपत्य के लिये रास्ता साफ़ कर दिया। क्योंकि यदि सत्ता ज्ञान की समवर्त्तिनी है तो यह स्पष्ट है कि तत्त्वज्ञान ज्ञान की कक्षा के अन्तर्गत ही रह सकता है।

दूसरे शब्दों में, तत्त्वज्ञान ज्ञान-मीमांसा का आश्रित और उससे एकात्म हो जाता है।

तत्त्वज्ञान की ज्ञान-मीमांसा से एकात्मता न केवल अनुभववाद ही में दृष्टिगोचर होती है किन्तु वह कांट के आलोचनात्मक दर्शन में भी मिलती है। वस्तुतः, बर्कले ने अपने *Esse est percipi* के सिद्धान्त द्वारा तत्त्वज्ञान को ज्ञान-मीमांसा की शरण जाने पर विवश किया था। उसी प्रकार कांट की आलोचनात्मक विधि तत्त्वज्ञान-रूपी प्रमाथी की ताक़त को न सँभाल सकी। क्योंकि बर्कले और कांट के दर्शनों में तत्त्वज्ञान ने क्रमशः ईश्वर-विषयक एवं स्वयं-वस्तु-विषयक सिद्धान्तों द्वारा अपने आपको मुक्त करके ज्ञान-मीमांसा से पृथक् अपना अस्तित्व व्यक्त किया। जहाँ तत्त्वज्ञान को अपना स्वतन्त्र अस्तित्व बतलाने का अवसर नहीं मिला, वहीं उसने तत्त्व-चिन्ता में शंकावाद का विष फैला दिया। यह बात ह्यूम के दर्शन में स्पष्टरूप से दृष्टिगोचर होती है।

हमने यह भी बतलाया है कि दार्शनिकों ने तत्त्वज्ञान का कर्म-मीमांसा से तादात्म्य करने की ओर भी अपनी प्रवृत्ति बतलाई है। इस त्रुटि की उत्पत्ति सर्व-प्रथम कांट की *कर्म-बुद्धि की मीमांसा* से होती है। जब *शुद्ध-बुद्धि की मीमांसा* में कांट तत्त्वज्ञान का ज्ञान-मीमांसा से तादात्म्य नहीं कर सका, तब उसने अपने नीति-विषयक ग्रन्थों में उसका कर्म-मीमांसा से तादात्म्य करने की चेष्टा की। फिश्टे ने भी अपने दर्शन में आत्मा की क्रियाशीलता को

अत्यधिक महत्त्व देकर कर्म-मीमांसात्मक दर्शन के लिये रास्ता साफ़ कर दिया। यह प्रवृत्ति शोपेनहार के दर्शन में (जिसमें अन्धेच्छा को जग का सर्वोच्च तत्त्व माना गया है) अपनी पराकाष्ठा को पहुँच जाती है। इतःपर तत्त्व-चिन्ता का रुख कर्म-मीमांसात्मक हो गया। वस्तुतः अभिनव-स्वातन्त्र्यवाद का सारा का सारा आन्दोलन तत्त्वज्ञान को कर्ममीमांसा का आश्रित बनाने का परिणाम है। इस विचार-धारा के प्रायः सभी प्रतिनिधि इस बात में विश्वास करते हैं कि सत्ता का आविर्भाव आत्मा की क्रियाशीलता में होता है, जिसमें भावना और इच्छा दोनों का समावेश होता है। वे इस बात को मानने में भी सहमत हैं कि बुद्धि का महत्त्व केवल व्यावहारिक (Pragmatic) है, न कि वास्तविक (real)।

हमने यह भी बतलाने की चेष्टा की है कि तत्त्वज्ञान का ज्ञान-मीमांसा से तादात्म्य करने का तरीका ग़लत है। क्योंकि वह हमें एकांगिता की ओर ले जाता है। यह इस बात से सिद्ध होता है कि अभिनव-स्वातंत्र्यवाद की प्रायः सभी प्रणालियाँ सत्य के सारे पक्षों का समन्वय नहीं कर पातीं। उदाहरणार्थ, मूल्य-दर्शन में Sollen और Sein का द्वैत है; बेर्गसों के दर्शन में जीवन और जड़ता का विरोध ज्यों का त्यों बना हुआ है; उपयोगितावाद भी बहुत्ववाद और रचनात्मकतावाद का आश्रय लेकर सत्ता का संतोषजनक दर्शन कराने में अपनी असमर्थता बतलाता है।

यह हुई आलोचनात्मक खंड की बात।

रचनात्मक खंड के विषय में हमें यहाँ यह कह देना होगा कि

वह केवल उन्हीं निष्कर्षों का समन्वय है जिन पर आलोचनात्मक खंड ने हमें पहुँचाया है। आलोचनात्मक खंड का निष्कर्ष यह है कि तत्त्वज्ञान का न तो ज्ञानमीमांसा से और न कर्ममीमांसा से तादात्म्य किया जा सकता है। क्योंकि यह तरीका ग़लत और एकांगी हुए बग़ैर रह नहीं सकता। इसका कारण यह है कि यदि आत्मा के सैद्धान्तिक पक्ष को सत्ता का मूलाधार मान लिया जाय तो उसके व्यावहारिक पक्ष की ओर दुर्लक्ष्य किया जाता है; उसी प्रकार व्यावहारिक पक्ष की ओर ध्यान देने से सैद्धान्तिक पक्ष का महत्त्व घट जाता है। सत्ता के उपर्युक्त एकांगी दृष्टिकोणों से बचने का एकमात्र उपाय हमारी राय में यह है कि तत्त्वज्ञान को दर्शन का सर्वोच्च तंत्र बनाया जाय और ज्ञानमीमांसा एवं कर्म-मीमांसा तत्त्वज्ञान के आश्रित तंत्र माने जायँ। अर्थात् प्रचलित पद्धति के अनुसार दर्शन को ज्ञानतंत्र अथवा कर्मतंत्र न बनाते हुए 'आत्म-तंत्र' बनाया जाय।

उपर्युक्त विचार को कार्यान्वित करना तभी सम्भव है जब कि हम निम्नांकित शर्तों को पूरा करते हैं: प्रथमतः सत्ता-विषयक तत्त्व अरूप हो। कारण, ज्ञान-मीमांसा और कर्म-मीमांसा का सम्बन्ध, जैसा कि स्पष्ट है, सरूप से है। अब प्रश्न है: क्या सरूप का उत्पादक तत्त्व भी सरूप हो सकता है? इस प्रश्न का उत्तर हमने निषेधात्मक दिया है। इसके मुख्य कारण ये हैं: एक सरूप वस्तु दूसरी सरूप वस्तु को दो प्रकार से उत्पन्न कर सकती है। प्रथमतः कारण कार्य को उत्पन्न करने में अपने आपको सर्वथा नष्ट कर दे अथवा दूसरे, यदि कारण और कार्य सहवर्तमान हो तो वे दो

सरूप वस्तुएँ, जिनके बीच कारण-कार्य-सम्बन्ध विद्यमान है, एक दूसरे से बाहर हों। उपर्युक्त दोनों प्रकार परब्रह्म और जगत् के बीच के सम्बन्ध का सन्तोषजनक हल नहीं दे सकते। क्योंकि यदि परब्रह्म जग को उत्पन्न करने में अपने आपको सर्वथा नष्ट कर देता है, तो वह असत् जैसा ही है। पुनः यदि परब्रह्म जगत् को प्रतिक्रिया द्वारा उत्पन्न करता है, तो ऐसी अवस्था में हमें उस जगत् के अस्तित्व को मानकर चलना होगा जिसकी उत्पत्ति परब्रह्म से होनी चाहिये। अतः निष्कर्ष यह है कि परब्रह्म सरूप नहीं हो सकता, किन्तु उसे स्पष्टरूप से अरूप होना चाहिये।

दूसरे, परब्रह्म अचल नहीं हो सकता, किन्तु उसे सृजनशील होना चाहिये। प्राचीन और अर्वाचीन कालीन मुख्य दार्शनिक प्रणालियों (जैसे, वेदान्त, स्पिनोझा, हेगेल और बेर्गसों) की समीक्षा के पश्चात् हमने इस बात की प्रामाणिकता को बतलाने का प्रयत्न किया है। इन भव्य दार्शनिक प्रणालियों की कमजोरी इस बात में है कि उन्होंने परम तत्त्व को अचल माना है। इस दोष को दूर करने का एकमात्र उपाय यह हो सकता है कि सत्ता-विषयक तत्त्व को "रूप-प्रणयन" की शक्ति से सम्पन्न माना जाय। क्योंकि रूप-प्रणयन का तत्त्व ही परब्रह्म और जगत् के सम्बन्ध-विषयक समस्या को ठीक-ठीक सुलझा सकता है।

प्रस्तुत पुस्तक में उल्लिखित दृष्टिकोण से जो लाभ हैं वे भी बिलकुल स्पष्ट हैं। प्रथमतः उसके द्वारा हम तत्त्व-ज्ञान को ज्ञान-मीमांसा और कर्म-मीमांसा से अलग रख सकते हैं। इससे ज्ञान-मीमांसा और कर्म-मीमांसा दोनों की स्वतन्त्रता को कायम

रखते हुए, उन्हें तत्त्व-ज्ञान के आधारभूत तन्त्र के अधीन बनाया जा सकता है। अब इनमें से कोई भी तन्त्र एक दूसरे के विरोध में उपस्थित नहीं हो सकता। क्योंकि ज्ञान-मीमांसा और कर्म-मीमांसा दोनों समान रूप से महत्त्वपूर्ण हैं और सत्ता-विषयक तत्त्व की रूप-प्रणयन क्रिया के आवश्यक एवं अनिवार्य रूप हैं। पुनः सृजनशील सत्ता की कल्पना से जगत् के सम्बन्ध में अद्यावधि किये गये मिथ्यात्व के आरोप का निरसन हो जाता है। जगत् को मिथ्या मानने का मुख्य कारण, जैसा कि हमने रचनात्मक खण्ड में बतलाया है, परब्रह्म का अचलत्व था। इस धारणा के कारण दार्शनिकों को परब्रह्म से जग की उत्पत्ति की व्याख्या, करना बड़ा दुष्कर कार्य हो गया था। अतः उन्होंने इस समस्या को हल करने के लिये यह उपाय सोचा कि जग को मिथ्या मान कर, परब्रह्म पारमार्थिक सत्ता से उपन्यस्त किया जाय। किन्तु, अब समस्त जग को उसकी सरूपता में देखा जा सकता है। अब कभी भी मिथ्यात्व की सम्भावना नहीं; क्योंकि रूप-प्रणयन की क्रिया का परब्रह्म से अविच्छेद्य सम्बन्ध है। फलतः एक की सत्ता के साथ दूसरे की सत्ता निगडित है। अपरंच, दर्शन पर से भी सत्ता को अचल मानने की सदियों पुरानी परम्परागत रूढ़ि का जबर्दस्त भार उठ जाता है। और इस दुःखद भार के हट जाने से दर्शन अब आसानी से अपना रास्ता ढूँढ़ सकता है और वह अब उन ग़लतियों में पड़ने से भी बच सकता है जिनके द्वारा उसकी प्रगति में इतनी बाधा उत्पन्न हुई थी।

सूची